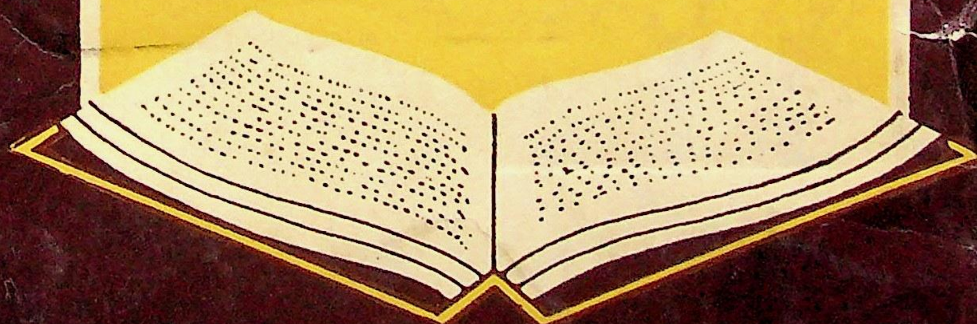
५२४

चाँद का मुँह टेढ़ा है



अ प्र
अशोक प्रकाशन
नई सड़क, दिल्ली-६

चाँद का मुँह टेढ़ा है की टीका

[मुक्तिबोध रचित 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की समीक्षा एवं व्याख्या]

नवीन संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण

लेखक

प्रो. राजेश शर्मा

एम. ए.

प्रो. सुरेश अग्रवाल

एम. ए.

प्रकाशक

अशोक प्रकाशन

नई सड़क दिल्ली-6

नोट–दिल्ली विश्वविद्यालय में अंधेरे में, ब्रह्मराक्षस, मुझे कदम कदम पर, भूल ग़लती कविताएँ नियत हैं।

हिमाचल विश्वविद्यालय में अंधेरे में, जब प्रश्न चिन्ह बौखला उठे कविताएँ नियत है।

गुरुनानक विश्वविद्यालय में ब्रह्मराक्षस, दिमागी गुहान्धकार का ओरॉंगउटॉंग, अंधेरे, कविताएँ नियत हैं।

एम. डी. विश्वविद्यालय में भूल ग़लती, मुझे कदम कदम पर , लकड़ी का बना रावण, ब्रह्मराक्षस कविताएँ नियत हैं।

प्रकाशक : अशोक प्रकाशन, 2615, नई सड़क दिल्ली-6 / फोन : 3262976

मूल्य : Rs 35.00
मुद्रक : [illegible] प्रेस, दिल्ली-6
चांद का मुँह टेढ़ा है की टीका : प्रो. राजेश शर्मा / प्रो. सुरेश अग्रवाल

अपनी ओर से

स्वर्गीय गजानन माधव मुक्तिबोध नई कविता के प्रमुख अभिभावकों में से एक माने जाते हैं। उनकी कविताएँ अपनी समग्रता में एक मूर्तिकार या चित्रकार की भव्य कलाकृतियाँ मानी जाती हैं। उनकी कविता का प्रत्येक शब्द एक प्रतीक है कि जो अपने भीतर एक सुविस्तृत विम्व छिपाए रहा करता है। अत्यधिक प्रतीकात्मकता और बिम्ब-विधान के कारण उनकी कविता सामान्य तो क्या सुलझे हुए पाठकों के लिए भी दुर्बोध्य मानी जाती है–पर तभी तक, जब तक कि उसमें अन्तर्हित कवि की मानसिकता के साथ परिचित नहीं हो लिया जाता।

प्रस्तुत रचनायें हमने पहले विभिन्न दृष्टियों से अपने पाठकों को कवि की मानसिकता से परिचित करने का प्रयत्न किया है, तत्पश्चात् उसकी कविताओं की व्याख्या की है। इससे निश्चय ही उच्च परीक्षाओं की तैयारी के लिए मुक्ति बोध का अध्ययन करने वाले छात्रों को अध्ययन में सब प्रकार की सुविधा प्राप्त होगी। इसी आशा और विश्वास के आलोक में हमारा यह प्रयास पुस्तक जागरूक पाठकों के हाथों समर्पित है।

प्रकाशक

विषय-सूची

आलोचना भाग

व्याख्या भाग

१. मुक्तिबोध और उनका काव्य

प्रश्न १–मुक्तिबोध का काव्य अत्यधिक यथार्थवादी और एकदम आधुनिक है। इस कथन के औचित्य की परीक्षा कीजिए।

कुछ ऐसे भी व्यक्तित्व एवं महान व्यक्तित्व हुआ करते हैं कि जिनका उचित समय और उचित ढंग से मूल्यांकन नहीं हो पाता। इस या उस तथाकथित कारण से वे उपेक्षित बने रहते हैं। गजानन माधव मुक्तिबोध और उनका कृतित्व भी इसी श्रेणीं में आता है। हर्ष का विषय है कि अब उनके विवेचन-विश्लेषण और पठ्न-पाठन की ओर ध्यान दिया जाने लगा है। वस्तुतः मुक्तिबोध की कविताओं का एक स्वतंत्र अस्तित्व है और यह अत्यन्त खेद की बात है कि मुक्तिबोध हमारे समकालीन थे और इसीलिए उनकी चर्चा करते समय और उनके कृतित्व का मूल्यांकन करते समय हम उनके व्यक्तित्व और उनके आर्थिक स्तर के पूर्वग्रहों से दूषित हो जाते हैं और उनकी कविता के जनहितवादी पक्ष को हीन, टूटा हुआ मान बैठते हैं।

जीवन और व्यक्तित्व–मुक्तिबोध का पूरा नाम है गजानन माधव मुक्तिबोध है। ये ऋग्वेदी कुलकर्णी ब्राह्मण थे और इनके किसी पूर्वज ने 'मुग्धबोध' या 'मुक्तिबोध' नाम का कोई आध्यात्मिक ग्रन्थ सम्भवतः खिलजी-काल में लिखा था। कालान्तर में इसी पर वंश का नाम चलने लगा। इस पूरे नाम में कवि का शुद्ध और वास्तविक नाम गजानन है और माधव मुक्तिबोध इनके पिता का नाम है जो परम्परा से जुड़ा करता है। गजानन का जन्म १३ नवम्बर, १६१७ को श्योंपुर (ग्वालियर) में हुआ और उनकी आरम्भिक शिक्षा उज्जैन में हुई। कवि का अपना व्यक्तित्व कुछ इस प्रकार का था कि वह रात के सन्नाटे, रहस्य, अंधकार, घुमक्कड़पन आदि से विशेष आकर्षित था। जंगल में घूमते रहने का भी कवि को शौक था। अपनी पुस्तक 'एक साहित्यिक की डायरी' में मुक्तिबोध ने लिखा है–"आज से कोई बीस साल पहले की बात है, मेरा मित्र केशव और मैं दोनों जंगल में घूमने जाया करते थे। जब हम हाई स्कूल में थे, केशव मुझे निर्जन अरण्य प्रदेश में ले जाता, हम भर्तृहरि की गुहा, मछिन्दरनाथ की समाधि आदि निर्जन किन्तु पवित्र स्थानों में जाते। मंगलनाथ के पास शिप्रा नदी बहुत गहरी, प्रचंड, मंथर और श्यामनील थी। उसके किनारे-किनारे हम नए-नए भौगोलिक प्रदेशों का अनुसंधान करते।" मुक्तिबोध का एक और सहपाठी था शांताराम। वह गश्त की ड्यूटी पर तैनात हो गया था। मुक्तिबोध रात के समय उसके साथ शहर की घुमक्कड़ी को निकल जाते। रात का सन्नाटा, पुलिस की सीटियाँ, गश्त, सर्वत्र एक रहस्य का वातावरण। और मुक्तिबोध सम्भवतः इसमें से कुछ प्राप्त करते थे। उनके काव्य का कोई भी प्रबुद्ध अध्येता इस बात को आसानी से पकड़ लेता था, इसका आभास उनकी कई कविताओं से सहज ही हो जाता है।

मुक्तिबोध के पिता पुलिस में सब इंस्पैक्टर थे। उनकी बराबर बदली होती रहती थी अतः कवि की पढ़ाई का क्रम भी बनता-टूटता रहा। घर में विपन्नता भी थी। फिर भी जैसे-तैसे कवि ने सन् १६३८ में इन्दौर के होलकर कॉलेज से बी० ए० किया और वे उज्जैन के मॉडर्न स्कूल में अध्यापक बन गए। किन्तु इनके जीवन की विपन्नता ने इनका साथ नहीं छोड़ा। जीवित रहने के कई लिये काम-धन्धे किए। अनेक जगह अध्यापकी की, सम्पादन-कार्य किया किन्तु यथार्थ सदैव मुंह बाए आगे खड़ा मिला। बाद में मित्रों के परामर्श से मुक्तिबोध ने सन् १६५४ में एम०

ए० किया ताकि कहीं प्राध्यापकी मिल सके। राजनाँद गाँव के दिग्विजय कालेज में अन्ततः उन्हें नौकरी मिल गई और उनकी परिस्थिति में किन्चित सुधार हुआ।

७ फरवरी, १६६४ को मुक्तिबोध पर पक्षाघात का आक्रमण हुआ। क्षय के साथ-साथ मस्तिष्क-शोथ (मेनिंजाइटिस) का रोग बढ़ता गया। पूरे सात माह तक यह अदम्य साहसी महाकवि इस रोग से युद्ध करता रहा और ११ सितम्बर, १६६४ को मृत्यु की गोद में सदा के लिए सो गया।

मुक्तिबोध के व्यक्तिगत जीवन को देखते हुए यह बात बड़ी आसानी से कही जा सकती है कि उनका व्यक्तित्व सदैव उन्मुक्त रहा। घोर श्रमरत होते हुए भी वे निर्द्वन्द्व रहे। इसका आभास कवि द्वारा स्वयं लिखित 'तारसप्तक' के 'जीवन-तथ्य' की इन पंक्तियों में मिल सकता है—

"मालवे के एक औद्योगिक केन्द्र में जिसमें बड़े शहरों के गुणों को छोड़कर उसकी सब विशेषताएँ हैं, यह बंदा रोज जिन्दा रहता है। नियमानुकूल बारह बजे दोपहर स्कूल जाता है; लौटती बार अपने पैरों से अपनी सिगरेट पर ज्यादा भरोसा रखता हुआ घर की ओर चल पड़ता है। साँझ सात बजे पानवाले की दुकान पर नित्य मिलता है। उज्जैन के फ्रीगंज में कहीं भी इस व्यक्ति को मटरगश्ती करते हुए आप पा सकते हैं।"

मुक्तिबोध अब तक जिन्दा नहीं है—लेकिन उसका यह जीवन-तथ्य इस बात को भी प्रकाशित करता है कि उसके स्वभाव की उन्मुक्तता तो उनके काव्य में है—लेकिन वह निर्द्वन्द्व भाव नहीं देखने को मिलता। उसमें तो द्वन्द्व ही द्वन्द्व है—कुछ भी सपाट और सीधा नहीं है। शायद इसी सत्य का प्रकाशन मुक्तिबोध ने अपनी एक कविता "दिमागी गुहांधकार का औराँग-उटाँग" में किया है—

स्वप्न के भीतर एक स्वप्न,
विचारधारा के भीतर और
एक अन्य
सघन विचारधारा प्रच्छन्न ! !
कथ्य के भीतर एक अनुरोधी
विरुद्ध विपरीत
नेपथ्य… संगीत ! !
मस्तिष्क के भीतर एक मस्तिष्क
उसके भी अन्दर एक और कक्ष
कक्ष के भीतर
एक गुप्त प्रकोष्ठ और
कोठे के साँवले गुहांधलार में
मजबूत…सन्दूक
दृढ़, भारी-भरकम
और उस संदूक भीतर कोई बंद है
यक्ष
या कि औराँग उटाँग हाय
अरे ! डर है
न औरांग… उटाँग कहीं छूट जाए,
कहीं प्रत्यक्ष न यक्ष हो।

मतलब कि मुक्तिबोध का काव्य पर्तों की दुनिया है—जो इन पर्तों को धीरे-धीरे खोलने में समर्थ होगा, वही इनके काव्य का सच्चा मर्मज्ञ होगा। उसे खोले बिना मुक्तिबोध और उसके काव्यत्व

को पाना नितान्त असम्भव है। द्वन्द्व के भीतर भी द्वन्द्व—यह मुक्तिबोध के काव्य-रहस्य का मूल मंत्र है। उनकी प्रत्येक कविता में द्वन्द्व से परिपुष्ट एक घटना-चक्र की व्यंजना मिलेगी। हरिनारायण व्यास के शब्दों में—"देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी आदि ने ऐयारी और जासूसी उपन्यासों में घटना-चक्रों का संकलन करते समय यह कभी नहीं सोचा होगा कि उनके परवर्ती प्रवाह में एक व्यक्तित्व इन कुतूहल और विस्मयपूर्ण घटना चक्रों को अपनी कविता का अंग बनाकर उनको एक नई व्यंजना देगा, नया सामाजिक अर्थ प्रदान करेगा।" यह बात बिल्कुल ठीक है।

यद्यपि मुक्तिबोध की साहित्यिक गतिविधियों का क्षेत्र बहुत ही सीमित रहा किन्तु अपने समय में ऐसा अधिक प्रभावकारी क्षेत्र दूसरा था भी नहीं। उज्जैन में मुक्तिबोध का परिचय प्रभाकर माचवे से हुआ। माचवे उन दिनों उज्जैन के माधव कॉलेज में प्राध्यापक थे और मुक्तिबोध वहीं के मॉडर्न स्कूल में अध्यापक। डॉ० माचवे ने उन दिनों की अपनी याद में लिखा है—

"माधव कालेज के सामने की पनवाड़ी की दूकान पर 'विप्लव' (यशपाल, लखनऊ वालों का मासिक पत्र) बिकने लगा था।… हमारी बहस गांधी और मार्क्स को लेकर होती। 'संघर्ष' पाक्षिक (आचार्य नरेन्द्र देव द्वारा सम्पादित) के २६ जनवरी ४० के अंक में मेरी 'गाँधी और मार्क्स' नाम की ३०० पंक्तियों की कविता छपी थी, और मुक्तिबोध मेरी आध्यात्मिक शब्दावली का खासा मजाक उड़ाया करते थे।…मुक्तिबोध रवीन्द्रनाथ को मूल में पढ़कर अभिभूत हुए थे। हमारी कई संध्याएँ लम्बी-लम्बी तार्किक बहसों में बीती थीं।"

मुक्तिबोध का कार्यक्षेत्र ग्वालियर, उज्जैन, शुजालपुर, बनारस और जबलपुर तक फैला रहा और इनके परिचय का क्षेत्र डॉ० प्रभाकर माचवे नेमिचन्द्र जैन और श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त से बाहर नहीं बढ़ सका कम-से-कम इतने घनिष्ठ रूप में। शमशेर बहादुर सिंह के शब्दों में, "ये …बुद्धिवादी…जब बहस में जुट जाते तो समय जैसे रुक जाता था। दस-दस, बारह-बारह घण्टे बहसें चलती। बहस के दौरान मुक्तिबोध सब-कुछ भूल जाते थे।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का अध्ययन मुक्तिबोध ने भली प्रकार किया था। और वे अपने पूरे प्राणपण से प्रत्येक स्थिति को स्वीकार करते थे। यद्यपि कविता के अन्दर इस मार्क्सवादी दृष्टिकोण को लाना अपने आप में एक बहुत कठिन काम था किन्तु इतने पर भी इस बात को बहुत अच्छी जाँचा जा सकता है कि प्रयोगवादियों में मार्क्सवादी दृष्टि-बोध को लाने का सर्वाधिक श्रेय मुक्तिबोध को ही जाता है। अपने इस झुकाव के कारण ही मुक्तिबोध ने उज्जैन में मध्यभारत प्रगतिशील लेखक संघ बुनियादी डाली थी और इसके विशेष आयोजनों में भाषण आदि देने के लिये वे बाहर से डॉ० रामविलास शर्मा जैसे प्रगतिशील कवियों एवं साहित्यिक विचारकों को बुलाते रहते थे। इस दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति उनके काव्य में यत्र-तत्र हुई है। देखिए—

तेरे हाथ में भी रोग-कृमि हैं उग्र
तेरा नाश तुझ पर क्रुद्ध, मुझ पर व्यग्र।
मेरी ज्वाल, जन की ज्वाल होकर एक
अपनी उष्णता से धो चलें अविवेक
तू है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ
तेरा ध्वंस केवल एक तेरा अर्थ। (पूंजीवादी समाज के प्रति)

गद्य साहित्य के साधारण विवेचनों में भी उन्होंने अपनी यह बात अनेक स्थलों पर कही है। 'कामायनी: एक पुनर्विचार' इसका सीधा और प्रत्यक्ष उदाहरण है। इस पुस्तक में मुक्तिबोध ने जयशंकर प्रसाद के रत्न, स्वर्ग आदि प्रतीकों को लेकर उन्हें बुर्ज्वाजी का अन्तिम मुमूर्षु कवि कहा है। हम इस बात से सहमत हों या न हों—यह एक अलग बात है, पर ऐसा साहस मुक्तिबोध ही कर सकते थे और उन्होंने ही स्यात् पहली और अन्तिम बार अभी तक खुलकर किया भी है।

मुक्तिबोध 'कामायनीः एक पुनर्विचार' में 'कामायनी' को पूँजीवादी साहित्य का अंतिम ध्वंस बताते हैं।

किन्तु जैसा स्पष्ट है; यह सब कहने का एक कारण है। स्वयं मुक्तिबोध के अनुसार, ''क्रमशः मेरा झुकाव मार्क्सवाद की ओर हुआ। अधिक वैज्ञानिक, अधिक मूर्त और अधिक तेजस्वी दृष्टिकोण मुझे प्राप्त हुआ।''

कुल मिला कर मुक्तिबोध आधुनिक, बल्कि नई हिन्दी-कविता के सशक्ततम कवियों में से हैं और कहना होगा कि उनका काव्य-सृष्टि का उत्तुंग शिखर है। होनहार व्यक्ति अधिक नहीं जिता—यह सच है, किन्तु अपने थोड़े से जीवन में भी वह इतना कुछ दे जाता है जो शाश्वत महत्त्व का होता है—मुक्तिबोध के बाद में यह ही सच है।

काव्य—यूँ तो मुक्तिबोध की अनेक कृतियाँ—'कामायनीः एक पुनर्विचार (आलोचना), 'नई कविता का आत्म संघर्ष' (आलोचना), 'एक साहित्यिक की डायरी' (साहित्य और अपने जीवन के सम्बन्ध में स्फुट विचार), 'काठ सपना' (कहानी-संग्रह), 'चांद का मुंह टेढ़ा है' (कविता-संकलन) आदि—प्रकाशित हो चुकी हैं, किन्तु हम इस संदर्भ में उनकी काव्य-कृतियों पर ही चर्चा करेंगे। इस सम्बन्ध में हम 'तार-सप्तक' और 'चाँद का मुंह टेढ़ा है' को लेंगे।

१. **तारसप्तक**–'तार सप्तक' का प्रकाशन सन् १९४३ में हुआ था। इसके संपादक अज्ञेय थे और इसके सात कवियों में से एक थे गजानन माधव मुक्तिबोध। कवि की आयु उस समय कोई २६ वर्ष की थी और वह धीरे-धीरे नये खेमे के कवियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करता जा रहा था। किन्तु स्वयं वह अपने जीवन में नितान्त उपेक्षित, संत्रस्त और मानसिक रूप से द्वन्द्वग्रस्त भी अधिकाधिक होता जा रहा था। इस विषय में मुक्तिबोध ने 'तारसप्तक' के जीवन तथ्य में लिखा है—

''उन दिनों भी एक मानसिक संघर्ष था··मेरे बाल मन की पहली भूख सौंदर्य, और दूसरी विश्व-मानव का सुख-दुःख—इन दोनों का संघर्ष मेरे साहित्यिक जीवन की पहली उलझन थी। इसका स्पष्ट वैज्ञानिक समाधान मुझे किसी से न मिला। परिणाम था कि इन अनेक आन्तरिक द्वन्द्वों के कारण एक ही काव्य-विषय नहीं रह सका। जीवन के एक ही बाजू को लेकर मैं कोई सर्वाश्लेषी दर्शन की मीनार न खड़ी कर सका।'' आगे चलकर कवि फिर कहता है, ''यहाँ यह स्वीकार करने में मुझे संकोच नहीं कि मेरी हर विकास-स्थिति में मुझे घोर असन्तोष रहा है, और है। मानसिक द्वन्द्व मेरे व्यक्तित्व में बद्धमूल है। यह मैं निकटता से अनुभव करता आ रहा हूँ। जिस भी क्षेत्र में मैं हूं वह स्वयं अपूर्ण है, और उसका ठीक-ठीक प्रकटीकरण भी नहीं ही रहा है। फलतः गुप्त अशान्ति मन के अन्दर घर किये रहती है।''

शमशेर बहादुर सिंह के अनुसार, ''१९४३ में जब यह ऐतिहासिक संग्रह प्रकाशित हुआ उसने एक लम्बे विवाद को जन्म दिया जो किसी-न-किसी संदर्भ या अर्थ में अब भी जारी है। इस संग्रह में मुक्तिबोध का योग उस समय सबसे प्रौढ़ चाहे न हो मगर शायद सबसे मौलिक था। दुरुह होते हुए बौद्धिक, बौद्धिक होते हुए भी रोमानी।''

'तार सप्तक' में कवि की सतरह कविताएँ संकलित हैं। ये हैं—'आत्मा के मित्र मेरे', 'दूर तारा', 'खोल आँखें', 'अशक्त', 'मेरे अंतर', 'मृत्यु और कवि', 'नूतन अहं', 'विहार', 'पूँजीवादी समाज के प्रति', 'नाश देवता', 'सृजन-क्षण', 'अंतदर्शन', 'आत्म-संवाद', 'व्यक्तित्व और खण्डहर', 'मैं उनका ही होता', 'हे महान्', और 'एक आत्म-वक्तव्य'। प्रायः इन सभी कविताओं को देखने के पश्चात् एक बात अनायास ही स्पष्ट हो जाती है। वह यह कि इस कवि की काव्य-चेतना का विकास नवीन खेमे के कवियों में प्रायः सभी से पृथक् और विलक्षण रहा है—बिल्कुल कवि के अपने व्यक्तित्व ही के समान। इस संग्रह की एक कविता 'दूर तारा' इसी सत्य की ओर इंगित कर रही है। देखिए—

वे नापने वाले लिखे उसके उदय औ' अस्त की गाथा,
सदा ही ग्रहण का विवरण।
किंतु वह तो चला जाता
व्योम का राही,
भले ही दृष्टि के बाहर रहे–उसका विपथ ही
वना जाता।

काव्य-विषय की अनिश्चितता के संबंध में भी जिसका उल्लेख कवि की आत्माभिव्यक्तियों में मिलता है, इस संकलन की एक कविता में इस प्रकार अभिव्यक्ति हुई हैं–

हम लिखें क़विता विरह पर, दुःख पर
या मधुर आराधना पर, युद्ध पर;
या रचें विज्ञान जीवन के बने–
प्रश्नमय जो अंग सन्तत कुद्ध पर ?
X X X
खींच लें हम चित्र जीवन में बहे
रम्य मिश्रित रंग-धारा के नवल,
चकित हो लें, उतलसित हो लें कभी
दुःख ढो लें, तत्व-चिंता कर सकता।
X X X
किंतु यह सब तो सतह की चीज हैं,
भार वन मेरे हृदय पर छा रही (अशक्त)

मुक्तिबोध के स्वयं के वक्तव्यों द्वारा हम कुछ ही पहले आपको यह बतला आए हैं कि कवि ने अभी किसी क्षेत्र को जय कर पकड़ा नहीं है। परिस्थितियों की भार एवं उसके बन गई मानसिकता ने उन्हें एक जगह टिकने लायक शायद छोड़ा ही नहीं ! फलतः इन कविताओं से यह भी व्यंजित हो जाता है कि गुप्त अशांति ने कवि के मन के अंदर घर किया हुआ है और वह उससे मुक्ति प्राप्त करने (काव्य के सही संदर्भों में उसे अभिव्यक्त करने) के लिए छटपटा रहा है। किंतु जैसा कि यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि कवि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के प्रति आकर्षित हुआ था और इसकी काव्य-परिणति में संतोष का अनुभव करने लगा था, अतः ऐसी परिपक्व दृष्टि को भी कुछ कविताएँ इस संग्रह में मिलती हैं। 'पूँजीवादी समाज के प्रति' इस संग्रह की एक ऐसी कविता है जिसमें कवि ने इस प्रकार की व्यवस्था के लिए कहा है–

तू है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ
तेरा ध्वंस केवल एक तेरा अर्थ।

'मृत्यु और कवि' इस संग्रह की सशक्तम् कविता है, जिसमें हमें कवि के आगामी काव्य में व्याप्त संत्रास, असुरक्षा, भय आदि तत्वों का दर्शन होने लग जाता है–

घनी रात, बादल रिमझिम हैं, दिशा मूक निस्तब्ध, वनांतर,
व्यापक अंधकार में सिकुड़ी सोयी नर की बस्ती, भयंकर
है निस्तब्ध गगन, रोती-सी सरिता धार चली घहराती,
जीवन लीला को समाप्त कर मरण-सेज पर है कोई नर।

अपने स्वभाद, व्यक्तित्व, और जीवन-तथ्य की बहुत ही स्पष्ट अभिव्यक्ति कवि ने अपनी एक कविता 'मेरे अंतर' में की है–

मेरे अंतर, मेरे जीवन के सरल यान,

तू जब से चला, रहा वेघर,
तन गृह में हो, पर मन बाहर,
आलोक-तिमिर, सरिता-पर्वत कर रहा पार !
वह सहज उठा ले चला सुदृढ़ तपते जीवन का महा ज्वार,
उसके द्रुतगति प्रति पदक्षेप से झंकृत से उठ रहा गान,
जो नव्य तेज का भव्य भान।
घर की स्नेहल-कोमल छाया में रहा महा चंचल अधीर।
वे मृदुल थपकियाँ स्नेह-भरी,
वे शशि-मुस्कानें शुभंकरी,
सबको पाया, सबको झेला पर स्वयं अकेला बढ़ा धीर।
जीवन-तम को संगीत-मधुर करता उर-सारिका वन्य नीर,
ऐसा प्रमत जिसका शरीर, उमित्त प्राण-मन विगत पीर।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'तार सप्तक' में संकलित मुक्तिबोध की कविताओं में आत्मद्वन्द्व-विद्रोह, उलझाव, लक्ष्यान्वेषण, संत्रास और भय आदि के वे सारे तत्व प्राप्त हो जाते हैं जो मुक्तिबोध के काव्य में आगे चलकर एक व्यापकता पा सके हैं। शिल्प की दृष्टि से अभी इन कविताओं में परिष्कृति सर्वथा नहीं है किंतु सहज ही यह विश्वास भी जग जाता है कि कवि इस क्षेत्र में भी कुछ नए प्रयोग करना चाहता है और निश्चय ही, हमारी यह आशा भी उनकी आगामी रचनाओं में फलवती होती है।

२. **चाँद का मुँह टेढ़ा है**–यह काव्य-संकलन कवि के मरण के उपरान्त प्रकाशित हो सका। कविताओं का संकलन श्रीकांत वर्मा ने किया है। वे लिखते हैं–"मुक्तिबोध अगर स्वस्थ होते तो पता नहीं अपनी कविताओं के संकलन किस प्रकार करते। शायद उन्होंने अपनी कविताएँ अधिक विवेक और परख के साथ चुनी होतीं क्योंकि इन तमाम आत्मपरक कवियों के कवि मुक्तिबोध न केवल दूसरों के प्रति बल्कि खुद अपने प्रति एक सही और तटस्थ दृष्टि रखते थे और, दूसरों से या अपनों से उन्हें जो भी मोह रखा हो, अपने से मोह उन्हें कभी नहीं रहा। अपने प्रति यह निर्मोह उनकी इन कविता के कई प्रारूप हैं।"

इस संग्रह में मुक्तिबोध की २८ कविताओं को संकलित किया गया है और अधिकांश कविताएँ ५४-६४ के बीच की लिखी हुई हैं। अधिकतर कविताएँ बहुत लम्बी हैं और मानो अपने साथ पूरा कथानक लेकर चलती है। उदाहरणार्थ 'अंधेरे में' एक ऐसी ही कविता है जो पूरे पचास पृष्ठों की है। इसके कथानक के सम्बन्ध में शमशेर बहादुर ने लिखा है–

"मुक्तिबोध शुक्रवारी में तिलक की मूर्ति के पास की गली में रहा करते थे एम्प्रेस मिल के मजदूरों पर जब गोली चली तो रिपोर्टर की हैसियत से वे घटना-स्थल पर मौजूद थे। उन्होंने सिरों का फूटना और खून का बहना अपनी आँखों से देखा 'अंधेरे में' शीर्षक उनकी सशक्त और मार्मिक कविता उनके नागपुर जीवन के बहुत सारे संदर्भ अपने अंदर समेटे हुए हैं और यही कविता अब नवीन अलोचना के प्रकाश में आधुनिक युग की सबसे अच्छी कविता स्वीकार की जाने लगी है। इस विषय में शमशेर लिखते हैं–

'अंधेरे में' मुक्तिबोध की एक ऐसी ही कविता जिसमें उनकी काव्यात्मक शक्ति के अनेक तत्त्व घुल-मिलकर एक महानू रचना की सृष्टि करते हैं, जो रोमानी होते हुए भी अत्यधिक यथार्थवादी और एकदम आधुनिक है और किसी भी कसौटी पर उसका जाँचा जाए, मैं कहूंगा कि यह आधुनिक युग की कविताओं में सर्वोपरि ठहरती है।"

"दिमागी गुहान्धकार का ओराँगउटाँग', 'लकड़ी का बना रावण' 'चांद का मुँह टेढ़ा है', 'मुझे

पुकारती हुई', 'कल पुकार', 'कल जो हमने चर्चा की थी', 'ओ काव्यात्मन् फणिधर', 'अंतः करण का आयतन' और 'चंबल की घाटी में' इस संकलन की अन्य सशक्त कविताएँ हैं जिनके लिए मुक्तिबोध को सदैव स्मरण किया जाएगा। अधिकाँश कविताओं का मुख्य विषय युग-यथार्थ का चित्रण और स्पष्टीकरण है और साथ ही इनमें यथार्थ के पीछे से आँकती हुई त्रासदी विद्रोह-भावना भी एवं अप्रत्यक्ष कथ्य कथानक के रूप में व्यक्त हो गई है।

मुक्तिबोध की अभी सभी कविताएँ प्रकाश में नहीं आ पाई हैं। सुना है कि शीघ्र ही उनकी शेष—अधिकतर अधूरी कविताओं को प्रकाशित करने का उपक्रम किया जा रहा है। तब संभवतः हम मुक्तिबोध के काव्य पर और भी अधिक गहराई से विचार कर सकेंगे और अपने लिए निर्मोही इस कवि के स्थान को हिन्दी-काव्य के गुहांधकार में उसकी कविताओं के प्रकाश से अन्वेषित कर पाने में सफल हो सकेंगे।

००

२. 'मुक्तिबोध' का काव्य : मूल संवेदना

प्रश्न २–मुक्तिबोध के काव्य की मूल संवेदना की पहचान करते हुए इस कथन पर विचार कीजिए कि उनकी कविताएं स्वतंत्रता-पूर्व और पश्चात् का दहकता इस्पाती दस्तावेज़ हैं।

दृढ़ और स्वाभिमानी व्यक्तित्व के धनी, तन-मन-धन से कला के प्रति समर्पित मुक्तिबोध का काव्य नयी कविता की अन्यतम उपलब्धि है। वह जीवन-भर नयी दृष्टि, नये युग के अनुभव और काव्य की विलक्षण अनुभूतियाँ खोजते रहे। उनका काव्य उनके जीवन को प्रतिबिम्बित करता है। उसमें मध्यप्रदेश के पठारी जंगलों के कवि का सहज बोध है, ऐतिहासिक खण्डहरों के वियाबानों में रमनेवाले मन की निर्भय पुकार है।

अपनी काव्य-प्रेरणा के सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं लिखा है, "मेरे बाल-मन की पहली भूख सौन्दर्य और दूसरी विश्व-मानव का सुख-दुखः, इन दोनों का संघर्ष मेरे साहित्यिक जीवन की पहली उलझन थी।" मालवा के प्राकृतिक सौन्दर्य, सामान्य जन के सुख-दुःख, तालस्ताय की लोक-मंगल-भावना, बर्ग सां की स्वतन्त्र क्रियमाण जीवन-शक्ति (म्संद टपजंस) तथा मार्क्सवाद ने उनकी काव्य-चेतना को प्रभावित किया। उनकी काव्य-संवेदना पर अस्तित्ववाद का भी प्रभाव दृष्टिगत होता है। अस्तित्ववादी प्रत्येक क्षण को महत्त्वपूर्ण मानता है; उसके सामने चुनाव की समस्या होती है; वह मानता है कि मनुष्य को उसकी इच्छा के विरुद्ध इस संसार में धकेल दिया गया है, पर जन्म लेने के बाद उसका कार्य है कि वह अपने जीवन से अर्थ और प्रयोजन का निर्णय स्वयं करे। मुक्तिबोध भी द्विधाग्रस्त हैं, एक पैर रखते हैं कि सौ राहें फूटती हैं। वह अपने को किसी शक्ति द्वारा नियोजित पाते हैं—

यन्त्रबद्ध गतियों का ग्रह-पथ त्यागने में असमर्थ
अयास, अबोध निरा सच मैं।

स्वयं को असहाय, सामर्थ्यहीन स्थिति में बताकर वह मनुष्य की आशा एवं निरूपाय स्थिति की ओर ही संकेत कर रहे हैं।

मुक्तिबोध की काव्य-चेतना का मूलाधार है मानवीय संवेदना। वे जीवन-पर्यन्त एक ही समस्या को लेकर चिन्तित थे—

मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में
सभी मानव
सुखी, सुन्दर व शोषण-मुक्त कब होंगे।।

उनकी काव्य-संवेदना ड्राइंग-रूम-संस्कृति की संवेदना नहीं थी। उनका नाता छोटे से छोटे एवं नगण्य मनु पुत्र से था; उसके छोटे से छोटा दुःख भी उनके हृदय को कचोटता था और वह उसकी पीड़ा को स्वर देने के लिए अधीर हो उठते थे। उनकी कविताओं में पहली बार निम्नमध्यवर्ग के जीवन का समग्र चित्रण हुआ है। इस वर्ग के व्यक्ति के आदर्श और यथार्थ में होनेवाला संघर्ष उनकी कविता का केन्द्रीय विषय है। उसके साथ उनकी पूरी सहानुभूति है—

विशाल श्रमशीलता की जीवन्त
मूर्तियों के चेहरों पर
झुलसी हुई आत्मा की अनगिन लकीरें।
मुझे जकड़ लेती हैं अपने में, अपना सा जानकर।

मुक्तिबोध का काव्य सत्-चित्-आनन्द का काव्य न होकर सत्-चित्-वेदना का काव्य है। उनकी वेदना बड़ी व्यापक और साथ ही गहरी है। व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों की वैज्ञानिक व्याख्या और उसकी काव्यमय अभिव्यक्ति ही उनकी कविताओं का अन्तर्मन है और चूँकि उन्होंने केवल स्वानुभूत का चित्रण किया है, अतः वैयक्तिक अनुभवों की प्रामाणिकता उनकी काव्य-संवदेना को प्रखर बना देती है। मुक्तिबोध के काव्य को 'मानवता का दस्तावेज' कहा गया है। मानवता अमर है और मानवता की धारा को आगे बढ़ाते रहना ही वह सृजनशीलता मानते हैं। इसके लिए आवश्यकता है कि वह पुरातन को नष्ट करने के लिए मरण-गीत गाएँ और जन-जन में नई ज्योति, नई आशा जगाएँ—

हम घुटनों पर नाश देवता
बैठ तुझे करते हैं वन्दन
मेरे सिर पर एक पैर रख
नाप तीन जग तू असीम बन।

मुक्तिबोध का काव्य आज के सामान्य मानव की असहायता, घुटन, छटपटाहट को उपस्थित कर उसकी मुक्ति का मार्ग खोजता है, वह निबल मानव के मुख को नव आशा से ज्योतित देखना चाहता है। इसके लिए सामान्य जन को कर्मठ बनना होगा, श्रम का व्रत लेना होगा। अतः वे श्रमहारा को सर्जन की शक्ति ग्रहण करने और संघर्ष की प्रेरणा देते हैं। उनका विश्वास है—

प्रत्येक पत्थर में
चमकता हीरा है
हर एक छाती में आत्मा अधीरा है
प्रत्येक सुस्मित में विमल सदानीरा है
प्रत्येक वाणी में
महाकाव्य पीड़ा है।

मुक्तिबोध अग्निधर्मी चेतना के कवि हैं, अतः उनके काव्य में तनाव, प्रतिक्रिया एवं विद्रोह के तत्त्व सहज ही दिखाई देते हैं। उनके भाई शरच्चन्द्र ने उन्हें 'True rebel' कहा है। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' शोषण और यातना से अभिशप्त हमारे स्वातन्त्र्योत्तर-युग का सुलगता काव्य-संग्रह है। उससे पूर्व भी 'तार-सप्तक' में वह पूंजीवादी समाज के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त कर चुके थे—

तेरी रेशमी वह शब्द संस्कृति अन्ध
देती क्रोध मुझको, खूब जलता क्रोध
तुमको देख मितली उमड़ आती शीघ्र।

इस संस्कृति के नाश के लिए ही वह नाश-देवता का आह्वान करता है। 'अंधेरे में' कविता

में उन्होंने उच्च वर्ग से जुड़े विद्वानों, कवियों, आलोचकों को 'रक्तपायी वर्ग से नाभिनालबद्ध' कहा है, बौद्धिक वर्ग को उनका क्रीतदास कहा है। 'भूल गलती' में इसी अवसरवादी, सुविधाभोगी वर्ग को बड़े सशक्त शब्दों में बेनकाब किया है—

आलिमो फाज़िल सिपहसालार, सब सरदार
हैं खामोश !

'भूल गलती' सामाजिक और व्यक्ति की आन्तरिक कुव्यवस्था का प्रतीक है। इस व्यवस्था में, यांत्रिक सभ्यता में सुविधाभोगी ही पनप सकते हैं। इस अवसरवादिता को पहचानने के कारण ही वह तथाकथित महानुभावों, अनुभव-समृद्ध विद्वानों को शहर के गुण्डे डोमाजी और संगीनधारी सैनिकों के साथ खड़ा कर देते हैं। ये सभी राक्षसी स्वार्थ के पुतले हैं, अतः उन्हें 'भूत-पिशाच-काय' कहा गया है। उनका विश्वास है कि जब-जब शोषण पर आधारित पूंजीवादी व्यवस्था पनपती है, सभ्यता मर जाती है—

शोषण की अतिमात्रा
स्वार्थों की सुख-यात्रा
जब-जब सम्पन्न हुई
आत्मा से अर्थ गया
मर गयी सभ्यता।

आधुनिक सभ्यता की विसंगति और विद्रूपताओं से परिचित मुक्तिबोध ने उन पर करारा व्यंग्य किया है। चाँद और चाँदनी के माध्यम से उन्होंने मूल कथ्य को खूब उभारा है। इनके द्वारा उन्होंने आज के कुरूप, कठोर, निर्मम जमाने का चित्र प्रस्तुत किया है। उनकी चाँदनी गौरवर्णा कुन्द-वन्दना न होकर शोहदे आवारा मछुओं सी मछलियाँ फँसाती है। इस चाँदनी की रोशनी ऐयारी है जिसमें करफ्यू लगा है, सन्नाटा है, फुसफुसाते षड़यंत्र होते हैं। इस चित्रण में सन् १९५३ के घिनौने, गन्दे, भय और त्रास से भरपूर परिवेश को साकार कर दिया गया है। राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले शोषण-भ्रष्टाचार को 'बारह बजे रात के' में व्यक्त किया गया है। यहाँ चाँद आसमानी तख्त पर सोने की गिन्नी-सा चेहरा लिए बैठा है और यूरोपीय सभ्यता के भव्य भवनों का ठाठ मुस्करा कर देखता है। यह चाँद अंग्रेज साम्राज्यवादियों का प्रतीक है जो अपने बढ़ते साम्राज्य और ऐश्वर्य को देख मुस्करा रहा है। उसे इस व्यवस्था की कृत्रिमता और खोखली आडम्बर-प्रियता से घोर घृणा है—

खूबसूरत दमकते रेस्तुराँ में
कैप्टन से गरबीले
बैजों से, बटनों से खेलते हैं सुकुमार
रंगे हुए नाखून
पेंटों के बटन चमकते-से लगते हैं
कामुक प्रकाश में।

साम्राज्य-विस्तार के लिए किये गये षड्यन्त्रों और रक्तपात की पोल खोलते हुए वह लिखते हैं—

खून की लकीरों से
देश-विदेशों की नई-नई
खूनी लाल–खूनी लाल
सरहदें–सीमाएँ बनाते ही जाते हैं।

नगर के लोगों का कृत्रिम रहन-सहन और उनकी बनावटी सभ्यता कवि की आँखों से छिपी नहीं है—

पावडर के सफेद अथवा गुलाबी
छिपे बड़े-बड़े चेचक के दाग मुझे दीखते हैं
सभ्यता के चेहरे पर।

'काव्य : एक सांस्कृतिक प्रक्रिया' नामक निबन्ध में मुक्तिबोध ने जिस विषमता-ग्रस्त समाज और उसके नैतिक ह्रास की बात कही थी, उसका चित्रण उन्होंने अपनी कविताओं में निर्भीक होकर दृढ़तापूर्वक किया है—

उदरम्भरि वन अनात्म बन गये
भूतों की शादी में कनात-से तन गये
किसी व्यभिचारी के बन गए बिस्तर।
X X X
लो हित-पिता को घर से निकाल दिया
जन-मन-करुणा-सी माँ को हकाल दिया
स्वार्थों के टेरियार कुत्तों को पाल लिया।

पुरातनता और नवीनता के बीच पिसी मानवता की व्यथा को उन्होंने 'ब्रह्म-राक्षस' कविता में वाणी दी है—

पीस गया वह भीतरी
और बाहरी दो कठिन पाटों बीच
ऐसी ट्रेजेडी है नीच !

और आज के तथाकथित सभ्य मानव को उन्होंने ओरांग-ओटांग कहा है क्योंकि उसके जघन्य कार्य और हिंस्र अस्त्र इस जंगली असभ्य के नाखूनों से कम नहीं हैं।

जहाँ मुक्तिबोध के नगर-चित्रों में कवि की उनके प्रति घोर वितृष्णा दृष्टिगत होती है, वहाँ वह ग्रामीण सहज जीवन को अपनी सहानुभूति प्रदान करते हैं। वहाँ उन्हें नगर रंगीन मायाओं का प्रदीप्त पुँज लगता है, वहाँ ग्रामीण वातावरण के चित्रण में कवि के मन का सहज उल्लास और उस वातावरण के प्रति उसका स्नेह स्पष्ट झलकता है—

दूर-दूर मुफलिसी के टूटे-फूटे घरों में
सुनहले चिराग बल उठते हैं
आधी-अंधेरी शाम
ललाई में निलाई से नहाकर
पूरी झुक जाती है।

'तार-सप्तक' के कवियों में अकेलेपन का भाव सर्वाधिक मुक्तिबोध में है—

प्राण की है बुरी हालत
और जर्जर देह; यह है बुरी हालत।

इस अकेलेपन के भाव का कारण अस्तित्ववादी दर्शन न होकर उनके जीवन की प्रतिकूल परिस्थितियाँ थीं जिनसे संघर्ष करते-करते वह टूटते चले गये। नयी कविता जिस 'लघु मानव' और 'क्षण की महत्ता' की बात करती है, मुक्तिबोध के काव्य में उन दोनों की प्रतिष्ठा है। जब मानव को अपनी तुच्छता का अहसास हो जाता है तब वह क्षण के महत्त्व को स्वीकार करने लगता है। वह जीवन की सार्थकता अधिक समय तक जीने में न मानकर सार्थक जीवन जीने में मानते हैं, अतः आवश्यक है कि व्यक्ति प्रत्येक क्षण को उसकी संपूर्णता में जीने का प्रयास करे। वह अहं को अपूर्ण मानते हैं। इसी अपूर्णता के कारण व्यक्ति न पूरी तरह घृणा कर पाता है और न प्रेम; न किसी पर क्रोध कर सकता है और न किसी के प्रति ग्लानि प्रकट कर सकता है। 'नूतन अहं' कविता में मुक्तिबोध

ने व्यक्ति की इसी क्षुद्रता को व्यक्त किया है। इस अहं भाव की तुच्छता बताते हुए वह लिखते हैं—

अहं भाव उत्तुंग हुआ है तेरे मन में
जैसे घूरे पर उट्ठा है
धृष्ट कुकुरमुत्ता उन्मत्त।

यद्यपि मुक्तिबोध आधुनिक युग में अध्यात्म को व्यर्थ बताते हैं—

लोग-बाग
अनाकार ब्रह्म के सीमाहीन शून्य के
बुलबुलों में यात्रा करते हुए गोल-गोल
खोजते हैं जाने क्या ?

पर जीवन में सौहार्द्र के महत्त्व, परस्पर-विश्वास, अटूट आस्था को रेखांकित करते हैं और जड़ता के प्रति साहसपूर्ण विद्रोह करते हैं। कूप-मण्डूक बने रहने से केवल सतही सत्य पाया जा सकता है, ऐसा उनका विश्वास है।

मुक्तिबोध के काव्य में बलिदान की भावना को उद्बुद्ध, उद्दीप्त और परिपक्व करनेवाली सामग्री भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। न्याय-चेतना और करुणा की सद्वृत्तियाँ त्याग-भावना को उद्बुद्ध करती है। न्याय-चेतना स्वार्थ से हटाती है और करुणा परोपकार में प्रवृत्त करती है। मुक्तिबोध कल्याणमयी करुणा को व्यक्तित्वन्तरकारी शक्ति मानते हैं। इसीलिए तो उनके युवकों में वेदना-जल पीकर व्यक्तित्वान्तर होता है और वे विभिन्न क्षेत्रें से संघर्ष करते हैं—

वेदना—नदियों का जल पीकर
मेरे युवकों में व्यक्तित्वान्तर
विभिन्न क्षेत्रों में कई तरह से करते हैं संगर।

मुक्तिबोध का काव्य जीवन के प्रति अटूट आस्था का काव्य है। शोषणमुक्त समाज, सांस्कृतिक मूल्यों और मानवता में उनकी अटूट आस्था थी। उनका दृढ़ विश्वास है कि अंधेरे से युक्त जंगलों में से नदी पार करने पर जीवन का अक्षयवट अवश्य मिलेगा और जीवन श्रम-गरिमा का स्तन्य पीकर विकास करेगा। अतः वह कलाकार को उद्बोधन देते हैं, "कलाकार को पुरुषार्थी होना चाहिए वह जमीन में गड़कर भी सदा प्रयत्न और पुरुषार्थ करता रहेगा।" उनके वाक्य में समर्पण का स्वर भी बड़ा प्रबल है—

आत्मा मेरी
उस ज्वलन की भूमि में तू स्वयं बिंघ ले।

उनमें दृढ़-संकल्प की आस्था है, अतः उनका मन विपरीत परिस्थितियों में भी नहीं टूटता और न कोई समझौता करता है। वह उस सामान्य जन के प्रति आस्थावान हैं जिसके उच्च भाल पर विश्व का भार है और जिसके अन्तर में निस्सीम प्यार है। इसीलिए वह कवि का आह्वान करते हुए कहते हैं—

तुम कवि हो, वे फैल चले मृदु गीत निबल मानव के घर-घर
ज्योतित हों मुख नव आशा से, जीवन की गति जीवन का स्वर।

परम्परागत आदर्शों, आस्था व विश्वासों के मलवे से नयी संस्कृति का निर्माण करने का उद्बोधन भी उनकी इसी अदम्य आस्था और समर्पण-भावना का परिचायक है—

कोशिश करो
कोशिश करो
जीने की

ज़मीन में गड़कर भी।

और उन्हें विश्वास है कि कवि के प्रयत्न विफल नहीं होंगे—

बेकार नहीं जायेगा
ज़मीन में गड़े हुए देहों की खाक से
शरीर की मिट्टी से, धूल से
खिलेंगे गुलाबी फूल।

शर्त केवल यह है कि केवल बौद्धिक जुगाली से काम नहीं चलेगा, कर्मशिलाओं से स्वप्नों की मूर्ति बनानी होगी। इस कर्मनिष्ठा जन्य क्रान्ति के लिए जो निमित्तोपादान उपयोगी हैं, उनका चित्रण कवि ने विस्तार से किया है। मार्क्सवादी क्रान्ति हिंसात्मक होती है। अतः कवि नाश-देवता की वन्दना करता है और मानता है कि 'बिना संहार' के सर्जन असंभव है। इस उग्र क्रान्ति की निन्दा वह नहीं सह सकते—

लावा कहकर निंदा करके, कोई उसको रोक न सकते
वह भवितव्य अटल है, उसको अंधियारे में झौंक न सकते।

क्रान्ति के लिए त्याग करना होगा, सुविधाएं त्यागकर ख़तरे उठाने होंगे, संगठित होना पड़ेगा, संगठन के लिए आवश्यक है कि क्रान्तिकारी यशलिप्सा से दूर रहे, अपने आप को एक आयुध, मात्र साधन समझे। कवि का विश्वास है कि युग का अंधियारा छटेगा, तमस् की अर्गलाएँ टूटेंगी और क्रान्ति होगी। युग के त्रास और उत्पीड़न को पूरी वास्तविकता और भयावहता के साथ भोगने और पचाने के बाद ही युग की अन्तश्चेतना जाग्रत होगी।

मुक्तिबोध का काव्य सामाजिकता के विभिन्न आयामों को प्रस्तुत करता है। उसमें पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, शोषण और अन्याय का विरोध है, नागरिक सभ्यता और उसकी कृत्रिमता के प्रति वितृष्णा है, ग्रामीण की सहजता के प्रति सहानुभूति है, वर्तमान से विद्रोह कर नवीन के निर्माण का उद्‌बोधन है। स्पष्ट है कि वह समाज की पीड़ा की उपेक्षा नहीं कर सके, पर साथ ही उनके काव्य में उनके अपने मन की गहराइयों में होने वाली हलचल और अनुभूति-तरंगों की भी झाँकी मिलती है। "मानसिक द्वन्द्व मेरे व्यक्तित्व में बद्धमूल है।··मेरी ये कविताएँ अपना पथ ढूँढ़ने वाले बेचैन मन की ही अभिव्यक्ति हैं।" उनकी यह द्वन्द्वपूर्ण मनःस्थिति और द्विधा ही उनकी आत्मग्रस्तता का मूल कारण है। मुक्तिबोध का मन अंधेरे में घिरा रहता है और प्रकाश की खोज में भटकता है। सन् १९४७ के बाद उन पर फ्रायड और युग के मनोविश्लेषण-शास्त्र का प्रभाव पड़ा जिसके फलस्वरूप उनकी अन्तर्मुख दशाएँ और भी गहन होती चली गईं। उपचेतन का संसार अन्धकारमय होता है, अतः उनके काव्य में अन्धे कुएँ, बावड़ी, समुद्र की तलहटी, पठारों के गड्ढे आपको मिलेंगे। डॉ० रामविलास शर्मा ने इस आत्मग्रस्तता के दो रूप माने हैं—रहस्यवाद और अस्तित्ववाद। हठयोग की शब्दावली का प्रयोग, ज्ञानमणि और अरुण कमल की चर्चा उनकी दृष्टि में मुक्तिबोध के रहस्यवादी होने का प्रमाण है तो 'ब्रह्मराक्षस' का अपराध-भावना, पाप-सम्बन्धी चेतना से जुड़कर अस्तित्ववादी प्रभाव का संकेत देती है। पर क्या मुक्तिबोध सचमुच रहस्यवादी हैं? यदि रहस्यवाद अन्तः-स्फुरित अनुभूति द्वारा परमतत्त्व का साक्षात्कार करने की प्रवृत्ति है तो मुक्तिबोध निश्चय ही रहस्यवादी नहीं है। वह तो ईश्वर में विश्वास तक नहीं करते थे। रहस्यवादी यथार्थ जगत् को सत्य नहीं मानता, अतः उसे त्यागता है, पर मुक्तिबोध के काव्य में तत्कालीन समाज का समग्र चित्रण है। अध्यात्म-साधना द्वारा नहीं विद्रोह एवं पीड़ा की आग से निकलकर मानव को सुखी बनाने की लालसा भी उन्हें रहस्यवादी होने से मना करती है। उनके काव्य में रहस्यलोक का वातावरण तो है पर वह रहस्यवादी नहीं हैं। मुक्तिबोध पर अस्तित्ववाद एवं मार्क्सवाद का प्रभाव तो था, पर उन्हें अस्तित्ववादी या मार्क्सवादी कहना असंगत है। वह अन्ततः वैयक्तिक

प्रतिक्रियाओं की अभिव्यंजना करने वाले कवि हैं। उनकी काव्य-संवेदना के मूल में 'व्यक्ति' न होकर 'मानव' है ऐसा मानव जो संघर्षरत है, जो सामाजिकता से जुड़ा है और इसीलिए संघर्ष द्वारा समाज को सुखी और सुन्दर देखना चाहता है। वस्तुतः उनकी काव्य-संवेदना के निर्माण में एक ओर उनके युग की विषम परिस्थितियाँ थीं तो दूसरी ओर व्यक्तित्व का अन्तः संघर्ष था। उनका आत्मबोध बाह्य जगत् के यथार्थ बोध से जुड़ा हुआ था। अतः उनके काव्य में जो संघर्ष चित्रित है वह अकेले, एकान्तप्रिय, समाज से कटे व्यक्ति का संघर्ष न होकर पूरी जागरूक पीढ़ी का संघर्ष है जो अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए सजग है, प्रयत्नशील है और आस्थावान है। अतः ऐसे कवि को समाज से विमुख, आत्मग्रस्त नहीं कहा जा सकता। वह तो ज़िन्दगी की दलदल और कीचड़ में धंस कर विवेक के ज्वलंत सरसिज को तोड़ लाने वाला कवि है जिसकी हथेली पर विवेक की जलती हुई आग रखी है। ऐसा आस्थावान्, मानवतावादी, जन की शक्ति में विश्वास रखने वाला, नव-निर्माण की आकांक्षा का दीप संजोने वाला कवि आत्मग्रस्त नहीं हो सकता। वह निश्चय ही मानववादी है और उसका काव्य यथार्थोन्मुख व्यक्तिवाद का काव्य है।

○○

३. मुक्तिबोध के काव्य का भावपक्ष

प्रश्न ३–मुक्तिबोध काव्य में भावनाओं के ज्वार की अपेक्षा विचारों कर दीर्घ दोहन अधिक है। इस कथन पर विचार कीजिए।

भाव या विचार तत्त्व को कविता का प्राण स्वीकार किया जाता है। उस से सम्वेदना या सम्प्रेषण सम्भव हुआ करता है। कविता केवल कल्पना विकास न होकर, विशेषतः आज के सन्दर्भों में अन्तः बाल द्वन्द्वों का उदाहरण है। फिर जिसे नई कविता और उसमें भी मुक्ति बोध की कविता कर अभिहित किया जाता है। वह तो इस सब के सिवाए अन्य कुछ ही नहीं अतः मुक्तिबोध के काव्य और उसके भाव पक्ष पर विचार करने से पूर्व हमें यह समझ लेना चाहिए कि मुक्तिबोध अपने काव्य की सर्जन-प्रक्रिया को अचेतन व्यापार न मानकर उसे ठोस वास्तविकता का साक्षात्कार मानते हैं। यह ज्ञात ही है कि मुक्तिबोध अपने काव्य में अपने विविध अनुभवों के परिप्रेक्ष्य को आकार देना चाहते थे और यही कारण है कि छोटी-छोटी कविताएं नहीं लिख सके। उनकी जो छोटी कविताएं हैं भी, वे केवल अधूरी रह गई हैं या उनकी भाव-सृष्टि संपूर्ण रूप में निर्मित नहीं हो सकी है। इस संबंध में उनका एक कथन है–"वास्तविकता का एक साक्षात्कार कवि को दूसरे साक्षात्कार तक पहुंचा देता है और यह प्रक्रिया कभी समाप्त नहीं होती, चलती रहती है।" इस तथ्य को उन्होंने अपनी एक कविता 'चकमक की चिनगारी' में भी इस रूप में व्यक्त किया

नहीं होती, कहीं भी खत्म कविता नहीं होतीं
कि वह आवेग त्वरित कालयात्री है।

एक समय में मुक्तिबोध की यह हार्दिक इच्छा थी कि वे अपनी हर कविता पर एक कहानी लिखें। संभवतः वे यह अनुभव करते थे कि इस प्रकार की कविताओं की आत्मा को मान्यता दिला सकेंगे या अपनी अधूरी कविताओं को सार्थक परिणामों तक ले जा सकेंगे। अपनी पुस्तक 'एक साहित्यिक की डायरी' में उन्होंने लिखा है–"कविता के भीतर की सारी नाटकीयता वस्तुतः भावों की गतिमयता है। उसी प्रकार कविता के भीतर का कथातत्त्व भी भाव का इतिहास है।" पर वे ऐसा नहीं कर सके। जीवित रहते तो सम्भवतः अपनी कविताओं की कहानियां लिखते।

कुछ भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि मुक्तिबोध वास्तविकता को अपने काव्य का एक दृढ़ आधार बनाकर चलते हैं। यही कारण है कि कटु यथार्थ का जितना बोध मुक्तिबोध को है, उतना

सम्भवतः उनके खेमे या बाद के भी किसी अन्य कवि को नहीं है। इस प्रकार अपनी कविताओं में व्यक्त जीवनानुभव के जिन दृश्य-तंत्रों का आधार मुक्तिबोध ने लिया है, वह दूसरे धरातल पर मुक्तबोध के जीवनबोध, आधुनिक दवरव और इतिहास-बोध को स्पष्ट करना है। और यही कारण है कि यद्यपि मुक्तिबोध ने अधूरा जीवन जिया है परन्तु अपनी काव्यरचना में वे पूरा जीवन प्रस्तुत कर पाने में समर्थ हुए हैं।

उनके काव्य के संवेदन-तत्त्व के कुछ प्रमुख अभावों इस प्रकार से अंकित किये जा सकते हैं।

यथार्थ बोध–हम ऊपर कह आये हैं कि यथार्थ, कटु यथार्थ का जितना बोध मुक्तिबोध को है, उतना सम्भवतः किसी अन्य कवि को नहीं है। यह कवि जिस यथार्थ का चित्रण करता है वह जीवन के विविध (सभी) क्षेत्रों से संबद्ध है। कल्पना का यथार्थ न होकर भोगे हुए या घटित जीवन का यथार्थ है। मतलब कि यह यथार्थ भोगा पहले गया है, व्यक्त बाद में किया गया है। इस कवि के समक्ष अतीत, वर्तमान और शाश्वत यथार्थों का संग्रह है और उसे 'स्याह पहाड़' की संज्ञा देते हुए कहता है–

आज के अभाव के, व फल के उपवास के
व परसों की मृत्यु के
दैन्य के, महा अपमान के, व क्षोभपूर्ण
भयंकर चिन्ता के उस पागल यथार्थ का
दीखता पहाड़–
स्याह''

ट्रेजेडी : एक आधुनिक संत्रास–ट्रेजेडी और संत्रास का प्रयोग मुक्तिबोध के काव्य में आधुनिक जीवन के पीड़ाबोध के संदर्भ में हुआ है। इस संत्रास के अनेक कारण हैं। समाज एवं उसकी रूढ़ियों, पूर्वग्रहों, नियमों, व्यवधानों, वर्जनाओं आदि से जब व्यक्ति का संघर्ष प्रादुर्भूत हो जाए और वह निरन्तर अवस्थिति में रहने लगे तो वह एक विशिष्ट प्रकार के संत्रास का शिकार बन कर, उसका जन्मदाता भी बन जाया करता है, कवि ने इस संदर्भ में प्रायः सभी कारणों का आधार-रूप में विवेचन किया है और तत्संबन्धी अपनी अनुभूतियों को व्यक्त किया है। आज के परिवेश में अभाव, आकस्मिकता, षड़यंत्र, उच्छृंखलता हत्याएँ आदि मरणोन्मुख स्थितियों और कुंठा, अभाव, तनाव और घुटन आदि को विवशतापूर्वक भोगना पड़ता है। इस सत्य के प्रत्यक्ष बोध के कारण उसके प्रत्येक पहलू को मुक्तिबोध के काव्य में स्थान मिला है। कुल मिलाकर कवि संत्रास के इन कारणभूत तथ्यों को हमारे सामने रखने में सफल हुआ है। एक दो उदाहरण इस विषय में यहाँ दिये जा रहे हैं। पहला उदाहरण 'दिमागी गुहाँधकार का ओराँगउटाँग' नामक कविता से दिया जा रहा है–

विवाद में हिस्सा लेता हुआ मैं / सुनता हूं ध्यान से
अपने ही शब्दों का नाद, प्रवाह और / पाता हूं अकस्मात्
स्वयं के स्वर में / औरांगउटांग की बौखलाती हुंकृति ध्वनियाँ
एकाएक भयभीत / पाता हूं पसीने से सिंचित / अपना यह नग्न मन

मुक्तिबोध के काव्य में इस आंतरिक सन्त्रास के साथ-साथ बाह्य परिस्थितियों से उद्भूत संत्रास भी जुड़ा हुआ है। इसके कुछ विशेष पक्ष इस प्रकार हैं–भौतिक अभाव की त्रासदी, वैज्ञानिक विकास और मनुष्य की चेतना, अतिशय विरोध और याँत्रिक प्रभुत्व। इसे स्पष्ट करने के लिए उनकी कविता का एक उदाहरण दिया जा रहा है–

रवि का प्रकाश, / शशि का विकास–

पुँसत्वहीन नर का विकास। / ये सूर्य-चन्द्र
नभ-वक्ष लुब्ध, / वे अमित वासना के शिकार।
वे गगन दीन / वे रसिक रुग्ण,
पुंसत्वहीन वेश्या-विहार। / इनका प्रकाश / जग के विशाल
शव का सफेद परिधान साफ।
है त्यक्त देह / आत्मा अदेह / उड़ चली गटर से बनी साफ। (विहार)

विरोध और विद्रोह–मुक्तिबोध की कविता वैविध्य और विरोध से परिपूर्ण कविता है। वस्तुतः उसका उद्‌भव ही विविध विरोधों की यन्त्रणा में भी अनुभूतियों से हुआ है। इसी कारण उनकी कविता में यंत्रणा, त्रास, भूख, पीड़न, मृत्यु, दरिद्रता, सामाजिक उलझनों का आशावाद और साथ-ही-साथ एक विचित्र अवसाद और नैराश्य की कथाएँ भी हैं। अनेक अन्तर्कथाओं के सूत्रों के रूप में मुक्तिबोध की कविता में एक साथ ही अनुकूल और प्रतिकूल जीवन-विधान के अनुभव मिलते हैं। इस प्रकार विरोध की अनेक दिशाएँ उनके काव्य में मिलती हैं। काव्य में उन्होंने 'आन्दोलन' 'क्रान्ति' आदि शब्द प्रयुक्त किए हैं। उनका स्पष्ट प्रयोजन एक जड़ समाज में खोए हुए इन शब्दों की सही स्थिति को खोजने का था। मुक्तिबोध के जीवन प्रसंग लिए जाएँ तो हम देखेंगे कि उन्होंने अपने समाज, अपने इतिहास, अपने अस्तित्व और अपने आप से कितनी लड़ाई लड़ी है। अपने आप से लड़ने की इस लड़ाई में उनका सही विरोध और विद्रोह व्यक्त हुआ है। उनकी अँधेरे में शीर्षक कविता उनके अपने अन्दर की इस लड़ाई की प्रतीक कविता है, जिसमें घोर अवसाद और घोर विद्रोह के तत्व पूर्ण समानता से भरे गये हैं। उस कविता में हमें मुक्तिबोध एक अन्वेषक के रूप में लगते हैं–

इसलिए मैं हर गली में / और हर सड़क पर
झाँक-झाँक पर देखता हूं हर एक चेहरा / प्रत्येक गतिविधि / प्रत्येक चरित्र
व हर एक आत्मा का इतिहास / हर एक आत्मा का इतिहास
हर एक देश व राजनैतिक परिस्थिति / प्रत्येक मानवीय स्वानुभूत आदर्श
विवेक प्रक्रिया कियागत परिणति / खोजता हूं पठार पहाड़ सुन्दर ! !
जहां मिल सके मुझे / मेरी वह खोयी हुई / परम अभिव्यक्ति अनिवार / आत्मा।

इस प्रकार यह कवि भावना और बुद्धि–दोनों ही स्तरों से विरोध करता हुआ प्रतीत होता है। यह विरोध कहीं-कहीं व्यक्ति की मूल प्रकृति से भी जा टकराता है। फलस्वरूप हम देखते हैं कि यह विरोध और विद्रोह चरित्र एवं व्यक्ति की मूल प्रकृति से लेकर संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था तक प्रसारित है। ऐसा संश्लिष्ट काव्य-स्वरूप हमें किसी अन्य कवि में नहीं दीख पड़ता।

आत्मलोचन–सामाजिकता और वास्तविकता के निर्वाह के साथ-साथ मुक्तिबोध अपने काव्य में स्वयं अपने लिए भी सचेत रहे हैं। 'सैल्फ कांशसनेस' का यह भाव उनकी अनेक कविताओं में देखा जा सकता है। अधिकतर ऐसे अवसरों पर कवि ने आत्मालोचन अधिक की है। आत्मलोचन में उन्होंने स्वयं को कई स्थलों पर विशिष्ट भी सिद्ध किया है किन्तु ध्यातव्य तथ्य यह है कि अपने इस निष्कर्ष में उन्होंने कहीं भी अहंकार का आश्रय ग्रहण नहीं किया। निरर्थक भावुकता भी ऐसे स्थलों पर देखने को नहीं मिलेगी। एक उदाहरण यह है–

मैं केवल तुम पर जीवित हूँ / मेरी सांस, किन्तु तेरा तन,
मेरी आस और तेरा मन, / तू है हृदय और मैं लोचन
मैं हूँ पूर्ण, अपूर्ण झेलकर। / मैं अखण्ड, खण्डित प्रतिभा पर।

मैं मैली आँखों के अन्दर ज्योति गुप्त हूँ / मैं मैले अन्तर के तल में

घन सुषुप्त आत्मा प्रतप्त हूँ। / मैं हूँ नम्र धूलि के कण-सा
मैं अजस्त्र पृथ्वी के मन-सा, / धन मृत्कण में सृजन-क्षण में,
मालनों में रह अग्नि-विन्दु हूँ, / जीवन की सौंदर्य-शांति में
नभोविहारी शरद-इन्दु हूँ। **(सृजान देणा)**

व्यंग और विद्रूप–सामाजिकता और वास्तविकता तथा उससे कतिपय पक्षों का आधार ग्रहण कर निर्मित होने वाले काव्य में व्यंग्य और विद्रूप का अंतर्भूत हो जाना स्वाभाविक ही है। वस्तु-सत्य तो यह है कि नई कविता का जल ही वस्तुतः जीवन के विद्रूप वैषम्यों का व्यंग्यमय प्रत्यंकन के लिए, उसी अर्थ में हुआ ! इस काव्य वैशिष्टय के लक्ष्य अनेक हुआ करते हैं– विविध परिवेश, मूल्य, राजनैतिक-सामाजिक स्थितियाँ आदि। कवि ने इस क्षेत्र में शून्य तक पर भी व्यंग्य किया है। यह शून्य बहरा है, किसी की नहीं सुनता। एक परिवेश पर व्यंग्य इस प्रकार है–

गाँधी की मूर्ति पर / बैठे हुए घुग्घू ने / गाना शुरू किया,
हिचकी की ताल पर / टेलीफून-खम्भों पर थमे हुए तारों ने
सट्टे के ट्रंक-काल सुरों में / थर्राना और झनझनाना शुरू किया।
रात्रि का काला-स्याह / कन-टोप पहने हुए / आसमान बाबा ने हनुमान-चालीसा

इस प्रकार उनकी सारी कविता ही व्यंग्य-विद्रूप का एक जीवन्त दस्तावेज़ बन कर रह गई है।

असुरक्षित जीवन का भाव–डॉ० रामविलास शर्मा के शब्दों में मुक्तिबोध की कविता असुरक्षित जीवन की कविता है। उसमें भावबोध की अस्थिरता और विचारों की उलझन भी है। यह बिलकुल ठीक है। असुरक्षा का भाव नियमबद्ध जीवन को तोड़ कर रख देता है। इस कवि की कविताओं को रखने से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। एक उदाहरण लेकर इस बात को स्पष्ट करेंगे–

घनी रात, बादल रिमझिम है, दिशा मूल, निस्तब्ध वनांतर,
व्यापक अंधकार में सिकुड़ी सोयी नर की बस्ती, भयंकर
है निस्तब्ध गगन, रोती-सी सरिता-धार चली घहराती,
जीवन-लीला की समाप्त कर मरण-सेज पर है कोई नर।
बहुत संकुचित छोटा घर है, दीपालोकित फिर भी धुंधला,
वधू मूर्च्छिता-पिता अर्द्ध-मृत दुखिया माता स्पंदन-हीना
घनी रात, बादल रिमझिम है, दिशा मूक, कवि का मन गीला।

यहां मृत्यु का भाव कवि को ग्रस्त किए हुए है। मृत्यु और नाश के सभी उपकरण उन्होंने यहां एकत्रित कर दिए हैं। यह असुरक्षा का भाव मन में ही दीर्घ और गहन होती गई है। इस आत्मग्रस्तता के बावजूद वह फिर भी अपने आत्म संवेदन के माध्यम से समाज के व्यापकतम छोरों को छूने लगा है। यद्यपि मुक्ति बोध निसर्ग के निःसंग अकेले भटकने वाले कवि हैं और उनकी लम्बी-लम्बी कविताओं में विस्तार और सूनापन है, भटकन है, खोज है, अकेलापन है, कुहासा है और कुहासे के नीचे की हलचल है जो असुरक्षा की भावना के प्रमुख तत्त्व कहे जा सकते हैं फिर भी उनकी कविताओं की घटना प्रधान आत्मगत असुरक्षा की भावना के साथ-साथ समाज को भी संग लेकर चली है। अतः यह कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध कथाओं से कविता व्यंजित करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुक्तिबोध के काव्य में आज के जीवन के परिवेश के अभाव, आकस्मिकता, षड्यंत्र, उच्छृंखलता, हत्याएँ, कुण्ठित मानसिक स्थितियाँ, तनाव, घुटन, संत्रास आदि तत्त्व घनीभूत रूप में अन्तर्भूत हैं। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध ने आधुनिकता

की इन विशेषताओं के सामाजिक कारणों को उद्घाटित करने का प्रयास अपनी कविताओं में किया है और इन तत्त्वों को अपने कृत्तित्व के रूप में अपनाया है। एक आलोचक के शब्दों में आधुनिक जीवन की वास्तविकता का इतना सुन्दर काव्यात्मक और वैचारिक रूप से वैज्ञानिक विश्लेषण हिन्दी में कोई भी अन्य लेखक कदाचित् नहीं कर पाया है। यही कारण है कि हम उनकी कविताओं में सर्वत्र इसी प्रकार की गति देखते हैं। स्थिरता उनमें नहीं है। इस सम्बन्ध में हरिनारायण व्यास ने कुछ बहुत ही उपयुक्त विचार प्रकट करते हुए कहा है—"उनकी कविताएँ चलती हैं अथवा कहिए ले चलती हैं। हर थोड़े विराम के बाद नई परिस्थितियों के सामने पाठक होता है और वह उन परिस्थितियों की असाधारण स्थितियों से अभिभूत हो उठता है। उनकी कविता में कुतूहल है; विस्मय है। कलाकार को मुक्तिबोध एक कार्यकर्ता के रूप में मानते हैं। आधुनिक जीवन के अभिशापों को मिटाने के लिए सांस्कृतिक स्तर पर कलाकार और कला का भी एक दायित्व है इसीलिए वे लेखन-कार्य को एक नियोजित सचेत, सप्रयत्न कर्म मानते हैं।" आगे चलकर इसे स्पष्ट करते हुए हरिनारायण व्यास ने कहा है—"मुक्तिबोध मूलतः लोकहितवादी चेतना के कवि हैं।" इधर दूधनाथ सिंह ने अन्य शब्दों में इसी बात को इस प्रकार कहा है—"मुक्तिबोध की चेतना सामाजिक शुभ से संपृक्त है।"

डॉ० रामविलास शर्मा ने २१ दिसम्बर, १९६९ के 'धर्मयुग' में प्रकाशित अपने एक लेख 'मुक्तिबोध का आत्म संघर्ष और उनका कविता' में मुक्तिबोध के काव्य की चेतना के संबंध में कुछ नवीन मत व्यक्त किए हैं जिनकी ओर प्रबुद्ध पाठकों का ध्यान गया है। वे कहते हैं—"मुक्तिबोध की अंतर्मुख दशाएँ हैं, अन्तर चेतना में डूबने के उनके प्रयास। ये दशाएँ गहनतर होती हैं बाहर की दुनिया में मार खाकर अपने भीतर समाज और ब्रह्माण्ड का रहस्य ढूंढने से। आत्मग्रस्तता का एक रूप है रहस्यवाद, दूसरा रूप है अस्तित्ववाद। आत्मग्रस्तता के बावजूद और उसे साथ लिए हुए मुक्तिबोध के आत्म-संवेदन समाज के व्यापकता का समन्वय करने का प्रयत्न करते हैं।" इस प्रकार का समन्वय और इस प्रकार के प्रयत्न निश्चय ही और कहीं भी सुलभ नहीं हैं।

कवि शमशेर बहादुरसिंह का मत भी द्रष्टव्य हैं—"मुक्तिबोध ने छायावाद की सीमा लाँघकर, प्रगतिवाद से मार्क्सी दर्शन ले, प्रयोगवाद के अधिकाँश हथियार सँभाल, और उसकी स्वतंत्रता महसूस कर, स्वतंत्र कवि-रूप, से, सब वादों और पाटियों से ऊपर उठकर, निराला की सुथरी और खुली मानवतावादी परम्परा को बहुत आगे बढ़ाया।" यहां तक तो ठीक है, लेकिन आज अनेक आलोचक मुक्तिबोध और निराला में बहुत-कुछ साम्य देखने लगे हैं। उदाहरणार्थ नरेश महेता का यह मत है कि मुक्तिबोध नयी पीढ़ी के निराला हैं और उनमें बहुत साम्य है। वस्तुतः यह मत ठीक नहीं है। जीवन संघर्षों और साहित्यिक परिस्थितियों की दृष्टि से निस्संदेह यह बात कही जा सकती है; उदाहरणार्थ से दोनों कवि अपने प्रारम्भिक वर्षों में सबसे अधिक उपेक्षित रहे और बाद में सबसे अधिक पूजित हुए और लोगों ने उन्हें पहचानने की कोशिश शीघ्र ही नहीं की। किन्तु जहां तक काव्य के संदर्भ का प्रश्न है, समग्र 'निराला' की समग्र मुक्तिबोध से तुलना नहीं की जा सकती। वैसा करना किसी भी प्रकार उचित भी नहीं कहा जा सकता।

अन्त में हम इतना और कहना चाहेंगे कि मुक्तिबोध की कविताएँ अत्यंत सशक्त रूप में पाठकों को प्रभावित करती है और छायावाद से लेकर अब तक—नई कविता तक जो विकास हुआ है, उस प्रवाह से मुक्तिबोध की कविता बिलकुल पृथक् है। यही उनके काव्य की महानता है किन्तु इतने पर भी हमें यह ध्यान में रखना होगा कि मुक्तिबोध के काव्य और 'काव्य-संसार' का अभिशंसात्मक मूल्यांकन नहीं किया जा सकता, क्योंकि काव्य सभी गरिमावाची' अयथार्थ तत्वों से परे है। मुक्तिबोध ने अपने समय के उस संसार को अपने काव्यवृत्त में लिया है जिसका स्वरूप किसी भी तरह के आदर्शों को स्वीकार नहीं करता। यही तथ्य उन्हें नई कविता या प्रयोगवादी

कविता के अन्य समस्त कवियों से सर्वथा अलग भी कर देता है। मुक्तिबोध की अपनी सारी ऊर्जा अपने-नितान्त निजी कथानकीय अनुभूतियों को काव्यमय आयाम देने में खप और चुक गई। उस खपे-चुपे या मूर्त्त रूप उनकी कविता है— कविता-रूप में रह सका है, यह निश्चय ही एक बड़ी बात है।

००

४. मुक्तिबोध के काव्य का कला-वैभव

प्रश्न ४–मुक्तिबोध के काव्य का कला-पक्ष उनकी नई चेतना को प्रभावित है। इस कथन की परीक्षा करते हुए। उनके काव्य-शिल्प की विशेषताओं का निरूपण कीजिए।

कलापक्ष, कलाशिल्प, कथ्य-शिल्प और अपिव्यक्ति-शिल्प जैसे अनेक शब्द अकादमिक स्तर पर किसी कृतिकार के कृतित्त्व के बाह्य पर्यावरणों के परिक्षण के लिए आज प्रयोग में लाए जाते हैं। इस कसौटी पर कसकर देखने की स्थिति में मुक्तिबोध की कविताओं में तीन तत्त्वों की उपस्थिति को प्रायः सभी आलोचकों ने स्वीकार किया है। ये तत्त्व हैं—सौंदर्य-बोध, व्यापक-गहन अनुभूति और उपयोगी दर्शन। जहाँ तक शिल्प के संदर्भ में सौंदर्य-बोध के विवेचन का प्रश्न है, उस के समबन्ध में मुक्तिबोध के अभिमतों से भी परिचित हो लेना चाहिए जो कि एक ठीक दिशा है। एक स्थल पर वे कहते हैं—

"जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि के फलस्वरूप ही कुछ साहित्यिक समाजशास्त्री अपने ढर्रे के बाहर के क्षेत्र में, प्रचलित नयी काव्य-समृद्धि में विद्रूपता के अतिरिक्त कुछ नहीं देखते।" भाव यह कि सौंदर्याभिरुचि का प्रवहमान होना एक स्वस्थ लक्षण है और मुक्तिबोध इस विषय में पाठक को पहले ही चेता देते हैं। यही कारण है कि शिल्प में आत्मपक्ष और वस्तुपक्ष—दोनों का समन्वय वे अभीष्ट मानते हैं। वे इस बात पर बल देते हैं कि अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष करता हुआ कवि अवश्य अपने शिल्प को भी मांजे किन्तु वह मात्र चित्रकार न हो। इस प्रकार मुक्तिबोध दोनों ही में एक-दूसरे का अंतर्भाव स्वीकार कर लेते हैं। कोरे शिल्प से उन्हें चिढ़ है, क्योंकि वस्तु की उपेक्षा असंभव है, वस्तु से हीन शिल्प अनर्थ है। इसीलिए कहा गया है कि मुक्तिबोध की अभिव्यक्ति-शैली सुनियोजित, सुव्यवस्थित और सुसंबद्ध होती है। इसका कारण संभवत यह भी है कि, मुक्तिबोध कदाचित वस्तुवाद और विज्ञान के आधार पर एक साहित्य-दर्शन का निर्माण करना चाहते थे। इसीलिए उनकी कविताओं में एक आन्तरिक व्यवस्था विद्यमान है।

इस कलात्मक सौन्दर्यबोध का विवेचन करते हुए सबसे पहले हम मुक्तिबोध के काव्य-बिम्बों **पर विचार करेंगे।**

१. **बिम्ब-विधान**–काव्य में भावों-विचारों के मूर्तिकरण की प्रक्रिया सबल सटीक बिम्ब की **योजना से** ही पूर्ण हुआ करती है। मुक्तिबोध इस तथ्य से परिचित थे। अतः बिम्ब-सृष्टि का उन के काव्य में अपना एक वैशिष्ट्य है। यथार्थ के स्पष्टीकरण के लिए मुक्तिबोध बिम्बों का आश्रय लेते हैं। वे एक सशक्त बिम्ब उठाते हैं और फिर बाद में बिम्ब पर बिम्ब आते चले जाते हैं। इससे नेत्रों के सम्मुख बिम्ब ही नहीं शिलष्ट चसंलचित्र का भी निर्माण होता है किन्तु इसमें एक दोष भी है और वह यह कि सशक्त बिम्ब या तो अस्पष्ट हो जाता है या खंडित हो जाता है। बिम्बों के प्रति मुक्तिबोध का एक विचित्र प्रकार का मोह है इस क्षेत्र में ओरॉंग उटॉंग, ब्रह्मराक्षस, रामकथा, लकड़ी बीनती हुई माँ, भैरव, पीपल, आंगन आदि को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाते हैं। मुक्तिबोध ने इनका कलात्मक संयोजन रुचि और प्रभाव, दोनों ही दृष्टियों से किया है। जिस प्रकार टी० एस० इलियट के बारे में कहा जाता है कि उनका काव्य उस कक्ष की भांति है जिसमें

अनेक दर्पण विभिन्न पंक्तियों में सजा कर रख दिए गए हैं उसी प्रकार यही बात बिम्बों के सन्दर्भ में मुक्तिबोध के काव्य के संबंध में भी कही जा सकती है। निश्चय ही उनका काव्य विभिन्न दर्पणों का विचित्र संयोजन है। कुछ उदाहरण इस संदर्भ में द्रष्टव्य हैं—

सामने है अँधियाला ताल और / स्याह उसी खाल पर
सँवलायी चांदनी। / या / –अँधेरे की, काली स्याह
शिलाओं से बनी हुई / भीतों और अहातों के, कांच टुकड़े जमे हुए
ऊँचे-ऊँचे कंधों पर / चांदनी की फैली हुई सँवलायी झालरें

यह बड़ी ही आसानी से स्पष्ट हो जाता कि इस प्रकार के प्रसंगों में उनके प्रायः सभी बिम्ब प्रतीकात्मक वैशिष्ट्य को लिए हुए हैं। अगर मुक्तिबोध के काव्य की पूरी बिम्ब-सूची एकत्रित की जाए तो एक तथ्य पाठक के समक्ष उभर कर आएगा कि उनके अधिकांश बिम्ब मात्र दृश्यांकन के लिए प्रयुक्त नहीं हुए हैं, वरन् वे प्रतीकात्मक वैशिष्ट्य की पूर्ति के भी साधन प्रमाणित हो सके हैं।

अपनी एक कविता 'एक स्वप्न-कथा' में मुक्तिबोध कहते हैं—

इसीलिए, मेरी ये कविताएँ / भयानक हिडिम्बा हैं,
वास्तव की विस्फारित प्रतिमाएँ / विकृताकृति-बिम्बा हैं।

यहां कवि ने अपनी कविताओं को जो 'हिडिम्बा' विशेषण दिया है। उससे उनकी बिम्बात्मक कविताओं में निहित विरूपता और आतंक का कुल भाव भी स्पष्ट हो जाता है। कटु यथार्थ के रूपात्मक पक्ष और भावात्मक पक्ष का चित्रण कवि ने इसी प्रकार के बिम्बों के माध्यम से किया है। यहां तथ्य-स्पष्टीकरण के लिए दो उदाहरण दिए जा रहे हैं—

(अ) रूपात्मक पक्ष और बिम्ब-सृष्टिः

घनी रात बादल रिमझिम हैं, दिशा मूक, निस्तब्ध वनांतर
व्यापक अंधकार में सिकुड़ी सोयी नर की बस्ती, भयंकर
है निस्तब्ध गगन, रोती-सी सरिता-धार चली घहराती,
जीवन-लीला की समाप्ति कर मरण सेज पर है कोई नर।

(आ) भावात्मक पक्ष और बिम्ब-सृष्टिः

सामने ही तिकोनी पहाड़ों के सिर पर / गोल स्याह खुरदरा
बहुत बड़ा सिफर एक / लेटा है खामोश।

जहाँ तक ऐंद्रिय-बोध संपन्न बिम्बों का प्रश्न है, मुक्तिबोध के काव्य में यद्यपि रूपाश्रित बिम्बों का प्राधान्य हैं किन्तु साथ-साथ ध्वनि, स्पर्श आदि बिंम्बों का भी प्रचुर सद्भाव है। उदाहरणार्थ ध्वनि रूप और स्पर्श का एक संश्लिष्ट बिम्ब इस प्रकार है—

भुसभुसे उजाले का फुसफुसाता षड्यंत्र।

इन स्वीकृत शास्त्रीय बिम्बों के साथ-साथ कवि ने अपने आधुनिक बोध के बल पर इस वैज्ञानिक युग का परिचय देने वाले अनेक सशक्त और नितान्त मौलिक बिम्बों का भी प्रयोग किया है। मुसकराने वाले विज्ञापन, धधकते हुए पोस्टर, मोर्टार, आर्टिलरी, लकड़ी का रावण आदि इसी प्रकार के कवि विरचित नितान्त मौलिक बिम्ब हैं:

इस प्रकार एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

उनके पीछे चल रहा / संगीन नोकों का चमकता जंगल,
चल रही पदचाप, ताल-बद्ध दीर्घ पाँत / टैंक-दल, मोर्टार, आर्टिलरी, सन्नद्ध
धीरे-धीरे बढ़ रहा जुलूस भयावना, / सैनिकों के पथराए चेहरे
चिढ़े हुए, झुलसे हुए, बिगड़े हुए गहरे।

इस सम्बन्ध में हमें एक दो बातें ध्यान रखनी होंगी। पहली तो यह कि मुक्तिबोध के बिम्ब काव्य की सामाजिक अनुभूति की साधनता के कारण विद्रूप बन गए हैं क्योंकि कवि उनका यथावत् चित्रण नहीं करता बल्कि अपने कटु अनुभवों के माध्यम के रूप में ग्रहण करता है और दूसरी बात यह है कि वह कटु यथार्थ को ही इनके साधन से मूर्त रूप देता है। इस आधार को समझ लेना चाहिए। तभी उनकी गहराई तक पहुंच संभव हो सकती है।

२. **प्रतीक योजना**–मुक्तिबोध अपनी 'फेंटेसी' में प्रतीकों के माध्यम ग्रहण करते हैं और प्रतीकों को मानवीकरण और प्रतिमाओं से सजाते हैं। भाव यह कि जहाँ उनके बिम्बों में प्रतीकात्मक वैशिष्ट्य है वहाँ उनके प्रतीकों में बिम्बों का गुणात्मक वैशिष्ट्य भी है। आश्चर्य है कि मुक्तिबोध का व्यवहृत एक ही शब्द (कोई भी) अपने आप में बिम्ब भी है और प्रतीक भी। कला के क्षेत्र में ऐसी सिद्धि सम्भवतः अभी तक किसी अन्य कवि को प्राप्त नहीं हो सकी है। इस क्षेत्र में मुक्तिबोध अकेले हैं–दूसरा कोई कवि अभी तक टक्कर में नहीं आ पाया हैं।

मुक्तिबोध के मन पर पौराणिक प्रतीकों और अधिक कल्पनाओं का गहरा प्रभाव है। 'रावण' को जलाए जाने वाले काठ के मन के रूप में चित्रित करते हैं जो हमारे पारम्परिक मरे हुए दहनासुर सामूहिक व्यक्तित्व की प्रतिमा मात्र रह गया है। दशेन्द्रियाँ उसके दस सिर है और वह निश्चेष्ट अचेत संज्ञाशून्य जड़वत् हो गया है। इस बदलते हुए युग का द्रष्टा मात्र। उसकी आँखों के नीचे की दुनिया एक कुहासे के कंबल के नीचे हलचल और आन्दोलन करती हुई दिखाई देती है। इसी प्रकार 'ब्रह्मराक्षस' हमारा पौराणिक और अचेतन मन है जो हमारे समाज के अश्वत्थ वृक्ष पर बैठा हुआ है। 'औराँगउटाँग, हमारी नैसर्गिक अविकसित दुर्दमनीय पाशवी वृत्तियों की मूर्ति है। मुक्तिबोध गांधी और तिलक के पुतलों को भी प्रतीक के रूप में प्रयुक्त करते हैं और अपना अर्थ पाठक तक पहुंचा देते हैं। इसी प्रकार लोककथाएं, किंवदन्तियां, मुहावरे लोकोक्तियाँ, कपड़े फाड़ती हुई नारी, गांधी जी की टूटी चप्पल, घुग्घू, शादी, बारात, सिफर आदि सब के सब उनके उपकरण प्रतीक बन जाते हैं। 'डूबता चाँद' नष्टप्रायः परंपराओं वाले युगादर्श का प्रतीक है, 'चाँद का मुँह' टेढ़ा प्राचीन सौंदर्याभिरुचि के विघटन का सूचक है और 'शून्य' बर्बर आदिम प्रवृत्ति है। एक उदाहरण 'शून्य' से–

भीतर जो शून्य है / उसका एक जवड़ा है,
जवड़े में मांस काट खाने के दाँत हैं;
उनको खा जाएंगे, / तुमको खा जाएंगे

इन नवीन प्रतीकों के साथ-साथ मुक्तिबोध के काव्य में अनेक परम्परागत शास्त्रीय प्रतीक भी अपने नये आयाम एवँ आधुनिक गरिमा को लेकर व्यवहृत हुए हैं। 'धूमकेतु' (मेरी आंखों में धूमकेतु नीचे) अनिष्ट का प्रतीक है, 'एकलव्य' (मैं एकलव्य हूँ जिससे ज्ञान के बंद दरवाजे से ही प्राणाकर्षक प्रकाश देखा है) एकांतिक साधना और आस्था का प्रतीक है तथा 'उल्का' (उल्काओं की पंक्तियाँ काव्य बन गई) ध्वंस का प्रतीक है। कुछ अन्य प्रतीक इस प्रकार हैं–'चौराहे' (मुझे कदम कदम पर चौराहे मिलते हैं) विभिन्न सिद्धान्तों और तर्कवाद के लिए प्रयुक्त हुआ है, 'स्याह' उदासी के लिये और 'घुग्घु' सर्वनाश के लिए प्रयुक्त हुआ है।

३. **मिथ**–मुक्तिबोध के प्रतीक अधिकांशतः मिथों का सृजन करने वाले हैं। उदाहरण के लिये जब मुक्तिबोध कहते है कि 'मानस मस्तिष्क में से निकले हुए कुछ ब्रह्मराक्षसों ने गांधीजी की टूटी चप्पल पहन ली'–तो वे एक प्रतीक को जन्म देते हैं किन्तु जब वे इस को एक घटना का रूप दे देते हैं तो मिथ का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है–

मानव मस्तक में से निकले / कुछ ब्रह्मराक्षसों ने पहनी / गांधी जी की टूटी चप्पल,
हरहरा उठा यह पीपल तन / हँस पड़ा ठठाकर, गर्जन कर, गाँव का कुआँ।

तब दूर, सुनाई दिया शब्द 'हुआ' 'हुआँ' !

यहाँ पीपल के हरहरा उठने से मिथक की सृष्टि होने लगती है। हम ऊपर यह कह आए हैं कि इस कवि के मन पर पौराणिक प्रतीकों और मिथक कल्पनाओं का गहरा प्रभाव है। 'लकड़ी का बना रावण' 'ब्रह्मराक्षस' और दिमागी गुहान्धकार का औराँगउटाँग' आदि कविताओं में हम मिथक-सृष्टि का अविरल प्रवाह पाते हैं।

४. **अप्रस्तुत योजना**–मुक्तिबोध ने इस दिशा में भी अपने गहन व्यक्तित्व का गहन परिचय दिया है। उन्होंने अप्रस्तुतों के क्षेत्र में यद्यपि विकसित प्रगतिवादी एवं प्रयोगवादी अप्रस्तुतों का पर्याप्त प्रयोग किया, है किन्तु अंधानुकरण उनमें नहीं है। अपनी मौलिकता एवं नवीनता को अक्षुण्ण बनाए रखते हुए उन्होंने इस प्रकार के प्रतीकों को नवीन संदर्भों में प्रयुक्त किया है। अधिकांश अप्रस्तुतों की पृष्ठभूमि में तीव्र यथार्थ बोध ने काम किया है। इस प्रकार हम कह सकते है कि उनके प्रत्येक प्रयुक्त अप्रस्तुत का कोई न कोई संदर्भ है। कोई भी अप्रस्तुत अकारण नहीं है। एक उदाहरण है–

बेचैनी के साँपों को मैंने छाती से"रगड़ा है।

यहाँ बेचैनी के लिए साँप–एक बहुत ही उपयुक्त अप्रस्तुत है। मुक्तिबोध ने कुछ चौंका देने वाले अप्रस्तुतों की भी सृष्टि की है। उदाहरणार्थ–'आत्मा की कुतिया', 'आँतों के जालों से' आदि। कुल मिलाकर कहना होगा कि मुक्तिबोध के अप्रस्तुत सर्वत्र व्यंजक है, उनमें मौलिकता भी है और उनमें औचित्य का पूर्ण सहभाव विशेष द्रष्टव्य है।

५. **भाषा शैली**–मुक्तिबोध के अनुसार भाव के साथ ही भाषा भी बदल जाती है। अभिव्यक्ति के स्तर तक आते आते मनोमय तत्त्वों में परिवर्तन हो जाता है और स्वाभाविक रूप से भाषा में भी कुछ परिवर्तन आ जाता है। यह मान्यता उनके काव्य पर सर्वत्र लागू होती है। मुक्तिबोध की कविताओं में काव्य विषय के अन्तर से भाषा के परिवर्तन के स्तर को समझा जा सकता है। यहाँ हम दो उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। पहला उदाहरण 'नाश देवता' शीर्षक कविता से है और दूसरा 'एक आत्मवक्तव्य से–

(अ) **हे रहस्यमय, ध्वंस महाप्रभु जो जीवन के तेज सनातन,**
तेरे अग्निकणों से जीवन, तीक्ष्ण बाण से नूतन सर्जन।
हम घुटने पर, नाश देवता ! बैठ तुझें करते हैं बंदन,
मेरे सिर पर एक पैर रख नाप तीन जग तू असीम बन।

(आ) **अंधियाली गलियों में घूमता है, / तड़के ही रोज**
कोई मौत का पठान / माँगता है जिन्दगी जीन का ब्याज;
अनजाना कर्ज / मांगता हैं चुकारे में, प्राणों का मांस।

मुक्तिबोध के काव्य में अज्ञेय की ही भाँति अनेक संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है, किन्तु काव्य के अनेक स्थल ऐसे भी हैं जिनमें एक भी संस्कृत तत्सम शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। अंग्रेजी के अनेक शब्द भी इनके काव्य में आ गए हैं ऐसे अधिकांश शब्दों का अप्रस्तुतों के रूप में प्रयोग हुआ है। अरबी फारसी शब्दों के प्रयोग की ओर से भी कवि ने अपना मुँह नहीं मोड़ा है। उनकी 'मूल गलती' शीर्षक एक कविता में इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग विशेष द्रष्टव्य है–

दिल में अलग ज बड़ा अलग दाढ़ी लिये,
दुमुंहेपने के सौ तजुर्बों की बुजुर्गों से भरे,
दढ़ियल सिपहसालार संजीदा सहम कर रह गये ! !

जहाँ तक विद्रूप के वर्णन का प्रश्न है, ऐसा करते समय कविवर मुक्तिबोध ने अधिकांशतः देशज शब्दों का ही अधिक प्रयोग किया है।

भाषा के सम्बन्ध में मुक्तिबोध का विशिष्ट प्रयोग ध्वन्यात्मकता है। खून का टप्प टप्प टपकना, टाइप का 'तड़ तड़ तड़ातड़ तड़' करके टंकित होते हृदय का ठक्-ठक' करना, फड़फड़ाते पक्षियों की बीट का 'टिप टिप' करना आदि शब्दों का ध्वन्यात्मक प्रयोग मुक्तिबोध ने पूरे साफल्य से किया है। फिर भी यह कहा जाता रहा है कि मुक्तिबोध के गद्य की भाषा सधी हुई, तर्कोपयुक्त तथा प्रांजल है और उनके काव्य की भाषा ऐसी नहीं है। वह सूक्ष्म सौन्दर्य से वंचित लगती है। उसमें वैदिक शब्द के ठीक पास उर्दू का एक शब्द आसानी से मिल जाएगा और खटकेगा नहीं—

किन्तु, आज इस रात बात अजीब है। / वही जो सिर फिरा पागल कतई था
आज एकाएक वह / जागरित बुद्धि है, प्रज्वलित् धी है।

और कहना होगा कि यही उनकी अतिशय मौलिकता है, नया शिल्प है। उनका द्वन्द्व, उनका आत्म संघर्ष, उनका चिन्तन, उनका व्यक्तित्व इस शिल्प में साकार और स्पष्ट है। सर्वत्र उनके शिल्प में, उनकी अभिव्यक्ति-शैली में एक सुनियोजन है, सुव्यवस्था है। एक ओढ़ी हुए गरिमा उसमें न हो, जीवन की अभिव्यक्ति का और कथ्य व अनुभूति का सारभूत तत्त्व इस शिल्प में अवश्य है। इस निपट सीधेपने के लिए मुक्तिबोध सदैव स्मरणीय रहेंगे। पर उनका यह निपट सीधेपन वाला अन्तः प्रतीकों, अप्रस्तुतों, बिम्बों, मिथों से, भरा-पूरा शिल्प जहाँ उनकी शक्ति है; वहाँ सामान्य पाठक की दृष्टि से एक सीमा भी बनकर रह गया है। उसकी गहरी तह तक पहुँच पाना तो दूर की बात है, सामान्यतया प्रबुद्ध काव्य-पाठक उसकी ऊपरी व्यंजकता को भी प्रायः कठिनता से ही हृदयंगम कर पाता है। इस बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अच्छे-अच्छे प्रबुद्ध पाठक तक कहते सुने जाते हैं कि उन्होंने मुक्तिबोध को एक बार पढ़ा" फिर दूसरी बार पढ़ा—और छोड़ दिया कि पढ़ ही लेने से क्या होने वाला है। यह सीमा निश्चय ही भाव-सम्प्रेषण की एक ऐसी बाधा है, जिसका अब कोई भी परिहार सम्भव नहीं है।

oo

५. मुक्तिबोध के काव्य में बिम्ब-सृष्टि

प्रश्न ५—मुक्तिबोध के काव्य में विम्ब सुष्टि की विशेषताएँ बताइये ?

कवि की भाषा प्रधानतः बिम्बों की भाषा होती है; वह अपने 'अनुभूत प्रभाव' को बिम्बों के माध्यम से दृश्य और ऐन्द्रिय बनाकर प्रस्तुत करता है जिससे पाठक कवि की संवेदना को सहज ही ग्रहण कर लेता है। मुक्तिबोध का काव्य बिम्ब-योजना की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। आरम्भ में उनके बिम्बों में छायावादी बिम्ब-सर्जना का प्रभाव दृष्टिगत होता है। 'आत्मा' के मित्र मेरे' कविता में साँझ और उषा को अप्सरा मानकर उन्हें नवयौवना नारी के मूर्त बिम्ब द्वारा मूर्तित किया गया है—

अप्सराएँ साँझ-प्रातः / मृदु हवा की लहर पर से सिन्धु पर रख अरुण तलुए
उतर आतीं, कान्तिमय नव हास लेकर।

आगे चलकर उन्होंने अधिकांश बिम्बों को दैनंदिन जीवन की वस्तुओं, दृश्यों और घटनाओं से लिया है। नई कविता की तरह उनके बिम्ब गढ़े हुए नहीं हैं; वे अनगढ़ हैं—न उन पर पालिश है और न वे खराद पर चढ़ाये गये हैं। प्रकृति से जो बिम्ब चुने गये हैं उनमें भी अनगढ़, रूक्ष, सुनसान प्रकृति को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। मानव-हृदय की जटिलता को एक प्राकृतिक गुहा के बिम्ब द्वारा रूपायित किया गया है—

भूमि की सतहों के बहुत नीचे / अँधियारी एकान्त / प्राकृत गुहा एक।

विस्तृत खोह के साँवले तल में / तिमिर को भेदकर चमकते हैं पत्थर।

उनके काव्य में प्रयुक्त तालाब, बूढ़ा बरगद, बावड़ी, खण्डहर, घण्टाघर, चौराहा, गलियाँ आदि आर्केटाइपल बिम्ब बनकर नानार्थक प्रतीकों और मिथकों में खुलते चले गये हैं। आदिम जीवन से चुने गये उपकरण—बरगद की घनी शाखाओं की गठियल मेहराब और परित्यक्त सूनी बावड़ी, भूत-प्रेत ब्रह्मराक्षस आदि के बिम्बों के साथ मिलकर आदिम वन्य जीवन के भयपूर्ण वातावरण को साकार कर देते हैं। "ब्रह्मराक्षस का बिम्ब इतिहास की अन्वीक्षा-वृत्ति का प्रेत है या इतिहास की दमित अन्वेषण-एषणा या दमित अन्वीक्षा है जो इतिहास-मन की बावड़ी के गहरे अवचेतन या अन्ध अचेतन में कैद रहने के लिए अभिशप्त है।" सैनिक शासन से सम्बद्ध बिम्ब भी आतंक सृष्टि में सहायक हुए हैं—

गगन में करफ्यू है / धरती पर चुपचाप जहरीली छिः पूः है।

पीपल के खाली पड़े घोंसलों में पक्षियों के / पैठे हैं खाली हुए कारतूस।

उनके काव्य में एक ओर विज्ञान और गणित से बिम्ब ग्रहण किये गये हैं तो दूसरी ओर साहित्य, व्याकरण और भाषा-विज्ञान से। रेडियो-एक्टिव मणियाँ, नीले इलेक्ट्रान, प्रक्षेपणास्त्र, समीकरणों के गणित की सीढ़ियाँ यदि प्रथम क्षेत्र से अपनाये हैं तो निम्नांकित पंक्तियों में प्रयुक्त बिम्ब दूसरे क्षेत्र से लिया गया है—

किसी काले डैश की घनी काली पट्टी ही / आँखों में बन्ध गई

किसी खड़ी पाई की सूली में / टाँग दिया गया।

मुक्तिबोध के काव्य में सर्वाधिक बिम्ब दृश्य-बिम्ब हैं। उनकी रंग-चेतना अधिक विकसित है, अतः उनके काव्य में काले और साँवले के अतिरिक्त भूरे, खाकी, पीले, लाल, नीले, धुँवाले, मटमैले, गोरे, गेरुए, मोतिया, चम्पई, गुलाबी और सुनहले रंगों के बिम्ब मिलते हैं। सुनसान साँवले चौराहे, वीरान गेरुआ घण्टाघर, कत्थई गुम्बद, पीले घड़ी-चेहरे उनके काव्य में सहज़ ही देखे जा सकते हैं। उनकी चाँदनी संवलाई हुई है जिसके ओठ तक काले पड़ गये हैं। उनके काव्य में वातावरण की रहस्यमयता और भयानक रोमाँचकता को मूर्त करने के लिए बिम्बों की सृष्टि की गई है वे अत्यन्त सटीक और सफल हैं। चाँद की किरणें जासूस हैं, भयानक काला लवादा ओढ़े, स्याह परदे से ढका चेहरा, ठण्डे स्पर्श वाला अनजाना व्यक्ति भय और सनसनाहट को स्पष्ट रूपायित कर देता है। मुक्तिबोध की बिम्ब-सृष्टि में बीभत्स और विराट् बिम्ब भी मिलते हैं—

फिर भी, यशस्काय दिक्काल सम्राट / तुम कुछ नहीं हो, फिर भी हो सब कुछ !

X X X

ओ नट-नायक, सारे जगत पर रोब तुम्हारा है।

मुक्तिबोध का बिम्ब-संसार दृश्यों, ध्वनियों, गतियों, स्पर्शों और गन्धों का संसार है। 'ब्रह्मराक्षस' कविता में ब्रह्मराक्षस की स्नान-प्रक्रिया ध्वनि-बिम्बों द्वारा मूर्त हो गई है—

ब्रह्मराक्षस / घिस रहा है देह / हाथ के पंजे बराबर / बाँह-छाती-मुँह छपाछप।

मुक्तिबोध में संश्लिष्ट बिम्ब-निर्माण की शक्ति अद्भुत् है। अंधेरे में चमकती हुई मणियों से निसृत प्रकाश की कल्पना बहते हुए जल से कर तथा खोह की बेडौल भीतों पर चमकने वाली प्रकाश-किरणों की झिलमिल को दर्शाकर पाठक के मन में एक विवृत बिम्ब की सृष्टि की गई है—

झरता है जिनपर प्रबल प्रपात एक / प्राकृत जल वह आवेग भरा है;

द्युतिमान मणियों की अग्नियों पर से / फिसल-फिसल कर बहती लहरें।

उनके बिम्ब बड़े शक्तिशाली हैं, अतः प्रत्येक चित्र को अर्थपूर्ण और चित्रमय बना देते हैं। प्रत्येक बिम्ब कथ्य को अधिक स्पष्ट और सुदृढ़ बना देता है। उनकी शिल्प-शक्ति के पीछे प्रखर बिम्ब-योजना का योगदान निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है। बिम्बों की नवीनता और मौलिकता उनकी

एक अन्य उपलब्धि है। उनके बिम्ब ठोस विचारों से प्रेरित और अर्थपूर्ण होते हैं; वे अपने-आप में पूर्ण न होकर किसी अगले बिम्ब से जुड़कर अर्थ को और भी गहन बना देते हैं। उनके बिम्बों में प्रतीकार्थ भी होता है; उनके अधिकांश बिम्ब केवल दृश्यांकन के लिए प्रयुक्त न होकर प्रतीकार्थ को समेटे हुए हैं, अतः जीवन के गतिमान सत्य को पाठक के सामने प्रस्तुत करते हैं। अतः मुक्तिबोध का बिम्ब-विधान केवल कविता का अलंकरण नहीं है, वह सृजन के स्तर पर है, सूक्ष्म, जटिल सबेदनों को संप्रेषित करने के लिए हूआ है, कवि की आन्तरिक विवशता का परिणाम है। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में चाँद के मुँह का टेढ़ापन प्रतीक बनकर आया है। इस चाँद की चाँदनी में षड्यन्त्र है, राजनीतिक हलचल है, पोस्टरवाज़ी है। भैरव विद्रोह का प्रतीक है तो बरगद इतिहास-बोध का संकेत देता है। सारांश यह कि मुक्तिबोध के काव्य-बिम्बों में विविधता, मौलिकता और नवीनता तो है ही साथ ही वे कवि की काव्य-प्रक्रिया का अभिन्न अंग हैं, उसकी अन्तरंग उपज हैं, बाहर से थोपे गये नहीं हैं।

आद्य बिम्ब–अचेतन मानस में सोचने और अनुभव करने के कुछ ढंग ऐसे हैं जिन्हें हम प्रागैतिहासिक पूर्वज़ों से आनुवंशिक रूप में आया हुआ मानते हैं। सामूहिक अचेतन का निर्माण अनिवार्यतः आद्यरूपों ; ।तबीमजलचमेद्ध से होता है। ये आद्यरूप देशकाल-निरपेक्ष होते हैं। आद्यरूपों की अभिव्यक्ति स्वप्न-बिम्बों आदि के माध्यम से व्यक्त होते हैं, इसीलिए कहा गया है कि आद्यरूप स्वतः अव्यक्त होते हुए भी आद्यबिम्बों द्वारा दृश्य हो सकता है। कवि के हृदय में पूर्वसंचित सौन्दर्यानुभवों की राशियाँ आद्यरूपों को ध्वनित करती हैं और विभिन्न बिम्बों के रूप में अभिव्यक्त होती हैं। सारांश यह कि आद्यबिम्ब आद्यरूप का अभिव्यक्त रूप है।

मुक्तिबोध के काव्य में समुद्र, बावड़ी, जल आदि के बिम्ब अनेकशः प्रयुक्त हुए हैं। वे सब अचेतन के द्योतक आद्यबिम्ब हैं। अचेतन-ग्रस्त अहं को ब्रह्मराक्षस और उसकी द्वन्द्वात्मक स्थिति का चित्रण बावड़ी की सीढ़ियाँ चढ़ने और उतरने की क्रिया द्वारा किया गया है। जल की समता प्रायः दर्पण से की जाती है, अतः मुक्तिबोध अचेतन के लिए दर्पण का भी चुना है। 'अंधेरे में' कविता में जलोद्भूत श्वेत आकृति चेतन व्यक्तित्व को हतप्रभ कर देती है क्योंकि अहं के लिए अचेतन सामग्री प्रायः क्षोभक होती है। चेतन अहं अचेतन की अंधी गहराइयों से नये-नये रचनात्मक विचारों और प्रत्ययों के कमल प्राप्त करता है–

संवलाये कमल जो खोहों के जल में / भूमि के पाताल-तल में
सुझाव-संदेश भेजते रहते।

मुक्तिबोध के काव्य में रात्रि एवं अंधेरा व्यक्तिगत अचेतन के द्योतक हैं–

उठने दो अंधेरे में ध्वनियों के बुलबुले।

युग के अनुसार, गुहा, वापी आदि खोखली संरचनाएँ अवचेतन की प्रतीक हैं। गुहा वह स्थल है जहाँ व्यक्ति व्यक्तित्वान्तर के लिए बन्द होता है, अतः उसे अचेतन के सृजनात्मक पक्ष का प्रतीक भी कहा जा सकता है। अचेतन पूर्णतया स्वायत्त है, वह सचेतन प्रयास से नहीं, अनायास खुलता हैं। मुक्तिबोध के काव्य में भी "तिलिस्सी खोह का शिला-द्वार खुलता है धड़् से" और उसके खुलते ही 'रक्तालोक-स्नात पुरुष' के दर्शन होते हैं जो आत्मा की प्रतिमा है। 'अंधेरे में' का नायक खड्डे के अंधेरे में पड़े रहकर प्रगति-क्रान्ति की संभावनाओं को टालना चाहता है, पर 'तम-शून्य' की द्युति-आकृति उसे बरबस प्रगत्युन्मुख करती है।

जल की तलहटी में डूबा या गुफा में छिपा चमकीला मणि-रत्न एक आद्यबिम्ब है। मुक्तिबोध व्यक्तित्वान्तरण के लिए अचेतन में निर्वासित श्रेयस्कर गुणों–ज्ञानात्मक संवेदन या संवेदनात्मक ज्ञान को आवश्यक मानते हैं और उसको मणि के बिम्ब द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

वृक्ष बहुप्रयुक्त मातृ-बिम्ब है। अनेक पुराकथाओं में मानव वृक्षों से जन्म लेते हैं। मुक्तिबोध ने उसे अचेतन का प्रतीक बताया है। 'अंधेरे में' बरगद के नीचे सिर-फिरा जन अचेतन में बैठी आत्मा का प्रतीक है, आध्यात्मिक उद्विग्नता का बिम्ब है। 'मेरे सहचर मित्र' में अक्षयवट चित्त की धारणात्मक शक्ति का प्रतीक है। प्रतिगति के क्षणों में वही मानवीय अनुभवों को धारण करता है।

इस प्रकार मुक्तिबोध के काव्य में समुद्र, बावड़ी, तालाब, रात्रि, अंधकार, गुहा, घाटी, खड्ड, धरती, वृक्ष, दर्पण आदि अचेतन के प्रसिद्ध आद्यबिम्ब हैं। उसके द्वारा लेखक ने मानवीय व्यक्तित्व के उस अंधकारमय पक्ष की अभिव्यक्ति की है जिसकी यात्रा किये बिना कोई भी कयित्री प्रतिभा सफल नहीं हो सकती।

युंग के मनुष्य के समग्र और अज्ञेय व्यक्तित्व को आत्म कहा है और इस चवत्तीय समग्रता की उपलब्धि-प्रक्रिया के सन्दर्भ में छाया, माया, आप्तपुरुष के आद्यबिम्बों का विवेचन किया है। मुक्तिबोध के काव्य में भी इन आद्यबिम्बों का प्रयोग हुआ है। उन्होंने व्यक्तित्व के दमित, हीन पक्ष का चित्रण करने के लिए दस्यु, डाकू, काला स्याह चेहरा के बिम्ब प्रस्तुत किये हैं जो छाया के ही नाना रूप है। 'अंधेरे में' मार खाया चेहरा, स्लेट-पट्टी पर खींची गई भूत जैसी आकृति व्यक्तित्व के हीन पक्ष का चित्रण करती है, तो शृंगाल, श्वान, मार्जार, रीछ, गिद्ध, घुग्घू, सर्प आदि मानव की पाशवी वृत्तियों को बिम्ब-रूप में प्रस्तुत करते हैं—

कुत्तों की दूर-दूर अलग-अलग आवाज़ / टकराती रहती सियारों की ध्वनि से।

इनके साक्षात्कार के लिए अपनी प्रकृति की सचेतन आलोचना अनिवार्य है। इस साक्षात्कार के अभाव में ये मानवीय सम्बन्धों को दूषित कर देती हैं।

अचेतन की सृजनात्मक शक्ति भी अद्‌भुत् है; वह सामाजिक सांस्कृतिक निर्माण की, आदर्शों की, स्वतन्त्रता, क्रान्ति की प्रेरणा देती है। मुक्तिबोध ने कहीं उसे 'माँ' कहा है और कहीं प्रणयिनी—

अज्ञात प्रणयिनी कौन थी, कौन थी ?

X X X

क्या कोई प्रेमिका सचमुच मिलेगी ?

हाय ! यह वेदना स्नेह की गहरी / जाग गयी क्योंकर ?

आप्तपुरुष एक ओर ज्ञान, अन्तर्दृष्टि, प्रज्ञा और दूसरी ओर शुभ संकल्प एवं सहयोग जैसे नैतिक गुणों का प्रतिनिधित्व करता है। मुक्तिबोध के काव्य में पक्षी, महापुरुष—तिलक, गांधी आदि, आप्तपुरुष से सम्बद्ध आद्यबिम्ब हैं जो कहीं कोई रहस्य बताते हैं, कहीं कर्म की प्रेरणा देते हैं और कहीं आत्मज शिशु सौंपते हैं। आप्तपुरुष के ये बिम्ब प्रायः उसे उज्ज्वल पक्ष का ही प्रतिनिधित्व करते हैं।

मनोविज्ञान में व्यक्तित्व की पूर्णता को आत्म कहा गया है। आत्म की यह अनुभूति मनुष्य को अहंग्रस्त चेतना से मुक्त कर व्यापकतर और गम्भीरतर चेतना को जन्म देती है। इसके लिए विराट् पुरुष के बिम्ब की योजना की गई है। 'अंधेरे में' कविता में अनेक बार प्रकट होने वाले पुरुष को 'परिपूर्ण का आविर्भाव' एवं 'आत्मा की प्रतिमा' कहा गया है। वह नायक का परम उत्कर्ष और गुरु है। अन्य कविताओं में आत्म के लिए पवन, सूर्य, आत्मदीप, कमल, शिशु आदि के बिम्ब प्रस्तुत हुए हैं। शिशु भावी व्यक्तित्वान्तर् का, चेतन-अचेतन के समन्वय का द्योतक है। उसका रुदन प्रतिपालन-दायित्व की माँग का प्रतीक है।

आत्म के लिए मुक्तिबोध ने ज्यामितीय और गणितीय बिम्बों—वृत्त, चतुष्क, चक्र, त्रिकोण आदि का भी प्रयोग किया है—

रात में पीले हैं चार घड़ी चेहरे

मिनिट के कांटों की चार अलग गतियाँ / चार अलग कोण।

चौक पर गोल त्रिकोणाकार बन्दूक जत्था आन्तरिक द्वन्द्वों के समन्वय का सूचक है। मुक्तिबोध की विशेषता है कि मार्क्सवादी और अस्तित्ववादी दर्शन से प्रभावित होते हुए भी उन्होंने भारतीय बिम्बों का प्रयोग किया है, उसका पुनस्सृजन किया है।

००

६. मुक्तिबोध के काव्य में प्रतीक-विधान

प्रश्न ६–मुक्तिबोध के काव्य में प्रतीक विधान पर विचार कीजिए।

मुक्तिबोध के काव्य में प्रतीक काव्य-शिल्प का उपादान पात्र नहीं है। उन्होंने अपनी संवेदना को व्यक्त करने के लिए प्रतीक-प्रयोग को आवश्यक समझकर उनका प्रयोग किया है। आज की युग-चेतना अधिक जटिल, संकुल और उलझी हुई है। अपने युगीन यथार्थ और अन्तश्चेतना के यथार्थ को मूर्त करने के लिए प्रतीकों का प्रयोग अत्यावश्यक हो गया है, अतः अपनी जटिल और सूक्ष्म अनुभूति को व्यक्त करने के लिए ही मुक्तिबोध ने प्रतीकों का आश्रय लिया है। इसीलिए जिन प्रतीकों का प्रयोग उनके काव्य में हुआ है वे वर्तमान जीवन के संघात से जन्मे हैं।

मूलतः प्रतीक दो प्रकार के होते हैं—परम्परागत और नवीन या वैयक्तिक प्रतीक। मुक्तिबोध ने अपने अमूर्त भावों को व्यक्त करने के लिए नये प्रतीकों का प्रयोग किया है अथवा परम्परागत प्रतीकों को नया अर्थ प्रदान किया है। इतिहास, पुराण अथवा अपनी संचित स्मृति से प्रतीकों को ग्रहण कर उन्होंने उन्हें आधुनिक सन्दर्भ प्रदान किया है। एकलव्य, अर्जुन आदि के पौराणिक प्रतीक नये संदर्भ में प्रयुक्त हुए हैं—

मैं एकलव्य जिसने निरखा / ज्ञान के दरवाजे की दरार से ही
भीतर का महा-मनोमन्थन-शाली मनोज / प्राणाकर्षक प्रकाश देखा।

अक्षयवट, तक्षक, पन्नादाई, शिवाजी आदि पौराणिक—ऐतिहासिक प्रसंगों का प्रतीकात्मक प्रयोग नये सन्दर्भ में किया गया है। 'लकड़ी का बना' रावण' अहंग्रस्त, खोखले, निस्सार व्यक्तित्व का प्रतीक है जो अपने अहंकार के कारण स्वयं को महान समझता है, पर जो किसी भी क्षण धराशायी हो सकता है। नये प्रतीकों का प्रयोग उनकी प्रसिद्ध कविता 'अंधेर में' सर्वाधिक हुआ है। यहाँ अंधेरा सामाजिक अव्यवस्था को भी व्यंजित करता है और कवि के मनोजगत् में छाई अमूर्त निबिड़ता को भी। रक्तालोक-स्नात पुरुष निरन्तर संघर्ष करने वाले संस्कृति-पुरुष का प्रतीक है जो मध्यम वर्ग का आदर्शवादी और दृढ़ चरित्र है तथा जीवन की सुविधाओं से समझौता नहीं करता। शिशु ऐतिहासिक दायित्व का प्रतीक है, सूरजमुखी के गुच्छे दायित्व-बोध की प्रसन्नता के प्रतीक हैं तो रायफल कर्मण्यता की प्रतीक है। अरुण कमल एक ओर कवि की पूर्ण संभावनाओं का प्रतीक है तो दूसरी ओर नयीं अर्थवत्ता से युक्त भाषा के आदर्श रूप की ओर संकेत करता है—

मैं वंह कमल तोड़ लाया हूँ / भीतर से इसलिए गीला हूँ / पंक से आवृत्त।

यहाँ कमल जीवन की कटुताओं से संघर्ष करने के उपरान्त प्राप्त होने वाले ज्ञानमय विवेक या जीवन-सत्य का प्रतीक है। अवचेतन मन की गहनता एवं निबिड़ता को व्यक्त करने के लिए उन्होंने 'चम्बल की घाटी' को प्रतीक बनाया है—

अजी यह चम्बल घाटी है, जिसमें / पहाड़ों की बियावान
अजीब उठान और धंसान निचाइयाँ
पठार व दर्रे / और गहरी हैं पथरीली गलियाँ।

ब्रह्मराक्षस अतीत की बौद्धिक चेतना का प्रतीक है जो भविष्य के प्रति समर्पित न होने के

कारण 'तम विविर में मरे पक्षी सा' विदा होता है। वह हमारे पौराणिक अचेतन और अतृप्त मन का भी प्रतीक है जो समाज के अश्वत्थ वृक्ष पर बैठा हुआ है। वह कवि का भोगा हुआ आत्म है जो उपचेतन की संकुलता में कैद है। वह अन्वीक्षा का प्रतीक या प्रेत है जो क्रुद्ध और अभिशप्त है और जिसका संशोधन इतिहास-मन की बावड़ी में हो रहा है—भय, सन्देह, खतरे और अभिशाप के वातावरण में। उसकी संवेदना स्याह है क्योंकि उसे शाप लगा हुआ है। ओरांग-ओटांग हमारी नैसर्गिक अविकसित दुर्दमनीय पाशवी वृत्तियों का प्रतीक है जो व्यक्ति के अवचेतन की अन्धकारमयी आवर्तों में छिपी रहती हैं। सभ्यता का जामा पहने हुए आज के मानव का भी वह प्रतीक हो सकता है क्योंकि जघन्य कार्य और मानवता को नष्ट करने वाले हिंस्र अस्त्र उसके नाखून हैं और झूठे अहं से दूसरों का शोषण करने वाला कार्य उसकी पूँछ है। अतः ओरांग-ओटांग आज के मानव की बर्बरता और हिंसा का प्रतिरूप है। सभ्यता पर संस्कृति की विजय तभी होगी जब दिमागी गुहान्धकार के इस ओरांग-ओटांग को विवेक से सन्दूक में बन्द कर दिया जायेगा। माँ ऐसे व्यक्ति-मन का प्रतीक है जो परम्परा के जीवन्त अंशों को पहचानता है। इसीलिए वह जंगल में बिखरी सूखी टहनियों, डण्ठलों को जो मूल्यवान ज्ञान के प्रतीक हैं बटोरती है। बरगद इतिहास-बोध का प्रतीक है तो भैरों विद्रोही चेतना का और ढहा हुआ मकान परम्परागत रूढ़ मूल्यों के ध्वस्त हो जाने का प्रतीक है।

मुक्तिबोध के काव्य में ऐसे प्रतीकों का भी प्रयोग हुआ है जिनका सम्बन्ध योग-साधना से है, किन्तु उनका अर्थ-सन्दर्भ मनुष्य की अवचेतन मनोभूमि से जुड़ा है। अतः इनके प्रयोग से कविताएँ रहस्यात्मक भले ही बन गई हैं, वे रहस्यवादी नहीं हैं। तिलस्मी खोह, अन्धेरे कमरे, बावड़ी आदि की प्रतीक-योजना उनकी कविता को कुछ दुरूह और जटिल अवश्य बना देती है फिर भी उनके प्रतीक सार्थक हैं, कथ्य को प्रेषणीय बनाने में सहायक हैं और उनके माध्यम से कवि की अनुभूतियों को शिल्प के नये आयाम मिले हैं।

मुक्तिबोध की प्रतीक-योजना की एक अन्य विशेषता यह है कि एक ही प्रतीक कई स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है, पर भिन्न-भिन्न अर्थों में। अतः उनमें एकरसता या अर्थ का दोहराव नहीं आ पाया है। कहीं उन्होंने स्वतन्त्र एवं लघु प्रतीकों का प्रयोग किया है तो कहीं विस्तृत आयाम वाले प्रतीकों का जिनका अर्थ-सन्दर्भ सम्पूर्ण कविता में समाया हुआ है। शिश, रत्नमणि, कमल यदि स्वतन्त्र सन्दर्भ से युक्त हैं, तो ब्रह्मराक्षस, ओरांग-ओटांग, रक्तालोक-स्नात-पुरुष का प्रतीक-सन्दर्भ पूरी कविता में छाया हुआ है। अपने प्रतीकों द्वारा एक ओर मुक्तिबोध अपने कथ्य को स्पष्ट बनाने में सफल हुए हैं और दूसरी ओर उनके कारण उनका काव्य-शिल्प अधिक पैना और धारदार हो गया है। उनके प्रतीकों में अदृश्य, अज्ञेय, अमूर्त और अनन्त को व्यक्त करने की अद्भुत शक्ति है।

००

७. मुक्तिबोध : फैंटसी के कवि

प्रश्न ७–मुक्मिबोध के काव्य में फैंटेसी का प्रयोग विषय के अनुरोध से हूआ है या शिल्पगत प्रयोग के रूप में। युक्तियुक्त उत्तर दीजिए।

मुक्तिबोध ने अपनी पुस्तक 'कामायनी : एक पुनर्विचार' में लिखा है, "यथार्थवादी शिल्प के अन्तर्गत विभाव-पक्ष (वस्तु-पक्ष) का चित्रण होता है और उस पक्ष के आधार पर ही भाव पक्ष का उद्घाटन। इसके विपरीत भाववादी रोमाण्टिक शिल्प के अन्तर्गत भाव-पक्ष का ही चित्रण होता है और विभाव-पक्ष को नेपाल में डाल दिया जाता है" फैंटेसी में विभाव-पक्ष के कल्पना-बिम्ब

प्रतीकात्मक होकर अपनी मूलभूमि में इतने दूर जा पड़ते हैं कि वे विमान-पक्ष का भूगोल और इतिहास छोड़कर उसका दिक्काल त्यागकर, अपना एक स्वतंत्र भूगोल और इतिहास, अपना स्वतंत्र दिक्काल स्थापित कर लेते हैं।''

मुक्तिबोध ने नयी कविता की कलात्मक उपलब्धियों तथा 'कामायिनी' के शिल्प-तंत्र से प्रभावित होकर फैंटेसी के भाववादी शिल्प को अपनाया। हाँ, उन्होंने व्यक्तिवादी चेतना के आक्रान्त अपनी फैंटेसी को और उसके सहायक प्रतीक, बिम्ब, उपमा, रूपक आदि को जनवादी-प्रगतिशील चेतना प्रदान की।

मुक्तिबोध मूलतः फैन्टेसी के कवि हैं। उन्होंने स्वयं कहा है कि फैटेन्सी सृजन-प्रक्रिया की एक महत्त्वपूर्ण इकाई है, ''कला का पहला क्षण है, जीवन का उत्कृष्ट तीव्र अनुभव-क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते-दुःखते हुए मूलों से पृथक् हो जाना और एक ऐसी फैन्टेसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फैन्टेसी अपनी आँखों के सामने ही खड़ी हो। तीसरा और अन्तिम क्षण है इस फैन्टेसी के शब्द-बद्ध होने की प्रक्रिया का आरम्भ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता⋯फैन्टेसी का अनुभव की कन्या है और इस कन्या का अपना स्वतन्त्र विकासमान व्यक्तित्व है। वह अनुभव से प्रसूत है इसलिए वह उससे स्वतन्त्र है।''

मुक्तिबोध फैन्टेसी के माध्यम से अपने परिवेश की भयानकता तथा मनुष्य की दर्दनाक हालत को व्यक्त करते हैं। फैन्टेसी का निर्माण करते समय वह विभिन्न रहस्यमय्र शब्दों को अपनाते हैं जिससे कविता में आद्यन्त रहस्यात्मक वातावरण बन जाता है और उसके मूल में रहते हैं—आतंक, भय, असुरक्षा, उत्पीड़न, की अनुभूति। फैन्टेसी अतार्किक घटनाओं का अवाध प्रवाह लिये होती है अतः उनकी लम्बी कविताओं की बुनावट फैन्टेसी के तारों से हुई है।

मुक्तिबोध की कला फैन्टेसी की कला है। बाहरी कटु यथार्थ के सम्पर्क में आने पर कवि के मन में जो प्रतिक्रिया हुई उसमें कल्पना का योग देकर वह ऐसे चित्र खड़े कर देते हैं जिसमें अद्‌भुत और विलक्षण का रोमांचक योग होता है; वह भयानक रहस्यमयता से भरपूर, दिल दहला देने वाली फैन्टेसी की सृष्टि करते हैं और उसमें अपने विचारों की लड़ियाँ पिरोते चलते हैं। जितना प्रखर उनका यथार्थ-बोध होता है उतनी ही सशक्त फैन्टेसी की रचना होती है। इन फैन्टेसियों में पाठक के मनोजगत् को उद्वेलित करने की असाधारण शक्ति है। विश्व-सम्पृक्ति अन्तर्वर्ती संवेदनशीलता में ढलकर भयानक स्वप्न-संसृति में परिणत हो गयी है।

'लकड़ी का बना रावण', 'ब्रह्मराक्षस' और 'अंधेरे में' उनकी सफल फैंटेसी रचना का ज्वलंत प्रमाण हैं। 'लकड़ी का बना रावण' में वह पूँजीवादी सभ्यता के प्रतिनिधि अहंग्रस्त व्यक्तित्व की खोखली, निस्सार महानता का विश्लेषण करते हैं। पूंजीवाद का प्रतिनिधि सामान्य जन को जनतन्त्री वानर कहता है। रावण की विडंबना थी कि वह परम विद्वान, योद्धा, राजनीतिकुशल और सत्तावान था, पर असभ्य, जंगली वानरों की सेना से परास्त हुआ। इसी प्रकार पूँजीवादी सभ्यता का विनाश जनतन्त्री वानरों के हाथों होगा—यह कवि इस फैन्टेसी द्वारा बताना चाहता है—

हाय, हाय / उग्रतर हो रहा चेहरों का समुदाय

X X X

जड़ खड़ा हूँ / अब गिरा, तब गिरा / इसी पल कि उस पल।

'ब्रह्मराक्षस' में स्वप्न-कथा द्वारा बताया गया है कि अतीत के संचित ज्ञानकोष, अनुभव और विद्वत्ता की सार्थकता इस बात में है कि वह नयी पीढ़ी या भविष्य के प्रति समर्पित हो जाय। ऐसा न होने पर वह ब्रह्मराक्षस की तरह भटकता रहेगा। ज्ञान की अभिव्यक्ति ही मुक्ति है। 'अँधेरे में' कविता अँधेरे से आरम्भ होती है, पर कविता का अन्त होता है 'गैलरी में फैले सुनहले रवि

छोर' से। तिलस्मी खोह में निर्वासित रक्तालोक-स्नात पुरुष जगत की गलियों में विचरण करता है, समष्टि होकर जन-जन में घुल जाता है। रक्तालोक-स्नात पुरुष कवि की अभिव्यक्ति है जो केवल कवि की न रहकर सब की बन जाती है—'स्व' का 'पर' में अन्तर्भाव हो गया है। इस स्वप्न-कथा द्वारा मुक्तिबोध यह बताना चाहते हैं कि कवि-अभिव्यक्ति की सार्थकता इसी में है कि वह सबकी अनुभूति की अभिव्यक्ति हो सके। काव्य का सत्य भी यही है।

मुक्तिबोध ने भयानक फैन्टेसियों की रचना की है क्योंकि वह समाज के भयानक, आतंकपूर्ण, हिंसा से आक्रान्त, पूँजीवाद द्वारा शोषित जनसमूह और उसकी पीड़ा का चित्र अंकित करना चाहते हैं। उनकी फ़ैन्टेसियाँ प्याज के छिल्कों की तरह पर्त-दर-पर्त खुलती जाती हैं, दृश्य फ़िल्म-रील की तरह बदलते जाते हैं और यथार्थ के सजीव चित्र पाठक के सामने उद्घाटित होते चलते हैं। पाठक तीखे, मर्म तक चुभने वाले, तेज धार से युक्त कटु सत्य का साक्षात्कार करता है और वह निर्णय नहीं कर पाता कि जिस कटु यथार्थ को उसने अभी-अभी देखा है वह फैन्टेसी था या जीवन्त प्रत्यक्ष। उनकी फैन्टेसी सामांन्य कल्पना-जीवी फैन्टेसी से विशिष्ट होती है क्योंकि वह मात्र कल्पना के आधार पर अपनी स्वप्न-कथा नहीं बुनते अपितु उसे प्रखर यथार्थ-बोध और गहन जीवनानुभूति से जोड़ देते हैं। उनकी स्वप्न-कथा में संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनाएँ रहती हैं। फैंटेसी के प्रयोग के कारण मुक्तिबोध यथार्थ-चित्रण की दीर्घता से बच जाते हैं; उनके वर्णनों में मितव्ययता और सघनता अपने-आप आ जाती है। भाषा फैंटेसी को काटती-छाँटती है और फैंटेसी भाषा को सम्पन्न और समृद्ध बनाती चलती है, उसमें नये अर्थ-अनुवग भरती है, शब्द को नये चित्र प्रदान करती है, शब्दों और मुहावरों में नयी अर्थवत्ता नयी अर्थ-क्षकता, नयी अभिव्यक्ति भर देती है। फैन्टेसी को कदाचित् इसीलिए उन्होंने काव्य की आत्मा कहा है। इससे तथ्य के विस्तार की सुविधा होती है। रावण, ब्रह्मराक्षस, शुनःशेप, लाक्षागृह आदि की पौराणिक कथाओं और प्रतीकों का आधुनिक जीवन की समस्याओं के भाष्य के लिए प्रयोग इसका उदाहरण है। भयानक वास्तव का चित्रण और सामना करने में उन्होंने फैंटेसी से जो काम लिया है वह उनके फैंटेसी-प्रयोग की सफलता का परिचायक है। पुराख्यानों का नवीन सन्दर्भों में अर्थ बतलाने की दृष्टि से मुक्तिबोध अंग्रेजी कवि ब्राउनिंग के समकक्ष ठहरते हैं। मुक्तिबोध के लिए फैंटेसी अभिव्यंजना का माध्यम मात्र नहीं है कि जब चाहें अपनाएँ, जब चाहे छोड़ दे; स्वप्न उनके मन की सहज वृत्ति है। यथार्थ को स्वप्न-चित्रों में बदले बिना वह मानों उसे समझ ही नहीं सकते। फैंटेसी के प्रयोग द्वारा वह कभी व्यंग्य-उपहास करते हैं—

उनमें कई प्रकाण्ड आलोचक, विचारक जगमगाते कविगण
मन्त्री भी, उद्योगपति और विद्वान
यहाँ तक कि शहर का हत्यारा कुख्यात / डोमा जी उस्ताद।

तो कभी करुण भावों की सृष्टि करते हैं—

पकड़ कर कॉलर गला दबाया गया। / चांटे से कनपटी टूटी कि अचानक
त्वचा उखड़ गयी गाल की पूरी। / कान में भर गयी
भयानक अनहद-नाद की भनभन।

मुक्तिबोध के काव्य-शिल्प की विशेषता यह है कि उन्होंने लक्षण-व्यंजना, रूपक-उपमा, प्रतीक-बिम्ब आदि के बने-बनाये शास्त्रीय ढांचे को छिन्न-भिन्न करके उन्हें फैंटेसी के माध्यम से एक नयी तरतीब और तहजीब प्रदान की है वस्तुतः यह बुर्जुआ शिल्प का जनवादी शिल्प में रूपान्तरण है। इसीलिए कहा जा सकता है कि भाववादी शिल्प को अपनाने के बावजूद मुक्तिबोध एक यथार्थवादी समाजवादी कलाकार हैं। इसी बात को ठीक से न समझ पाने के फलस्वरूप डॉ० रामविलास शर्मा ने केवल भाषा, फैंटेसी के भाववादी शिल्प तथा कतिपय ऐसे शब्दों को देखकर जो प्रायः रहस्यवादी

या आध्यात्मिक सन्दर्भों में प्रयुक्त हुए हैं उन पर आरोप लगाया कि वह रहस्यवादी या अस्तित्ववादी हैं या उनके काव्य में मध्यवर्गीय व्यक्तिवाद की गंध आती है। पर सचाई यह है कि फैंटेसी का शिल्प के रूप में प्रयोग करने के बावजूद मुक्तिबोध जन-चेतना के कवि हैं। उनकी फैंटेसी के रंग जीवन-तथ्यों के रंग से मिलते-जुलते हैं या उन तथ्यों के रंग से अनुस्यूत हैं। फैंटेसी के भाववादी शिल्प को अपनाते हुए भी जीवन को समझने की उनकी दृष्टि यथार्थवादी थी।

००

८. मुक्तिबोध की काव्य-भाषा

प्रश्न ८—मुक्तिबोध की काव्य-भाषा के गुण-दोषों पर प्रकाश डालिए।

अज्ञेय के अनुसार कवि होने के लिए आवश्यक है कि वह अर्थवान शब्द का साधक हो। इस दृष्टि से मुक्तिबोध कवि हैं क्योंकि उनके प्राण अर्थ-खोजी हैं, उनकी मुख्य चिंता अर्थ-प्राप्ति की रही है, उनकी साधना सार्थक अर्थ की प्राप्ति की रही है। उनकी यह साधना 'तार-सप्तक' से आरम्भ होती है और 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त होती है। उनकी काव्य-भाषा निरन्तर तद्भव शब्दावली के पयोग की ओर बढ़ती रही है। 'तार-सप्तक' की कविताओं में छायावादी पदावली, चित्रमयता एवं रहस्यवादिता का स्वर मिलता है—

घनी रात, बादल रिम-झिम्र हैं, दिशा मूक, निस्तब्ध वनान्तर।
व्यापक अन्धकार में सिकुड़ी सोई नर की बस्ती, भयंकर।

तत्सम शब्दों का प्रयोग छायावादी काव्य-शैली की विशेषता रही है। मुक्तिबोध की आरम्भिक रचनाओं में यह विशेषता स्पष्ट दृष्टिगत होती है। इसके विपरीत 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में तद्भव शब्दों का प्रयोग बहुत अधिक मात्रा में पाया जाता है।

मुक्तिबोध की काव्य-भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है विषय और भाव के अनुरूप शब्दावली का प्रयोग। लोक शब्दावली का प्रयोग जहाँ ग्रामीण अंचल से जुड़ा है, वहाँ तत्सम शब्द अधिकतर शिष्ट, आभिजात्य और नागरिक भावधारा से जुड़े होते हैं। मुक्तिबोध जनतंत्री भावधारा के कवि हैं, अतः उन्होंने तद्भव शब्दों के माध्यम से ही महनीय के स्थान पर सामान्य अकिंचन की प्रतिष्ठा की है। सामान्य जन की क्रान्ति का यह चित्र देखिए—

दादा का सोंटा भी करता है दाँव-पेंच / नाचता है हवा में
गगन में नाच रही कक्का की लाठी।

लत्तर, कनटोप, कन्दील, सियाह, हुलसी, अकुलायी, संवलायी आदि अनेक शब्द उनकी काव्य-भाषा को जन-जीवन से जोड़ देते हैं। धूल-धक्कड़, गिरस्तिन, दल्लिद्दर, हेठा, फफोला आदि भी ऐसे ही शब्द हैं। नगरीय संवेदना का चित्रण करते समय उनकी भाषा का तेवर बदल जाता है, उनका शब्द-चयन ऐसा होता है कि प्रसंग और कथ्य सहज ही सकार हो उठता है। नगर के आभिजात्य मुहल्ले में फैली चांदनी का यह चित्र देखिए—

नंगी-सी नारियों के / उघरे हुए अंगों के
विभिन्न पोज़ों में / लेटी थी चाँदनी।

तथाकथित संभ्रान्त वर्ग के जीवन के चित्रों को उभारने के लिए वह अँग्रेजी के उन्हीं शब्दों को चुनते हैं जो प्रचलित हैं, जैसे—गैस-लाट, ड्रैस, मार्शल, कर्फ्यू, फोटो, प्रेम, फ्यूज बल्ब आदि। वांछित प्रभाव उत्पन्न करने के लिए वह अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग भी करते हैं—

भूल गलती / आज बैठी है जिरहबख्तर पहनकर

X X X

सब क़तारें / बेज़ुबाँ बेबस सलाम में
अनगिनत खम्भों व मेहराबों-थमे / दरबारे आम में।

अपने कथ्य को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए उन्होंने विज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली से भी सहायता ली है—चुम्बकीय शक्ति, गुरुत्व-आकर्षण, इलेक्ट्रान, मैगनेट आदि ऐसे ही शब्द हैं। इनकी काव्य-भाषा में हठयोग के रहस्यवादी शब्द भी मिलते हैं—

तव धरती की महानाड़ियाँ / इड़ा-पिंगला फड़क रही थीं
और सुषम्ना के अभ्यन्तर / उन अंगारी प्राण-पथों पर
X X X
जीवन-संयम की कुण्डलिनी / पृथ्वी के भीतर की ज्वालामयी कमलिनी की
विवेकमय पंखुरियों पर / हम जा लेटे।

वस्तुतः मुक्तिबोध का इरादा अपनी कविता को रहस्यवादी बनाना नहीं था अपितु हठयोगी अध्यात्म-बोध का अर्थ-संदर्भ देकर अपनी बात को प्रभावशाली बनाना था। अपनी काव्यानुभूति को सटीक एवं सशक्त बनाने के लिए उन्होंने जो भी शब्द उपयुक्त समझा, उसी को ग्रहण कर लिया। यही कारण है कि तत्सम, तद्भव, अंग्रेजी, अरबी-फारसी के अतिरिक्त उन्होंने मराठी के भी शब्दों—नक्षे, गजर, पूर, हकाल दिया आदि का प्रयोग किया है, मराठी की रूप-रचना को अपनाकर हिन्दी को नये शब्द-प्रयोग दिये हैं जैसे विषारी, कुहरीले, रकताल, धुमैला, रोगीला आदि। जब उन्हें कोई उपयुक्त विशेषण नहीं मिलता तो वह या तो नया विशेषण गढ़ लेते हैं या अन्य विशेष्य का विशेषण जड़ देते हैं जिससे वस्तुतः वह अपनी अनुभूति को बड़े यथार्थ और सशक्त रूप में प्रकट कर सके हैं, जैसे भुसभुसा उजाला, फुसफुसाता षड्यंत्र, किरनीली मूर्तियाँ, ऐय्यारी, चाँदनी, सँवलाई किरण, चहचहाती सड़कों की साड़ियाँ, सर्द अन्धेरा आदि। तुच्छता, क्षुद्रता आदि का संकेत देने के लिए उन्होंने 'भदेस' का भी प्रयोग किया है—

लार टपकाती आत्मा की कुतिया / स्वार्थ-सफलता के पहाड़ी ढाल पर
चढ़ती है हाँफती / राह का हर कोई कुत्ता छेड़ता है।

उनकी काव्य-भाषा की एक अन्य विशेषता है विशिष्ट और सामान्य को एक साथ विभिन्न शब्दों को चित्रित करना। इससे उनकी भाषा में प्रखरता आ गई है और वह दोनों प्रकार की संवेदनाओं को संप्रेषित करने में सफल हैं—

मैं कनफटा हूँ हेटा हूँ / शैव्रलेट-डाज के नीच मैं लेटा हूँ
तेलिया-लिवास में पुरजे सुधारता हूँ / तुम्हारी आज्ञाएँ ढोता हूँ।

मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग ने भी उनकी काव्य-भाषा को समृद्ध बनाया है। मुहावरे भाषा-सौन्दर्य के साथ अर्थ को भी गम्भीर बनाते हैं और अपने-आप में काव्य की इकाई-से लगते हैं—

जब तारे सिर्फ साथ देते, पर नहीं हाथ देते पल भर।

तत्सम शब्दों का प्रयोग कम शब्दों में अर्थ-छटा उपस्थित करता है—

"पाँउ मैं नए-नए सहचर / सकर्मक सत्-चित्-वेदना-भास्कर।

यहाँ अन्तिम पंक्ति में प्रयुक्त तत्सम शब्दावली सहचरों की विशेषताओं को थोड़े शब्दों में ही प्रकट कर देती है—ऐसे मित्र जो प्रत्यक्ष वास्तविकता (त्रासदी) की पीड़ा भोगकर सूर्य के समान प्रज्वलनशील हों। इसके विपरीत 'सभ्यताभिरुचिवश', 'व्यक्तित्वांतरित', 'तड़िल्लता' जैसे समासयुक्त तत्सम शब्द खटकते हैं, उनकी काव्यभाषा के गौरव को कलुषित करते हैं। पर कुल मिलाकर उनकी काव्य-भाषा संवेदनों को संप्रेषित करने में पूर्ण समर्थ है क्योंकि वह उनकी भंगिमाओं और बहुविध प्रकृति के अनुरूप बदलती चलती है। डॉ० राजनारायण मौर्य के शब्दों में "वह कभी संस्कृतनिष्ठ सामासिक

पदावली की अलंकृत वीथिका से गुज़रती है। कभी अरबी-फारसी तथा उर्दू के नाजूक लचीले हाथों को थामकर चलती है। कभी अंग्रेजी की इलेक्ट्रिक ट्रेन पर बैठकर जल्दी से खटाक्-खटाक् निकल जाती है।''

मुक्तिबोध काव्य-भाषा में चित्रांकन की अद्‌भुत क्षमता है। शब्द के बाद शब्द आकर चित्र में रंग भरते जाते हैं और भाव की इकाई जैसे ही पूरी होती है चित्र भी सजीव हो जाता है। प्रत्येक चित्र में चेतना झाँकती है और भाव दुलराता है। मनोदशा का एक चित्र देखिए—

गहरा गड़ गया और धंस गया इतना / कि ऊपर प्राण भीतर घुस आया
लगी है झनझनाती आग / लाखों बर्र काँटों में अचानक काट खाया है।

उनकी शब्द-योजना भावावेश के प्रवाह में इस प्रकार विन्यस्त है कि मनोगत अर्थमूर्त्ति शब्दों की अर्थ-ध्वनि-मूर्ति में न केवल रूपान्तरित हो गई है अपितु उसके संवेदनात्मक लक्ष्य भी उसमें झलक उठे हैं—

किन्तु वे उद्यान कहाँ हैं / अंधेरे में पता नहीं चलता / मात्र सुगन्ध है सब ओर पर, उस महक-लहर में / कोई छिपी वेदना, कोई गुप्त चिन्ता / छटपटा रही है।

मुक्तिबोध शब्दों द्वारा वातावरण तैयार करने में अद्वितीय हैं। पाठक कविता पढ़ते समय अपने परिवेश को भूल कविता के वातावरण में प्रवेश कर जाता है। कवि साधारण शब्दों द्वारा ही रहस्य, रोमांच, जिज्ञासा, आतंक आदि का ऐसा वातावरण निर्मित कर देता है कि पाठक उसमें डूब जाता है—

तिलस्मी खोह का शिला-द्वार / खुलता है धड़ से
घुसती है लाल-लाल मशाल अजीव-सी, / अंतराल-विवर के तम में
लाल-लाल कुहरा / कुहरे में, सामने रक्तालोक-स्नात पुरुष एक
रहस्य साक्षात !!

मुक्तिबोध शब्दों के शिल्पी हैं। शब्दों के पारखी जौहरी हैं। कुशल शिल्पी के समान वह शब्दों की आत्मा परखते हैं, काट-छांट कर उनका प्रयोग करते हैं और आवश्यकतानुसार उन्हें तराश देते हैं। इसके लिए वह व्याकरण के शासन को भी लाँघ जाते हैं और कहीं-कहीं अपने ढंग से व्याकरण का निर्माण करते हैं। उनकी भाषा में कहीं अस्वाभाविकता नहीं है। उनके शब्द ध्वन्यात्मक होने के साथ-साथ अर्थ-गांभीर्य की दृष्टि से भी उपयुक्त हैं। इसीलिए उन्हें भाषा-प्रभु कहा गया है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी को मुक्तिबोध की भाषा में चिल्लाहट सुनाई दी थी, ''मुक्तिबोध की काव्य-भाषा में लय और संगीत की अपेक्षा चिल्लाहट का अधिक प्रत्यय मिलता है।'' उनका यह कथन ठीक भी है क्योंकि मुक्तिबोध का काव्य संगीत का निषेध करता है पर प्रश्न है क्यों निषेध करता है ? उनकी भाषा में कोमल स्त्रैणता न होकर दारुण पौरुष है; वह पराजय की नहीं पराक्रम की भाषा है जो उनके व्यक्तित्व के अनुरूप ही है, उनके कथ्य की प्रतिध्वनि है। जिस सामाजिक अव्यवस्था और जीवन की कठोर वास्तविकता को उन्होंने अपनी रचनाओं में उकेरा है उसके लिए ऐसी ही पौरुषपूर्ण, अनगढ़ और चिल्लाहट-भरी भाषा की आवश्यकता थी।

मुक्तिबोध की कविता संगीत का निषेध करती है, अतः उनके छन्द में यतिगति का निर्वाह प्रायः नहीं हुआ है। उन्होंने अपनी लम्बी कविताएँ प्रायः मुक्त छन्द में लिखी हैं। हिन्दी में छन्द को तोड़ने का प्रयास निराला से आरम्भ होता है पर निराला आदि कवियों ने अपने मुक्त छन्द में संगीत और लय को नहीं त्यागा। इसके विपरीत मुक्तिबोध का मुक्त छन्द लयात्मकता से पूर्णतः मुक्त है। 'तार-सप्तक' की उनकी कविताओं में छन्दोबद्धता पाई जाती है, पर अन्त तक आकर उनकी कविता छन्दविहीन हो गई है; उसमें गद्यात्मकता आ गई है। वस्तुतः मुक्तिबोध ने अपने छन्द-निर्माण का कार्य भाषा की नाटकीयता से लिया है। उनकी कविताएँ संगीतात्मक न होकर

नाट्यात्मक हैं।

काव्य-भाषा कवि के अंतर्जगत् और युग की नई चेतना से संबद्ध होती है। नई चेतना और अपनी भावभूमि को प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करने के लिए कवि को भाषा की परंपराओं को, प्रचलित प्रयोगों को, व्याकरण के नियमों को तोड़ना पड़ता है, नए प्रयोग करने पड़ते हैं। मुक्तिबोध की चेतना, उनकी भावभूमि, उनकी जीवन दृष्टि नई है, वह विद्रोही कवि हैं इसीलिए उनकी भाषा भी परंपरा को तोड़नेवाली, लीक से हटकर चलनेवाली प्रयोगशील भाषा है। मानव की विवशता को व्यक्त करने के लिए वह कर्त्तवाच्य का प्रयोग करते हैं तो बाह्य विवशता को कर्मवाच्य द्वारा व्यक्त करते हैं—

मानव के सपने गड़ गये, गाड़े गये / या / जम गये, जाम हुए।

कहीं अर्थ को गंभीर बनाने के लिए वह समानार्थक दो शब्दों—काली-अथाह, संवलाया-कालियासा—का प्रयोग करते हैं। ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग मुक्तिबोध की विशेषता है और यह उन्होंने अलंकार लाने के लिए नहीं किया है अपितु अर्थ को गहन तथा संप्रेषणीय बनाने के लिए किया है—सटरपटर, धड़ाम, खट्, खटाक, खट्, छपछप, फुसफुसाते, सरसर आदि ऐसे ही शब्द हैं। व्यंग्य करने में भी वह नहीं चूकते। आज की पूंजीवादी, महानगरीय सभ्यता का पर्दाफाश करने के लिए उन्होंने व्यंग्यपूर्ण भाषा का प्रयोग किया है—

गहन मृतालाएं इस नगर की / हर रात जुलूस में चलती / परन्तु दिन में
बैठती हैं मिलकर करती हुई षड़यंत्र / विभिन्न दफ्तरों, कार्यालयों, केन्द्रों में, घरों में।

सारांश यह कि मुक्तिबोध का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। जो बात हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर के विषय में कही थी, वही बात मुक्तिबोध के विषय में भी कही जा सकती है, 'वह वाणी के डिक्टेटर हैं। ''वह शब्दों के शिल्पी और जौहरी हैं।

○○

६. मुक्तिबोध लम्बी कविताएँ के शिल्पकार

प्रश्न ६—''मानसिक द्वन्द्व मेरे व्यक्तित्व में बद्धमूल है।'' इस कथन के आलोक में मुक्तिबोध की लम्बी कविताओं की समीक्षा कीजिए।

इतिवृत्तात्मकता और विवरणात्मकता गद्य-साहित्य के गुण हैं। कविता में ये दोनों तत्व पहले प्रबन्ध-रचनाओं में मिलते थे। प्रेमचन्द-युग में जब हिन्दी गद्य समृद्ध हुआ तो प्रबन्ध-रचनाकारों के सम्मुख एक चुनौती आ खड़ी हुई। इस चुनौती के उत्तर में ही लम्बी कविता का जन्म हुआ। गद्य के वृत्तान्त और कविता के भावोद्रेक को समेटने और समन्वित करने के लिए उन्होंने प्रबन्ध-रचना के स्थापत्य की खोज आरम्भ की और अपनी इसी खोज में उन्हें लम्बी कविता उपलब्ध हुई। आधुनिक युग की जटिल संवेदना, अनुभव और नयी चेतना की अभिव्यक्ति के लिए हिन्दी कवि को पुराने काव्य-रूप अक्षम और अपर्याप्त प्रतीत हुए और कदाचित् पाश्चात्य कवियों एजरा पाउन्ड के 'कैन्टोज' और टी० एस० इलियट के 'वेस्ट लैंड' के काव्य-रूप में उन्हें अपनी जटिल संवेदना का चित्रण करने की पात्रता दिखाई दी और उन्होंने लम्बी कविता के काव्य-रूप को कुछ परिवर्तनों के साथ अपना लिया।

लम्बी कविता एक ऐसा काव्य-रूप है जिसमें कवि झीने कथात्मक आधार पर अथवा बिना किसी आख्यानगत आधार के अपने अनुभव और विचार-चिंतन को नये अर्थों में अभिव्यक्त कर सकता है। इसमें कवि के व्यक्तित्व का प्रक्षेप स्थान-स्थान पर दिखाई देता है और काव्य का विकास तथा प्रवाह एक सार्थक परिणति प्राप्त करता है।

अन्विति, नाटकीयता, तनाव को उसका व्यावर्तक धर्म माना जाता है। आन्तरिकता तथा वास्तविकता, कविमन और जन के अद्यतन संधीत यथार्थ का मणि-कांचन योग होता है।

मुक्तिबोध नयी कविता के एक श्रेष्ठ और प्रखर काव्य-शिल्पी हैं। उन्होंने अपनी काव्य-रचनाओं में गतिशील और जटिल वास्तव को समेटने का प्रयास किया है जिसके लिए कथा-साहित्य और नाटक अधिक उपयुक्त विधाएँ हैं। इन विधाओं पर अधिकार न होने के कारण उन्होंने अपनी कविताओं में इनका आंशिक उपयोग किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि उनकी काव्य-कथा में कथा केवल आभास है, नाटकीय केवल मरीचिका। यह विशुद्ध आत्मगत काव्य है और उस काव्य के रंग सांवले हैं। भय, आतंक, अनिश्चय, कुतूहल और समाधान, घबराहट और दुश्चिन्ता उसमें झलक उठते हैं। असल में वह एक ऐलिगरी है—एक है।

एक प्रश्न पाठक के मन में सहज ही उभरता है कि मुक्तिबोध ने लम्बी और फिर भी अधूरी-सी दिखने वाली कविताएँ ही क्यों लिखीं। प्रथम तो वह सम्पूर्ण यथार्थ की प्रतीति कराना चाहते थे, कुछ भी नहीं छोड़ना चाहते थे, "मेरा आत्म-संवेदन समाज के व्यापक छोर छूने लगा। कविता का कलेवर भी दीर्घतर होता गया।"

उन्होंने अन्यत्र भी लिखा है, "अभिव्यक्ति का विषय बनकर जो यथार्थ प्रस्तुत होता है वह ऐसा ही गतिशील है और उसके तत्त्व भी परस्पर-गुम्फित हैं। यही कारण है कि मैं छोटी कविताएँ लिख नहीं पाता।"

अतः कविताओं के दीर्घ होने के पीछे एक कारण तो है उनकी काव्य सामाजिकता। सम्पूर्ण यथार्थ गतिशील होता है, उसे पकड़ पाना कठिन है, अतः कविताओं का लम्बा होना स्वाभाविक था। दूसरे, मुक्तिबोध की कविताएँ सजग प्रयास न होकर आत्मानुभूति का नैसर्गिक प्रवाह हैं जो आरम्भ होकर समाप्त होना ही नहीं जानती, "नदी बहने लगती है तो बहे चले जाती है। नदी की लम्बाई का राज़ कौन बताए अब ?" तीसरे, उन्हें लगता है कि वह जो बात कहना चाहते हैं, जो सत्य उद्‌घाटित करना चाहते हैं, वह हाथों में नहीं आ पा रहा है, फिसला जा रहा है—

कोई उलझा अटका हुआ सत्य कहीं मिल जाए / वह कौन-सी बात !

यह उलझन और अटकाव उनकी कविता को सुनिश्चित अन्त तक नहीं पहुँचने देते। फिर वह अपनी कविता में 'परम अभिव्यक्ति की खोज' की बात भी करते हैं और खोज रहते पूर्णता कहाँ आ सकती है। मुक्तिबोध जीवन भर आत्मान्वेषण करते रहे, इसलिए कुबेरनाथ राय और डॉ. इन्द्रनाथ मदान का मत है कि मुक्तिबोध का सम्पूर्ण काव्य एक ही कविता है जो अधूरी है—

नहीं होती, कहीं भी खत्म कविता नहीं होती
कि वह आवेग-त्वरित काल-यात्री है।

मुक्तिबोध की लम्बी कविताएँ घटना-प्रधान होती हैं, पर इन घटनाओं को वह चमत्कार के लिए नहीं बल्कि काव्य को अर्थगम्य बनाने के लिए एकत्र करते हैं। प्रत्येक प्रसंग किसी-न-किसी सामाजिक सत्य को, समाज की विसंगति को उद्‌घाटित करता है। प्रसंग और घटनाएँ अपना अर्थ स्वयं प्रकट कर देती हैं, उनके लिए पूर्वपीठिका आवश्यक नहीं होती। 'अंधेरे में' कविता आरम्भ से अन्त तक कथात्मक स्तर पर चलती है। वह आठ अंशों में विभाजित है; यदि इन आठ अंशों को नाटक दृश्य भी कहा जाय तो असंगति न होगी। इस तरह यहाँ कथात्मक और नाट्यात्मक विधान एक साथ चलता है। नाटकीयता घटनाओं के क्रमिक विकास से उद्‌भूत नहीं हुई है; उसके भाषा की आकस्मिकता है; अचानक दृश्य-परिवर्तन होता है और एक दृश्य की पूर्व दृश्य से पूर्ण संगति भी नहीं बैठती। वे अपनी कविता को एक आकस्मिक मोड़ देकर आगे बढ़ा ले जाते हैं। अतः कविता के विधान को पूर्णतः नाटकीय भी नहीं कहा जा सकता। 'राम की शक्ति-पूजा' से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है। जहाँ निराला की कविता में दृश्य-परिवर्तन कथात्मक अन्विति

से युक्त है, वहाँ 'अंधेरे में' कोई विशिष्ट कथात्मक अन्विति नहीं है। बीच-बीच में संवाद-शैली का प्रयोग भी उनकी कविता में नाटकीय विधान का आभास देता है।

मुक्तिबोध की अधिकांश लम्बी कविताओं की बुनावट फैंटेसी के तारों से हुई है क्योंकि फैंटेसी में अतार्किक घटनाओं के अबाध प्रवाह के लिए अवकाश रहता है। यथार्थ को उसकी संपूर्णता में रूपायित करने में भी फैंटेसी लाभदायक रहती है। अतः फैंटेसी का उपयोग मुक्तिबोध के काव्य शिल्प का महत्त्वपूर्ण प्रतिमान है।

मुक्तिबोध की लम्बी कविताओं में गहन अनुभूति के साथ विचार-प्रक्रिया भी चलती रहती है। वस्तुतः उनकी काव्य-संवेदना में भावना और चिन्तन के धूपछाँही रंग मिले-जुले रहते हैं। भावना एवं अनुभूति की आवेगमयता कम नहीं है, पर साथ ही चिन्तन भी उसमें पर्याप्त है। कहीं-कहीं तो चिंतन प्रधान हो गया है और इस चिंतनपरकता के कारण ही उनकी कविता का परिप्रेक्ष्य व्यापक और विस्तृत आयाम वाला हो गया है।

मुक्तिबोध ने अपने शिल्प का निर्माण स्वयं किया है क्योंकि उनके पास कहने को कुछ बिल्कुल निजी और बिल्कुल मौलिक था। उसकी अभिव्यक्ति उसी के मनस्तत्त्वों के आकार की, उन्हीं मनस्तत्त्वों के रंग, स्पर्श और गंध से हो सकती थी। यही कारण है कि उनके शिल्प के सभी उपादान—बिम्ब, प्रतीक और भाषा—सभी एक नूतन प्राणवत्ता से समन्वित हैं। उनका काव्य-शिल्प सशक्त कल्पना-वैभव, सूक्ष्म निरीक्षण और समर्थ-अर्थ-गांभीर्य का परिचय देता है।

हिन्दी में आख्यानगत आधार के बिना अपने चिन्तन को कथात्मक आधार देकर लम्बी कविता को सुदृढ़ भूमि पर स्थापित करने का श्रेय मुक्तिबोध को ही है और इसका कारण है कि यह काव्य-रूप ही उसके कथ्य को प्रभावपूर्ण रीति से संप्रेषित कर सकता था। समाज से प्रताड़ित कवि की मनोदशा बेचैनी की थी; वह जन जीवन के संघर्ष का चित्रण कर जन-चरित्री कविता भी लिखना चाहते थे और अपनी रचना द्वारा क्रान्तिधर्मी चेतना का प्रसार भी उन्हें अभीष्ट था। यथार्थानुभव के आधार पर वह बुनियादी प्रश्नों का विवेचन करना चाहते थे। उनका लक्ष्य, भूत, वर्तमान और भविष्य की गाथा एक साथ प्रस्तुत कर सम्पूर्ण विश्व की हलचल का साक्षात्कार कराना था, वह हमेशा एक विशाल विस्तृत कैन्वस लेते थे। उनकी कविता 'अंधेरे में' संम्पूर्ण आधुनिक यथार्थ का प्रभावात्मक चित्रण देखकर ही प्रभाकर माचवे ने उसे 'गुएर्निका इन वर्स कहा होगा।

मुक्तिबोध की लंबी कविताओं में परिवर्तित होते दृश्यों का असम्बद्ध क्रम देखकर हमें राबर्ट ग्रेव्स की 'सुनियंत्रित अनियमितताओं और हर्बर्ट रीड की 'आन्वित विशृंखलाओं' की याद हो आती है, पर मुक्तिबोध इन दृश्यों की प्रतीयमान विशृंखलताओं या अनियमितता को प्रतीकार्थ के धरातल पर सुक्रयित कर देते हैं अतः यह विशृंखलता खटकती नहीं है, मुक्तिबोध की लंबी कविताओं की अभिव्यक्ति-शैली नाटकीय एकालाप और स्वोक्ति के बीच की है। उसमें दोनों के तत्त्व घुलमिल गये हैं। अन्तरालाप (इन्टीरियर मानोलोग) की यह शैली नया प्रयोग है पर मुक्तिबोध ने उसका प्रयोग बड़ी सफलता से किया है। अन्तर्जगत् के सत्यों का निरीक्षण उसी के द्वारा संभव था।

विविक्तृ शास्त्रीय विधाओं का युग समाप्त हो गया है। आधुनिक सर्जक साहित्यकार संकर विधाओं की ओर झुकते जा रहे हैं। यह प्रवृत्ति पश्चिम में इलियट, ह्विटमैन और टेनिसन तक में देखी जाती है। मुक्तिबोध भी ऐसे ही प्रयोगधर्मी कवि हैं। उनकी लम्बी कविताओं में नाटक, प्रगति, प्रबंध काव्य, कथा, महाकाव्य सभी का मिश्रण है। बिम्बों की लम्बी श्रृंखला होते हुए भी इन कविताओं में महाकाव्यात्मक गरिमा आ गयी है क्योंकि उसमें क्रान्ति के महत्कार्य, व्यक्त्वान्तर महदुद्देश्य, रक्तालोक स्नात पुरुष जैसे महान चरित्र और गरिमांडित शास्त्रीय शैली के परम्परागत तत्वों का संघात पाया जाता है।

परम्परागत विधाओं के घालमेल का यह नया प्रयोग के लिए या फैशन-प्रेरित नहीं है। मुक्तिबोध

जैसा ईमानदार, निष्ठावान तथा कला के प्रति समर्पित लेखन फैशन की लपेट में आकर या प्रयोग के लिए प्रयोग कर ही नहीं सकता था। अनुभूति जीवन के निकटतम कलात्मक साक्षात्कार की आकांक्षा तथा अनुभूति और अभिव्यक्ति के परस्पर समन्वय की आकांक्षा व इस नयी विधा (लंबी कविता) को अपनाने के मूल में रही है। वस्तु की अनिवार्यता के रूप में 'फार्म' का स्वतंत्र विकास आवश्यक है, पुराने बने-बनाए सोचों का निषेध करता है, 'कण्डीशण्ड साहित्यिक रिफलेक्सेज़' के रूप में 'फार्म' की जड़ीभूत स्थितियों को तोड़ने की मांग करता है।

मुक्तिबोध के काव्य में वे सभी बुनियादी बातें विद्यमान हैं जिन्हें जन-साधारण अपने हृदय में अनुभव करता है जैसे अन्याय का प्रतिकार, स्वार्थ और भ्रष्टाचार का विरोध, सामाजिक सम्बन्धों में प्रेम और त्याग की भावना, मानव-मानव के बीच साम्य, अहंकार का विरोध, सुख-सुविधाओं के लिए ख़तरे न उठाने की प्रवृत्ति का विरोध, धन द्वारा खरीदे जाने को, विरोधा समझौतापरस्ती के खिलाफ लड़ाई, साधारण भारतीय जनता के प्रति अनुराग और सहानुभूति। उन्होंने ऐसी अनेक रचनाएं लिखी है। 'एक अरूप शून्य के प्रति' कविता में ईश्वर को असत्य बताया गया है। ईश्वर का अस्तित्व नकारने वाला कवि, भले ही आत्मा शब्द का प्रयोग करता हो, रहस्यात्मक संकेत नहीं दे सकता। उन्होंने आत्मा शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है, "हमारा सामाजिक व्यक्तित्व हमारी आत्मा है।" जब आत्मा नामक कोई स्वतंत्र पदार्थ है ही नहीं तो आध्यात्मिक मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए मुक्तिबोध को जिस मुक्ति की चिंता है, वह आध्यात्मिक मुक्ति नहीं भौतिक बन्धनों—शोषण, उत्पीड़न, अन्याय, अत्याचार—से मुक्ति है।

समस्या एक– / मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में
सभी मानव / सुखी, सुन्दर व शोषणमुक्त / कब होंगे ?

मुक्तिबोध की निश्चय ही मार्क्सवादी विचारधारा के प्रति सहानुभूति थी और मार्क्सवाद की अस्तित्ववाद से कभी पटरी नहीं बैठ सकती। मुक्तिबोध ने अस्तित्ववादियों को बनावटी दार्शनिक कहा है—

मत बनो दार्शनिक बनावटी / तुम क्या हो, कैसे हो, क्यों हो
इसका उत्तर / टीन के कनस्तर ही देंगे।

सारांश यह कि मुक्तिबोध न तो रहस्यवादी थे, न अस्तित्ववादी, उनकी विश्व-दृष्टि द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी थी। जीवनादर्श है—सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन और इस परिवर्तन के लिए वह जन-क्रान्ति को साधन मानते हैं। इसी आदर्श के अनुरूप उनका काव्य 'जन-चरित्री' है।

००

१०. मुक्तिबोध के काव्य का मूल्यांकन

प्रश्न १०–"मुक्तिबोध समकालीन कविता के सश्क्त कवि हैं।" इस कथन के आलोक में मुक्तिबोध के काव्य का मूल्यांकन किजिए।

अज्ञेय और मुक्तिबोध अपने भाव और शिल्प-स्तर के बोध में तो कुछ मिलते-जुलते हैं ही, अपनी समसामयिकता और कविता के क्षेत्र में नये आन्दोलन की दृष्टियों से भी नजदीक पड़ते हैं। फिर भी दोनों में सभी स्तरों का एक व्यापक अन्तराल है। वस्तुतः किन्हीं भी दो काव्यों अथवा लेखकों के परस्पर कृतित्व का तुलनात्मक मूल्यांकन अपने आप में निश्चित ही एक दुस्साध्य कार्य है। इस कार्य की कठिनता अकल्पनीय है। इसका एक सबसे बड़ा कारण तो यही है कि पाठक स्वभावतः ही इस कर्म में प्रवृत्त आलोचकों को पूर्वग्रहों से दूषित मान लेता है और अपने तर्क देकर, यदि उसमें औपचारिकता की माँग को समझने की शक्ति नहीं है, तो उल्टे उसी की ही छीछालेदार

करने लग जाता है। खैर, यह तो आलोचक की अपनी विडम्बना है लेकिन कठिनता तो वहाँ सम्मुख आती है जब आलोचक ही अन्ततः एक दोराहे पर जाकर खड़ा हो जाता है और उसे कहना पड़ता है कि अमुक राह ठीक है, अमुक गलत। फलतः कोई निर्णय देते समय उसे अपनी प्रकृत शब्दावली तक पर एक आवरण डालना पड़ता है और अपनी स्वाभाविकता का अपने ही हाथों गला घोंटना पड़ता है।

अस्तु, सबसे पहली बात तो यही है कि ये दोनों कवि प्रयोगवादी नाव्य-आन्दोलन के साथ हिन्दी-काव्य में प्रविष्ट हुए। 'तारसप्तक' में इन दोनों ही कवियों की कविताएं संगृहीत हुईं और इन दोनों ने ही अन्य कवियों की अपेक्षा कुछ क्या, बहुत ही अधिक अंशों में हिन्दी कविता के पाठकों को आकर्षित किया। पीछे-पीछे आने वाले कवियों को कुछ प्रेरणा सूत्र भी इन दोनों ने ही प्रदान किए हैं। किन्तु ये दोनों आपस में कहीं भी एक-दूसरे से प्रेरित अथवा प्रभावित नहीं है। अज्ञेय से प्रभावित कवियों में हम मुक्तिबोध को नहीं ले सकते—बाकी नए कवियों को चाहे अवश्य ले लें। इसका मतलब कि अज्ञेय का संकेत प्राप्त कर आगे बढ़ने वाले कुछ नए कवि हैं अवश्य और मुक्तिबोध से भी, खाली मुक्तिबोध से ही संकेत प्राप्त कर आगे बढ़ने वाले कवि हैं। निसंकोच हरिनारायण व्यास, श्याम परमार, जगदीश वौरा आदि के नाम इस संदर्भ में लिए जा सकते हैं। मतलब यह कि किन्हीं न किन्हीं अंशों में इन दोनों ही कवियों ने अपने कुछ परवर्ती कवियों को अवश्य प्रभावित और प्रेरित किया है।

एक बहुत बड़ी गलतसमझी (Misunderstanding) हिंदी जगत में 'तार-सप्तक' के प्रकाशन (सन् १९४३) से अब तक चली आ रही है। यह समझा जाता रहा है कि चूंकि इस पुस्तक के संकलनकर्त्ता और सम्पादक—दोनों ही रूपों में अज्ञेय का नाम आता है अतः वे इस समस्त कविता धारा के एकमात्र प्रवर्त्तक हैं और अन्य सभी संकलित कवि उनके अनुगामी हैं। अब हमें इस गलतफहमी को त्याग देना चाहिए और यह समझ लेना चाहिए कि इन सभी कवियों का अपना एक स्वतंत्र व्यक्तित्व है। यह समझने से पहले हमें अज्ञेय के इस वक्तव्य को भली प्रकार समझ लेना चाहिए जो प्रथम संस्करण में इस प्रकार प्रकाशित हुआ थाः—

"'तार सप्तक' में सात कवि संगृहीत हैं। सातों एक-दूसरे के परिचित हैं—बिना इसके इस ढंग का सहयोग कैसे होता? किन्तु इससे यह परिणाम न निकाला जाए कि कविता के किसी एक 'स्कूल' के कवि हैं, या किसी साहित्य-जगत् के किसी गुट अथवा दल के सदस्य या समर्थक हैं। उनमें मतैक्य नहीं है, सभी महत्वपूर्ण विषयों पर उनकी राय अलग-अलग‥ है।" दूसरे संस्करण के वक्तव्य में भी वे इसी बात को अन्य शब्दों में इस प्रकार कहते हैं—"सप्तक के कवियों का विकास अपनी-अपनी अलग दिशा में हुआ है।" डॉ० जगदीश गुप्त हमें इस संबंध में और भी अधिक सचेत कर देते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि नई कविता उनके चरण चिह्नों की अनुवर्तिनी नहीं कही जा सकती। स्पष्टतः इस धारा के प्रत्येक कवि का अपना अलग व्यक्तित्व है। उनकी देन भी अलग-अलग रेखांकित की जा सकती है।

अतः अब यह स्पष्ट हो गया है कि इन दोनों ही कवियों का स्वतंत्र व्यक्तित्व है और दोनों के काव्यों का विकास पृथक्-पृथक पद्धतियों और सरणियों पर हुआ है। पाठ्यक्रम में अज्ञेय के विभिन्न संकलनों के संकलित कविताएँ हैं, तो मुक्तिबोध के काव्य संग्रह 'चाँद का मुँह टेढ़ा' में संकलित लम्बी कविताएँ हैं, जिनकी गति दिशा निश्चय ही अलग-अलग है।

ये दोनों ही कवि नए मूल्यों की खोज एवं मार्गों के अन्वेषण में निरन्तर प्रयोगशील हैं किंतु उनके दृष्टि बिंदुओं में परस्पर काफी अन्तर भी है, यह बात संकलित कविताओं के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। सामाजिक यथार्थ को व्यंजित करने की मुख्य प्रवृत्ति हमें मुक्तिबोध के काव्य में दिखाई देती है किंतु अज्ञेय के काव्य में भी काफी अंशों में यह प्रवृत्ति हमें दीख पड़ती है।

उनकी कविता 'वर्ग भावना—सरीक' एक अच्छा उदाहरण है। इतने पर भी मात्रा का अन्तर तो पड़ ही जाता है। वर्गीय अंतर्द्वन्द्व के साथ-साथ अज्ञेय में अहं, सूक्ष्म बौद्धिक आत्मानुभूति, यौन प्रतीक और सौंदर्य बोध प्रचुर मात्रा में आ पाया है किन्तु हम देखें कि मुक्तिबोध के काव्य में इनमें से अधिकांश तत्त्व हैं ही नहीं। उदाहरण के लिए हम यौन प्रतीकों की योजना और सौंदर्य बोध को ले सकते हैं। समाज का विद्रूप ही मुक्तिबोध के काव्य का सौंदर्य है और प्रतीक पौराणिक और वैज्ञानिक अधिक है। इसका स्पष्ट कारण मुक्तिबोध ही अपने शब्दों में इस प्रकार बताते हैं कि कवियों में जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि को जन्म देने वाली प्रवृत्ति अभी तक है। उनकी 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' कविता इस बात का अच्छा उदाहरण है।

मुक्तिबोध ने अपने काव्य में प्रेमानुभूति की सर्वथा उपेक्षा की है। इस प्रकार काव्य के संवेदन तत्त्व की दृष्टि से वे इस संदर्भ में विचारणीय ही नहीं ठहरते। अज्ञेय के काव्य में यही संवेदन तत्त्व अनेक रूपों में बिखरा हुआ मिलता है। उनके काव्य का यह तत्त्व रंग, रस, रूप और रोमानी वातावरण के प्रति एक आसक्ति के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। रोमानी मुक्तिबोध में भी है, पर वह विद्रूप में ही आ पाया है।

सामाजिक अनुभूति के सम्बन्ध में कहना होगा कि अज्ञेय इस क्षेत्र में विकसित शील रहे हैं। उनके काव्य के प्रारम्भिक चरणों में इस अनुभूति का स्वरूप विद्रोह और पराजय के स्वर में दृष्टिगत होता है, किंतु काव्य के आगामी चरणों में वे क्रमशः आशावादी बनते जाते हैं। किंतु अज्ञेय के काव्य का यह कोई मुख्य तत्त्व नहीं है। यह तत्त्व है मुक्तिबोध के काव्य में। उन्हें प्रधानता सामाजिक अनुभूति का ही कवि यदि कह दिया जाए तो गलत न होगा। भाव यह कि मूर्तिमान कटु सामाजिक यथार्थ उनके काव्य का आधार है, मुख्य विषय है। कवि ने स्वयं अपनी एक कविता 'एक स्वप्न कथा' में इस तथ्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है:—

इसीलिए, मेरी ये कविताएँ / भयानक हिडिम्बा हैं,
वास्तव की विस्फारित प्रतिमाएँ / विकृताकृति बिम्बा हैं।

इस प्रकार मुक्तिबोध अपने काव्य में कटु यथार्थ का चित्रण अत्यन्त मनोयोग से करते हैं। अज्ञेय के काव्य में यह देखने को नहीं मिलता। उनकी कविता में व्यक्त यथार्थ अपने ऊपर अभिजात्य का कटु आवरण डालने का प्रयास करता दीखता है। जबकि मुक्तिबोध इस अभिभाज्य का कटु विरोधी है।

प्राकृतिक सौंदर्यानुभूति की प्रवृत्ति इन दोनों ही कवियों में हैं किन्तु मात्राभेद के साथ-साथ स्तर-भेद भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। अज्ञेय के काव्य में इस चेतना के दो पक्ष हैं—प्रकृति का यौन-चेतना से आक्रांत होना और उसे आत्मान्वेषण का माध्यम मान लेना। इधर मुक्तिबोध की प्रकृति एक उपकरण के रूप में हैं। यह उपकरण सामाजिक यथार्थ के अंकन के गृहीत किया गया है। फिर भी उनकी विकसित सौंदर्यानुभूति को वह अभिव्यक्ति करने में समर्थ हुई हैं। रोमानियत भी इसी कारण कुछ-कुछ आ पाई है।

एक अन्य प्रवृत्ति है आत्मबोध का भाव। अपने काव्य में स्थल-स्थल पर कवि अज्ञेय आत्मविश्लेषण में लीन हुए हैं और आत्मान्वेषण से कई तत्व प्राप्त करते हुए दीखते हैं। उदाहरण के लिए 'मौन' को अज्ञेय अंतिम अभिव्यक्त के रूप में देखते हैं, 'प्यार' को आत्मदान के रूप में पाते हैं और देह के क्षेत्र को आत्मा के क्षेत्र के समक्ष नगण्य नहीं पाते। इधर मुक्तिबोध आत्मबोध को जगत्‌बोध की पहली सीढ़ी के रूप में अपनाते हुए दिखाई देते हैं। आत्मबोध में उन्हें कहीं-कहीं हीनता की गंथि सताने लग जाती है। यह ग्रंथि कहीं-कहीं अज्ञेय के काव्य में भी दीखती है किन्तु वे सम्हल कर उसका समन्वय व्यापकता से जोड़ देते हैं जबकि मुक्तिबोध अपने समक्ष किसी अन्य तत्व को उभरने देना नहीं चाहते। इस प्रकार उनके आत्मविश्लेषण में विरोध की तीव्र भावना स्वयं

ही आ जाती है और इतना होते हुए भी मानो उनकी ऊर्जा का पतन होने लगता है और वे अपनी दयनीयता को अनंत मानते हुए सभी ओर शून्य को देखने का भाव स्पष्ट करने लग जाते हैं। दोनों का यह अन्तर अपनी-अपनी परिस्थितियों की देन कहा जा सकता है।

संवेदन तत्वों को छोड़कर अब शिल्प की चर्चा करें। पहला संदर्भ होगा बिम्ब विधान का। अज्ञेय एक विशुद्ध बिम्बवादी इस क्षेत्र में प्रतीत होते हैं। मानो पूरी सच्चाई से एक बिम्ब प्रस्तुत कर देना उतना ही आवश्यक है जितना आवश्यक आत्मोपलब्ध सत्य को अभिव्यक्त करना हो सकता है। इधर मुक्तिबोध का बिम्ब विधा एक साधन के रूप में प्रयुक्त परिलक्षित होता है किन्तु इसी प्रकार के प्रतीक योजना के संबंध में नहीं कहा जा सकता। यहां कहना होगा कि प्रतीक अज्ञेय के लिए साधन हैं और मुक्तिबोध के लिए चित्रण के माध्यम। अज्ञेय ने अपने प्रतीक अपने जीवानानुभवों से और प्रकृति से चुने हैं और मुक्तिबोध ने अपनी सभी प्रतीक स्वप्न के धरातल और पुराणों से गृहीत किए हैं। अज्ञेय के काव्य के बिल्कुल विपरीत प्राकृतिक प्रतीक मुक्तिबोध के काव्य में बहुत कम—नहीं ही मिलते हैं। अप्रस्तुतों के संदर्भ में अज्ञेय की अपनी एक विशिष्ट धारणा है। वे कहते हैं कि ये परम्परायुक्त उपमान मैले हो गए हैं। फलतः अज्ञेय ने उनका संस्कार किया है। फिर भी उनके अप्रस्तुत कोमल है जबकि मुक्तिबोध के प्रतीक अधिक वैज्ञानिक, पाठक को एकदम चौंका देने वाले और उसकी कल्पना के झिलमिल तारों को झकझोर देने वाले हैं। भाषा शैली के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। अज्ञेय ने अपने शब्दों का नैवेधवत् प्रयोग किया है। उनकी यह प्रवृत्ति नहीं कि भाषा से विश्लेषण का काम लें—वे अपनी भाषा से केवल संकेत करने का काम लेते हैं जबकि मुक्तिबोध की भाषा ध्वंस, पीड़ा, संत्रास, भय और विद्रूप व्यंजना का शब्द कोश है और उन्होंने उससे संकेत का काम न लेकर विश्लेषण का काम लिया है। इन दोनों कवियों के एक-एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी—

अज्ञेय—हम लोगों का एकमात्र श्रम है—सुरति श्रम,
उस अंत्यज का एकमात्र सुख है—मैथुन सुख।

मुक्तिबोध—खूबसूरत कमरों में कई बार, / हमारी आंखों के सामने,
हमारी विद्रोह के बावजूद / बलात्कार किए गए / नक्षीदार कमरों में।
भोले निर्व्याज हिरनी से / मासूम चेहरे / निर्दोष तन-बदन
दैत्यों की बांहों के शिकंजों में / इतने अधिक / इतने अधिक जकड़े गए
कि जकड़े ही जाने के / सिकुड़ते हुए घेरे में वे तन-मन
दबते-पिघलते हुए एक माफ बन गए

इस विवेचन के उपरांत अब प्रश्न सामने यह आता है किससामयिक कवियों में इन दोनों का क्या स्थान है, एक-दूसरे के संबंध में वे कहां स्थित होते हैं तथा आधुनिक हिन्दी-काव्य को उनकी देन क्या है? यह स्पष्ट किया जा चुका है कि समसामयिक कवियों में ये दोनों कवि परस्पर अपना पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखते हैं। प्रत्येक का क्षेत्र अलग-अलग है और परिस्थितियां भी सर्वथा भिन्न हैं। अतः एक की सीमाओं में दूसरा कवि आता। यही बात विशेषता के संबंध में भी है। जहां तक इन दोनों कवियों की आधुनिक हिन्दी-काव्य की देन का प्रश्न है—दोनों ही कवियों ने अपने नवीन दृष्टिकोण के अनुसार अपने-अपने क्षेत्र में भंडार की वृद्धि की है। जो एक ने दिया, वही दूसरे ने दिया है। इस प्रकार इन दोनों कवियों की देन इस संदर्भ में गुणात्मक तो रही ही है, धनात्मक भी रही है। अतः पृथक्-पृथक् महत्व अन्वेषित करने का प्रश्न ही नहीं उठता। एक-दूसरे के संबंध में इन दोनों की अपनी स्थिति क्या हैं, यह निश्चय ही एक विचारणीय प्रश्न है। यह असंदिग्ध है कि अज्ञेय का व्यक्तित्व पिछली तीन दशाब्दियों में इतना अधिक प्रभावकारी रहा है कि मुक्तिबोध उनके सामने कुछ दबे-दबे से दृष्टिगत होते हैं और अज्ञेय जैसी कोई परम्परा स्थापना

करने में भी वे असमर्थ रहे हैं यदि जीवित रहते, तो स्यात् दे पाते। किन्तु हमें अब समझ लेना चाहिए कि मुक्तिबोध के काव्य को समझने की लहर वास्तव में तो अब चली है। एकाएक मुक्तिबोध क्यों इतने लोकप्रिय और सशक्ततम कवि माने जाने लगे हैं—यह एक चौंका देने वाली बात है। आशा तो यही है कि शीघ्र ही मुक्तिबोध इस क्षेत्र में भी अज्ञेय से कम नहीं रहेंगे। फलतः यही कहना पड़ता है कि ये दोनों कवि हिन्दी कविता के मौलिक और समान स्तर के कवि हैं। किसी भी प्रकार के स्वर एवं मांत्रा भेद के अंतर को इनके संदर्भ में स्वीकार नहीं किया जा सकता। दोनों को विभिन्न बाह्यतः, पर आन्तरिक दृष्टियों, एक जैसी परिस्थितियों ने ही गढ़ा है—यह तथ्य विशेष ध्यातव्य एवं स्मरणीय है।

००

११. मुक्तिबोध : चिन्तन के धरातल

प्रश्न ११–मुक्तिबोध के साहित्य सम्बंधी दृष्टिकोण का परिचय देते हुए कविता की रचना प्रक्रिया सम्बंधी उनके विचारों पर प्रकाश डालिए।

चिन्ता नहीं, चिन्तन या चिन्तना मानव मात्र का सहजात स्वभाव स्वीकार किया गया है। अन्तर केवल इतना ही है कि सामान्य जीवों और व्यक्तियों की चिन्तना चारों से सामान्य धरातल की ही रहा करती है; जबकि भावुक एवं अनुभूति-प्रवण व्यक्तियों की चिन्तना अधिक व्यापक, अधिक गहरी और अधिक अनुभूति-संयत रहा करती है। कला और साहित्य के क्षेत्र में व्यष्टिपरक और समष्टिपरक—चिन्तना के ये दो धरातल रहा करते हैं। जहाँ तक कविवर गजानन माधव 'मुक्तिबोध' की चिन्तना का प्रश्न है, उन्होंने आजीवन अपने आपको व्यष्टि या व्यक्ति के साथ बंधे रहने का प्रयत्न कभी नहीं किया। उनके अंतः बाह्य दोनों ही सदा-सर्वदा व्यापक समिष्ट के साथ जुड़े रहे हैं। इसी कारण उनके सृजन में, उनके काव्य जगत में जो भी विचार एवं भाव अभिव्यंजित हो सके हैं, वे चिंतन के धरातल पर युग-युगों से पीड़ित और शोषित समष्टिगत मानवता के करुण क्रन्दन की ही देन अधिक हैं। कवि मुक्तिबोध को इसी कारण विचार मंथन एवं चिंतन की सघन घाटियों से गुजरना पड़ा, ताकि उनका काव्य मात्र आत्म अभिव्यक्ति या व्यष्टि की अभिव्यक्ति न रहकर समष्टि की अभिव्यक्ति बन सके। इसके लिए चिंतक या विचारक न होते हुए भी उन्हें चिंतकों और विचारकों की प्रसव वेदना झेलनी पड़ी, इस बारे में एक स्थान पर उन्होंने स्वयं कहा है :

"मैं मुख्यतः, विचारक न होकर कवि हूँ। किंतु आज का युग ऐसा है कि विभिन्न विषयों पर उसे भी मनोमंथन करना पड़ता है।"

आज का युग ही नहीं, प्रत्येक युग के कवि को जीवन के सत्य से साक्षात्कार करने के लिए मनोमंथन की सघन घाटियों में से अवश्य गुजरना पड़ा है। 'आज का युग' इसलिए कहा जाने लगा है कि आज युग का नाम लेकर कतर-ब्योंत, छीछालेदार अधिक स्पष्ट और सपाटब्यानी के धरातल पर होने लगी है। नहीं तो मंथन के बिना भला जीवन सत्य का स्वस्थ नवनीत प्राप्त कर पाना संभव ही कहाँ हो पाता है। इस चिंतन और मंथन के परिणामस्वरूप ही कवि मुक्तिबोध अन्य युगीन कवियों से भिन्न, अपना एक अलग-थलग, महत्त्, और दुरूह होते हुए भी विशिष्ट धरातल अर्जित कर सका है। इस सबकी ओर इंगित करते हुए, 'चाँद का मुंह टेढ़ा है' में 'एक विलक्षण प्रतिभा' शीर्षक के अंतर्गत मुक्तिबोध का परिचय और समीक्षण प्रस्तुत करते हुए शमशेर बहादुर सिंह ने लिखा है :

"गजानन माधव मुक्तिबोध मुझे खासतौर से शायद इसलिए ज्यादा अपील करता है कि वह

मुझसे इतना भिन्न है ! ऐबस्ट्रेक्ट नहीं, ठोस। बहती हवाओं सा लिरकिल, अर्थहीन सा कोमल, न कुछ नहीं: बल्कि प्रत्येक पंक्ति में चित्र के उभार को और भी घूरती और भी तड़पती हुई आँखों से प्रत्यक्ष करता हुआ। अनुभूति के यथार्थ से कतराता हुआ नहीं बल्कि अपने तक और भावना के कुदाल से अनुभव की कड़ी धरती को लगातार गहरे खोदता जाता। थककर बैठ जाता—अपने दायित्व को भूल जाता नहीं; कभी नहीं : बल्कि उसके सिलसिलों को कसकर बांधता। थकने पर केवल चाय का एक प्याला चढ़ा और एक बीड़ी सुलगाकर फिर काम में जुट जाने वाला और अपने को भूल जाने वाला।"

अनवरत चिंतन, मंथन और प्रयत्न से ही वह वस्तुतः यह सब कर पाने की शक्ति और लगन प्राप्त कर सका। अपराजय मानसिकता ही वस्तुतः जीवन सागर के गहरे गोते लगाकर विचार मुक्ता खोज पाने में समर्थ हुआ करती है। जीवन की सघनता से एकान्त जंगल या पहाड़ी दरियों में भाग छिपकर भी जीवन सत्यों से साक्षात्कार करने की एक परम्परा रही है—निरर्थक-सी, जो व्यवहार जगत को कुछ विशेष नहीं दे पाई। मुक्तिबोध का चिंतन और वैचारिक मंथन न तो जंगलों से प्राप्त किया गया है और न पहाड़ी दरियों में से ही। वह तो प्रत्यक्ष एवं व्यवहार जगत के सन्निध्य, खट्टे-मीठे अनुभवों, भोग एवं भुक्त भोगियों से साक्षात्कार को ही प्राप्त किया जा सका है। तभी तो उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के बारे में, उपरोक्त संदर्भ में ही शमशेर बहादुर सिंह ने और आगे लिखा है :

"एकान्त खोजता हुआ नहीं : बल्कि साथियों, गरीब फटे हाल भूखे और मुसकराते चेहरों के बीच जोर से ठहाका लगाकर उनमें रिल-मिल जाता हुआ। अपने बारे में संटाक और उलझा हुआ नहीं : बल्कि एकदम खुला हुआ और साफ दिल। किसी संस्था, दल स्वार्थ आदि से बंधा हुआ नहीं : आजाद, जैसे कभी न चुकती सैलानी हवाएँ, उठती गिरती, धूरती चक्कर खाती, दुनियाभर को लपेटती हुई; या जैसे असंख्य अछोर पगडण्डियाँ, आँधी, लू और जाड़े-पाले को हृदय से लगाती हुई।"

हृदय से लगाते चलने की इस प्रक्रिया ने ही उसे ठोस वैचारिक धरातल तो प्रदान किया ही, उसे निखार और अनवरत प्रखरता, एक पैनायापन भी प्रदान किया। तभी तो अनवरत एवं कठोर संघर्षों से, चूर-चूर होकर भी मुक्तिबोध ने अंतिम श्वास तक पराजय तो क्या ही स्वीकार करनी थी, पराजय या किसी भी प्रकार की असमर्थता का अहसास तक अपने पैनाये स्वरों में नहीं आने दिया। उसी ओर इंगित करते हुए उपरोक्त महोदय ने आगे लिखा है—"···मध्यवर्ग का निजी कवि वह भी है, हाँ, और चूर-चूर : मगर चूर-चूर होकर भी, दुर्दान्त संघर्ष से अचेत होकर भी··· किसी भी अर्थ में हारा हुआ नहीं है।" यह अपराजयिता का भाव ही मुख्य रूप से उसके सब प्रकार की चिंतना के धरातलों का मुखर ध्वनित हो पाया है। इस सबने उसे विरोधियों के विचारों को भी उदारतापूर्वक सहन कर पाने की अद्भुत शक्ति प्रदान की : उसकी यह शक्ति उसके निकट आने वालों, उसके काव्य का अध्ययन कर उसके चिंतनों की तहें तोड़ सकने वालों को भी एक अद्भुत शक्ति एवं सामर्थ्य प्रदान करती है।

जीवन-साहित्य सम्बन्धी चिन्तन—मुक्तिबोध अरस्तू आदि पाश्चात्य आचार्यों के समान साहित्य को जीवन का पुनः सृजन ही स्वीकार करते हैं। उनकी जीवन एवं साहित्य या काव्य संबंधी चिंतनाएं और अवधारणाएं वस्तुतः उपरोक्त मान्यता बिन्दू पर ही अवधरित हैं। अतः उनका विवेचन-विश्लेषण भी इसी एक मध्य बिन्दू के आधार पर या चारों ओर किया जा सकता है। कविवर मुक्तिबोध ने ज्यामिति के त्रिभुज के समान ही जीवन को भी त्रिभुज या त्रिकोणीय स्वीकार किया है। वह त्रिभुज या त्रिकोणात्मक जगत् जीवन है—मानव चेतना के आस-पास विनिर्मित बाह्य जगत् और अन्तःकरण। इस त्रिभुजात्मक जगत् जीवन का परिचय देते हुए मुक्तिबोध ने स्वयं लिखा है—"हमारे

बाह्य जगत यानी मानव संबंधों के विशिष्ट क्षेत्र, अर्थात् वर्ग जगत और उस जगत के विविध जीवन मूल्यों और आदर्शों के बीच में से होती हुई उस दौर तक पहुँच जाती है, जिसे हम देश और जाति की राजनैतिक, सामाजिक स्थिति कह सकते हैं कि जो स्थिति मानवेतिहास के विकास के एक विशेष स्तर पर विशेष अवस्था का नाम है।'' अंतःकरण को जगत जीवन के त्रिभुज की दूसरी भुजा स्वीकार करते हुए कविवर मुक्तिबोध आगे फिर कहते हैं कि अनतःकरण—''बाल्यकाल से ही बाह्य को, बाह्य की क्रियाओं और रूपों को आत्मसात करता हुआ, उन प्रतिक्रयाओं के विभिन्न संवेदनात्मक पुंज बनाता हुआ, और उन पुंजों के सहारे जीवन ज्ञान का विकास करता हुआ, और उस जीवन ज्ञान के सहारे स्वयं को द्वन्द्व रूप में या सामंजस्य रूप में अथवा इन दोनों स्थितियों के संगत-असंगत सम्मिलित रूप में स्थापित करने, बाल की काँट छाँट कर उसे अपने अनुकूल या स्वयं ही काट छाँट कर अपने को उसके अनुसार बनाने का प्रयत्न करता रहता है।'' और उनका आधारभूत केन्द्र बिन्दु है ''हमारी अपनी चेतना · · कि जो चेतना उपर्युक्त दो भुजाओं को बिना अपना स्वरूप और आकार ही स्थापित नहीं कर सकती है।''

अपनी इन मान्यताओं के आधार पर कविवर मुक्तिबोध ने व्यापक जगत् जीवन को चारों ओर से समेटने सहेजने का अपनी कविता में सफल प्रयास किया है। मनोवैज्ञानिक ने तो पहले अंतः जीवन और फिर बाह्य जीवन का रूपायन स्वीकार किया है कि जो सिद्धाँत के स्तर पर ही ठीक हो सकता है। व्यवहार के स्तर पर तो अंतः-बाह्य का समन्वय ही अधिक संगत प्रतीत होता है। दोनों का सामंजस्य एवं समन्वय ही व्यवहार जगत का न केवल विनिर्माण करता है, बल्कि उसे दिशा बोध देकर उसका निर्धारण भी करता है। तभी तो कविवर मुक्तिबोध निश्शंक भाव से देखे कहते देखे जा सकते हैं कि—''हमारा अंतर्जीवन और उसका क्रम, अपने बाह्य परिवेश और परिस्थिति से आवयाविक सम्बंध रखता है, और दोनों—अंतर तथा बाह्य—अंगांगिक भाव से एकीभूत होकर हमारा जीवन बनाते हैं।'' जीवन विनिर्माण की यह प्रक्रियाएँ अनवरत चलती रहती है।तभी तो अपने पूर्ववृत्तियों के विचार और प्रक्रियाएँ अपने युगानुकूल ढाँचे में ढाल, उनमें आवश्यक संशोधन एवं परिष्कार कर हम जीवन के विकास की नव्य एवं भव्य प्रक्रियाएँ अपनाकर आगे बढ़ पाने में समर्थ हो पाते हैं। इस दृष्टि से उनकी चिंतना के धरातल को हम अधिक पूर्ण, समग्र और व्यापक कह सकते हैं। उन्होंने देवत्व की कोई परिकल्पना नहीं प्रस्तुत की, बल्कि मानव में सहज मानवीयता, अपाशवता को देखने-बखानने का ही अनवरत प्रयास किया है। इस दृष्टि से हम उन्हें समाजवादियों या मार्क्सवादियों के अधिक निकट कह सकते हैं।

कार्ल मार्क्स ने जिस द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की अपनी समूची मान्यताओं का आधार बनाया था, मुक्तिबोध भी उन्हीं पगडंडियों पर विचरण करते हुए प्रतीत होते हैं। तभी तो मार्क्स के समान ही जगत् जीवन के प्रति उनकी स्पष्ट अवधारणा है कि विकास की अनवरत प्रक्रिया से गुजरता हुआ ही वह आज तक की विविध संगत असंगत आचार्यों वाली यात्रा करता हुआ अपने नितांत 'आज' की स्थिति तक सभी धरातलों एवं दृष्टियों से पहुँच पाया है। इसके साथ मुक्तिबोध यह भी स्वीकार करते हैं कि जगत जीवन और मानव की ऐतिहासिक सामाजिक सत्ता उसके अस्तित्व, चेतनागत अस्तित्व उसके बोध और विधान का निर्धारण करने वाला मूलतत्व है। उनकी यह मान्यता भी मार्क्सवाद की देन ही कही जा सकती है। हाँ, मार्क्सवादी चेतनाओं को अपनत्व के साँचे में ढाल मुक्तिबोध ने उन्हें सौंदर्य का आयाम प्रदान करने का एक नितांत निजी एवं सफल प्रयास अवश्य किया है, जैसा कि हिंदी का अन्य कोई भी मार्क्सवाद का पोषक कवि या साहित्यकार स्यात् नहीं कर सका।

कविवर मुक्तिबोध साहित्य और कला की सार्थकता, महत्त्व और प्रयोजन आदि सभी कुछ व्यावहारिक जीवन संदर्भों में ही स्वीकार करते हैं। सामाजिक संदर्भिता और संगति के अभाव में,

उनकी दृष्टि में इन सबका कोई भी मान और मूल्य नहीं है। व्यवहार जगत में जो कुछ भी आरम्भ से घटित होता आ रहा है, हमारे सामने घटित होता है, उसी से हमारी मानसिकता विनिर्मित एवं संघटित होती है। उसे व्यवस्था की देन भी कहा जा सकता है— अन्तः-बाह्य दोनों प्रकार की व्यवस्था का। बाह्य या व्यवहार जगत जीवन में घटित तथ्य हमारे अन्तः-करण या अन्तः मानसिकता का सृजन करता है। इस प्रकार अन्तः-बाह्य में सामंजस्य स्थापित किए बिना जीवन को वास्तविक अर्थों में भोगा और जिया नहीं जा सकता। उस भोगने और जीने से ही जगत जीवन के मूल्य, मान और दृष्टि आदि बनते हैं और फिर कविवर मुक्तिबोध के अपने शब्दों में — "वर्ग अथवा समाज की विश्व दृष्टि व्यक्तिगत धरातल पर निजी दृष्टि बन जाती है।" तात्पर्य हुआ कि जिसे हम व्यष्टि या व्यक्ति दृष्टि कहते हैं, वह भी मूलतः समष्टि या समग्र जगत जीवन की ही देन हुआ करती है—मूलतः इसी तथ्य का प्रतिपादन मुक्तिबोध अपनी चिन्तना के क्षणों में करना चाहते हैं।

जीवन की गति चिर और अबाध है। वह एक अन्तहीन सागर के समान अथाह एवं शाश्वत है। उसमें सामयिकता के नदी नाले गिरकर, निकलकर भी उसे और अधिक व्यापक बनाते रहते हैं। उसी प्रकार व्यक्ति की अपनी मानसिकता भी अनवरत गतिशील और इस अर्थ में विकसनशील भी है। वह प्रत्येक क्षण पर नए भावों में जीता और अनुभवों को संजोता स्वीकारता, सहेजता चलता है। साथ ही काल गति से उसकी वर्गगत, समाजगत और व्यक्तिगत परिस्थितिजन्य अनुभूतियों का एक इतिहास भी बनता चलता है। इस प्रकार मानव की अर्जित चेतना उसके भीतर इतिहास क्रम से ही जीवित रह पाती है। उसके आधार पर वह व्याख्या, समीक्षा, आलोचना और नवचेतनाओं का प्रक्षेपण भी अनवरत करता चलता है। जीवन जगत की व्यापक अनुभूति ही उसकी अपनी अनुभूति बनकर साहित्य कला आदि में रूपायित एवं आयातित हुआ करती है। जीवन के सत्य, सौंदर्य और शिव का अनुभव इस क्रम में ही व्यक्ति की मानसिकता अनुभव कर पाने में समर्थ हो पाती है, अन्यथा नहीं। जीवन में सत्य सुन्दर वही है कि जिसमें सौंदर्यता है, न कि अतीन्द्रियता अथवा मात्र आन्तरिकता।मुक्तिबोध का कवि हृदय इस प्रकार की अतीन्द्रियता और मात्र आन्तरिकता आदि के साथ सहमत नहीं हो पाता। क्योंकि वे निरपेक्ष सौंदर्य को स्वीकार नहीं करते, कोई महत्त्व नहीं देते; अतः उनकी दृष्टि में व्यक्त या जगत जीवन से सम्बन्धित मुक्त ही अपनी समूची कुरूपता में भी सौंदर्य की वास्तविक भूमिका है। दूसरों शब्दों में जीवन जो और जैसा है, अपनी अन्तःप्रेरणा से सामंजस्य स्थापित कर, उस सबका अपनी मानसिकता में तादात्म्य स्थापित कर अनुभूति करना, उस अनुभूति का रूपायन ही जगत जीवन का सौंदर्य तो है ही, काव्य और कला का सौंदर्य भी है।

उपरोक्त मान्यताओं के आलोक में कविवर मुक्तिबोध मानते हैं कि — "अनुभूति तथा अनुभूति के विषय अर्थात् बाल वस्तु या व्यक्ति के परस्पर सम्बंध के बिना अनुभूति असम्भव होती है। वे सम्बन्ध अनुभूति के स्वरूप में ही निहित होते हैं।" अपनी इस धारणा के वे क्रमशः तीन प्रारम्भिक पक्ष मानते हैं—पहला—जीवन अनुभवों का आधार, दूसरा—आत्मबद्ध दशा का परिहार, और तीसरा—आनन्द का अनुभव। इसका अर्थ हुआ कि वास्तविक जगत जीवन के अनुभव ही व्यक्ति की मानसिकता को उस चरम स्थिति तक पहुँचाते हैं, जिसे भारतीय चिंतकों ने काव्य का लक्ष्य—आनन्द, स्वीकारा है। साहित्य में जिसे कल्पना कहा गया है, कविवर मुक्तिबोध ने उसे भी वास्तविक जगत जीवन की प्रतिमाओं से विनिर्मित स्वीकार किया है और यह स्वीकृति पूर्णतः तथ्यगत होने के कारण पूर्ण सत्य है। जिसे हम कोरी कल्पना कहते हैं—उसकी बात तो जाने दीजिए, पर जिसे विधात्री या निर्मात्री कल्पना कहा जा सकता है, वह वस्तुतः वास्तविक जगत जीवन में देखी भोगी गई प्रतिमाओं, अनुभूतियों से ही विनिर्मित हुआ करती या हो सकती है। इसी आलोक में कविवर, मुक्तिबोध अपनी अवधारणा इन शब्दों में रेखांकित करते हैं कि कवि और कलाकार आदि "···अपनी सम्वेदना

के आग्रह से, अपने अनुभवों के आधार पर, कल्पना द्वारा जीवन की पुनर्रचना करता है···।" आगे फिर वे कहते हैं कि–"···अपने मनोमय जीवन के इन क्षणों में···उन चित्रों में तन्मय होकर, उनमें प्रस्तुत हुए जीवन की सम्वेदनाएँ और अनुभूतियाँ ग्रहण करता है, उस समय, वास्तविक बाह्य से क्रिया-प्रतिक्रिया करने में व्यस्त रहने वाले मन को–वैयक्तिक सुख-दुःख से मण्डित रहता है–बहुत पीछे छोड़ देता है, उससे ऊपर उठ जाता है, उसके परे हो जाता है।" जीवन अनुभवों के बाद इसे हम प्रारम्भिक पद्य की दूसरी स्थिति–आत्मबद्ध दशा का परिहार–कहेंगे, जिसका प्रतिपादन मुक्तिबोध की मान्यता या अवधारणा के रूप में ऊपर किया जा चुका है ! इसे मुक्तिबोध व्यक्ति के भोगे जा रहे वास्तविक जीवन का एक–विशिष्ट–अंग ही स्वीकार करते हैं, उससे बाहर नहीं। बाहर रहने पर व्यक्ति की वृत्तियों-प्रवृत्तियों का उदात्तीकरण संभव नहीं हो सकता कि जो सभी प्रकार के दर्शनों, नीतियों, साहित्य और कला आदि का चरम लक्ष्य स्वीकारा गया है।

इस प्रकार, कविवर मुक्तिबोध के विचार में जिसे दर्शन, साहित्य कला तथा अन्य विविध दृष्टियों से सौन्दर्य बोध कहा गया है; वह तब तक संभव नहीं हो सकता कि जब तक जीवन के प्रत्यक्ष व्यावहारिक संघर्षों, द्वन्द्वों आदि का उदात्तीकृत स्वरूप भी निर्धारित होकर हमारे सामने नहीं आ जाता। इस दृष्टि से वे मानते हैं कि सौन्दर्य की अनुभूति आन्तरिक-अतीन्द्रिय न होकर, वस्तुतः वस्तु जगत से सम्बन्धित ही है। इस प्रकार वे जीवन के प्रत्यक्ष-व्यावहारिक स्वरूप के समान काव्य और कला को भी यथार्थ और भोगे जा रहे धरातल पर ही प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न करते हुए दीख पड़ते हैं। बाह्य से अनुप्राणित होकर ही आभ्यन्तर के नित नये अनुभवों, कल्पनाओं का संचयन करता रहता है और फिर यथार्थ पर उपलब्ध माध्यम से उसे अभिव्यक्ति प्रदान कर निजी अनुभूति को भी सब की–समग्रता की अनुभूति बना देता है। उस में उसकी अपनी–नितान्त वैयक्तिक आस्थाएं भी स्वतः ही समन्वित हो जाया करती हैं। तब स्वतः ही चिन्तनशील एवं अनुभूति प्रवण हृदय नये-नये अनुभवों को रूपायित एवं ध्वनित करने लगते हैं। इस सम्बन्ध में कविवर मुक्तिबोध के निजी शब्द उल्लेख्य हैं–

"संवेदना के आग्रह-संवेदनात्मक उद्देश्य, जिनमें इच्छित विश्वास के तत्त्व भी मिले रहते हैं–उनके वश से, उनके जोर से, वास्तविक अनुभव के आधार पर उनकी विधायक कल्पना, उन्हीं अनुभव तत्वों को मिलाकर, जीवन की एक पुनर्रचना कर बैठती है। संवेदनात्मक उद्देश्य, अपनी पूर्ति के लिए, एक विशेष दिशा में, उन कल्पना चित्रों में डूबकर, उसी जीवन का प्रगाढ़ अनुभव होता है–कि जो जीवन अपना सार-सार प्रतीत होता है।"

चेतना और चिन्तन का यह धरातल कि जो एक तरह से ऊबड़-खाबड़ सा लगता है, मुक्तिबोध को क्यों और कैसे प्राप्त हो सका ?–इस प्रश्न का उत्तर शायद हम शमशेर बहादुर सिंह के निम्नलिखित शब्दों में से खोज सकते हैं –

"क्या बात है यह ? और क्यों है ? मुक्तिबोध ने सब कुछ अपने ऊपर झेला था। अंगरेज़ी शासनः युद्ध कला सामन्ती साम्प्रदायिक प्रतिक्रिया। प्रकाशकों की व्यावसायिक वृत्ति की चरम सीमा। मुक्तिबोध न 'हंस' की सम्पादनी में कुछ कर सके, न 'नया खून' (नागपुर) में ही कुछ बना सके–सिवाए विरोधियों और उपेक्षा करने वालों की संख्या बढ़ाने के। आकाशवाणी में भी उनकी अव्यावहारिक सरलता और खुलेपन ने उन्हें टिकने नहीं दिया। जहाँ गये वह हलचलों के रेले में कुछ न कुछ खोते ही गए। हासिल किया उन्होंने केवल गहरा काव्य-मर्म। उनका सारा जीवन बाहर से असफल, रिक्त, किन्तु अन्दर से रचनाकार की प्रतिभा से खूब समृद्ध हो चुका था। जीवन के बन-वीहड़ में जो पलाश के क्षेत्र सुलग उठे थे, उनमें मानव रक्त की पवित्र गन्ध थी, और एक निर्मलता···।"

तात्पर्य यह है कि कविवर मुक्तिबोध की आन्तरिकता कल्पना बाह्यता से सम्पृक्त होकर ही

अपनी रचनाधर्मिता का निभाव कर सकी है और उनके जो ऊपर विचार दिए गए हैं, उन से यही तथ्य वस्तुतः अपनी समग्रता में उद्भासित एवं व्यंजित भी होता है। इसी को हम 'पुनर्रचना' या कवि या 'पुनर्निर्माण' भी कह सकते हैं। सर्जक कलाकार जो कुछ भी करता-कहता है, कविवर मुक्तिबोध के अपने ही शब्दों में—"उसके मूल तत्व, वास्तविक जीवन के अनुभूत तथ्यों में से ही, अर्थात हृदय में संचित जीवनानुभवों में इस प्रकार उद्गत होते हैं मानों वे अपने जिये जाने वाले जीवन की सारभूत विशेषताएँ हैं।" इस प्रकार कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध जीवन को सामाजैतिहासिक विकास-रूप में देखते और अनुभव करते हैं। युगानुकूल उन अनुभूतियों के संस्कार-परिष्कार के बाद प्रत्येक सर्जक कलाकार अपने कला-माध्यम से उसकी पुनर्रचना करता है। जिसे 'सुन्दर' कहा जाता है वह कोई अतीन्द्रिय अनुभूति न होकर व्यवहार जगत के उदात्तीकृत्त स्वरूप से ही रूपायित एवं अभिव्यंजित हुआ करती है! एक वाक्य में कहा जा सकता है कि जीवन एक चिरन्तन अप्रतिहत धारा है और प्रत्येक युग में उसका व्यक्ति निर्मित समाज उसी धारा प्रवाह का अंगभूत है। उनकी अन्तः में बाह्य चेतनाएँ सम्पृक्त होकर ही उन अनुभूतियों को जन्म देती हैं कि जिनका साहित्य कला में प्रत्यंकन किया जाता है।

काव्य-शास्त्रीय चिन्तन—कविवर मुक्तिबोध के चिन्तन के आयाम अनेकशः काव्यशास्त्री के चिन्तनों का संस्करण करते हुए भी दिखलाई पड़ते हैं। उनकी 'एक साहित्यिक की डायरी' 'नई कविताओं का आत्संघर्ष' तथा 'अन्य निबंध' और 'नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र' नामक कृतियों में इस प्रकार के चिन्तन के धरातलों को स्पष्ट देखा पढ़ा जा सकता है। इन में कवि ने काव्य रचना प्रक्रिया, अभिव्यक्ति, सौन्दर्यानुभूति आदि काव्यशास्त्रीय लगने वाले विषयों पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। इन के अतिरिक्त उपरोक्त कृतियों में जीवनानुभूति कला के क्षण और रस दृष्टि जैसे विषयों पर भी विचार व्यक्त किए गए हैं।

सौन्दर्य के बार में उनका स्पष्ट विचार है कि जब सृजन और भोग करने वाला व्यक्ति का मन एकात्मकता की स्थिति में आ जाता है, तभी सभी को अभिभूत कर देने वाले सौन्दर्य का सृजन एवं अनुष्ठान जीवन तथा काव्य दोनों में हो पाता है। उससे सृजित पुनः रचित होने वाला प्रत्यक्ष या काव्य का संसार ही वह आनंद प्रदान किया करता है। जिसे प्राचीन भारतीयों ने ब्रह्मनंद सहोदर और पाश्चात्यों ने समस्त श्रान्तियों एवं क्रान्तियों का परिहार कहा हैं। यह सब वर्ग अथवा सामाजिक सापेक्षता में ही सम्भव हुआ करता है। इस सापेक्षता में ही पूर्ण प्रकार की संवेदनाएं सम्पृक्त एवं निसृत होकर सब प्रकार के सौन्दर्य का उद्गिरण किया करती हैं। इसको उन्होंने निजत्व का परिहार और पारिभाषिक शब्दावली में इसे साधारणीकरण भी कहा जा सकता है। इस सम्बंध में कविवर मुक्तिबोध का कथन है कि—"सौन्दर्यानुभव तब घटित होता है जब मनस्पटल पर बिम्बित कल्पना रूपों में डूबकर मन साधारण जीवन की अपनी निजबद्धता का परित्याग करता है। वह उस निजबद्धता से ऊपर उठकर, उससे परे जाकर, उससे सम्पूर्णतः मुक्त होकर, मनः पटल पर उद्दीप्त उन बिम्बों में खो जाता है। उनमें तन्मय हो जाता है कि जो बिम्ब सम्वेदनात्मक उद्देश्य से परिचालित कल्पना तथा उन्हीं उद्देश्यों द्वारा परिचालित और संकलित जीवन अनुभवत्व के पूर्ण संयोग से बने हुए हैं।" इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शास्त्रीय स्तर पर भी मुक्तिबोध की अंतरंगता या मानसिकता व्यवहार जगत से हमेशा जुड़ी रहती है। जीवन समाज सापेक्षता में ही वे सौन्दर्य का सृजन, बोध और खोज भी करते हैं। उससे बाहर कुछ भी नहीं स्वीकारते। वह सामान्य असामान्य कुछ नहीं, बस महज़ उदात्तीकृत अंतरंग-बहिरंग का सामंजस्य ही है कि व्यवहार और काव्य दोनों में समान रूप से अपेक्षित है, आवश्यक हैं। तभी तो उपरोक्त चिन्तनात्मक अवधारणा के बाद वे यह भी कहते हैं कि—"यह सौन्दर्यानुभूति केवल कलाकार की विशेषता नहीं है वरन् वह उन सबकी विशेषता है, जिन्हें हम मनुष्य कहते हैं।" और इसी को वह मानवत्व का एक मात्र लक्षण भी स्वीकारते

है। हमारे विचार में इस सम्बन्ध में और कुछ कहना शेष नहीं रह जाता !

मुक्तिबोध कुछ पाश्चात्य और उन से प्रभावित कुछ भारतीय विचारकों के समान काव्य की अवस्थिति जीवन से अलग स्वीकार नहीं करते वे तो कहते हैं कि जीवन प्रक्रिया काव्य और काव्य की प्रक्रिया में परिवर्तित होती रहा करती है। दोनों का अन्योन्याश्रिता का सम्बन्ध सदा सर्वदा, प्रत्येक स्थिति में बना रहा करता है। तभी तो मुक्तिबोध काव्य को व्यक्तिगत प्रक्रिया स्वीकार न कर उसे एक सांस्कृतिक क्रिया प्रक्रिया स्वीकार करते हुए कहते हैं कि–"काव्य रचना केवल व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं है, वह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है और फिर भी वह एक आंत्मिक प्रयास है।" आगे वे फिर, अपनी बात को अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं–"उन में जो सांस्कृतिक मूल्य परिलक्षित होते हैं, वे कवि की अपनी देन नहीं, समाज या वर्ग की देन है।" इस प्रकार की काव्य की रचना प्रक्रिया जीवन समाज और उसके सांस्कृतिक सापेक्ष है; कुल मिलाकर उन्होंने वही मन्तव्य अभिव्यंजित किया है। उनकी इस मान्यता के कारण कुछ लोग उन्हें पाश्चात्य कवि और चिन्तक इलियट से प्रभावित मानते हैं। एक गहन अध्ययनशील व्यक्तित्व का अपनी मानसिकता से मेल खाती धारणाओं से प्रभावित हो जाना कोई विचित्र बात नहीं।

आज का मनोवैज्ञानिक और परम्परागत भारतीय चिन्तक बाह्य जगत का मूल आधार सूक्ष्म अन्तः जगत को ही स्वीकार करता है। अर्थात् सूक्ष्म चिन्तना ही स्थूल का रूपायन किया करती या रूपायन का मूल कारण हुआ करती है, यही इसका मूल तात्पर्य है। पर मुक्तिबोध सभी प्रकार के सृजन के लिए अन्तः-बाह्य सामंजस्य या आन्तरिक का बाह्यकरण और बाह्य का अन्तरीकरण नितांत आवश्यक और फिर स्वाभाविक प्रक्रिया भी स्वीकारते हैं। तभी स्थूल जगत जीवन, सामाजिकता आदि से प्राप्त अन्तः संवेदनाएं संयोजित होकर काव्य कला के रूप में परिणत होती एवं अभिव्यक्ति प्राप्त करती है। इस सारी अन्तः बाह्य समग्रीकृत क्रिया प्रक्रिया में कल्पना का सहयोग स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। तभी तो मुक्तिबोध ने एक स्थान पर कहा है कि–"कलाकृति स्वानुभूत जीवन की कल्पना द्वारा पुनर्रचना है।" अपने मन्तव्य को और अधिक स्पष्ट करने के लिए उपरोक्त सूत्र की एक प्रकार से व्याख्या करते हुए मुक्तिबोध कहते हैं–"साहित्यिक कलाकार अपनी विधायक कल्पना द्वारा जीवन की पुनर्रचना करता है। जीवन की यही पुनर्रचना कलाकृति बनती है। कला में जीवन की जो पुनर्रचना होती है वह सारतः उस जीवन का प्रतिनिधित्व करती है, जो इस जगत् में, वस्तुतः जिया और भोगा जाता है–स्वयं द्वारा तथा अन्यों द्वारा। यह जीवन जब कल्पना द्वारा पुनर्रचित होता है तब उस पुनर्रचित जीवन में तथा वास्तविक क्षेत्र में जिए और भोगे जाने वाले जीवन में, गुणात्मक अन्तर उत्पन्न हो जाता है।" इस प्रकार यह गुणात्मक अन्तर ही किसी रचना को काव्यत्व या कलात्व प्रदान करता है।

कविवर मुक्तिबोध की उपरोक्त मान्यता यद्यपि पाश्चात्य प्रभावित ही अधिक प्रतीत होती है, फिर भी इसे हम पूर्णरूपेण अभारतीय नहीं कह सकते। उन्होंने भाव, भावना, अनुभूति आदि को भी काव्य सृजन के क्षेत्र में उतना ही महत्व दिया है। अतः हम उनके चिंतन के धरातल को समन्वित कहना अधिक उपयुक्त मानते हैं। वह व्यक्ति में निहित व्यक्तित्व एवं काव्य में अन्तर्हित काव्यत्व के समीकरण को महत्व देते हैं। यह समीकरण भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों प्रकार के चिन्तकों को निश्चय ही समान रूप से मान्य एवं स्वीकृत है। आत्मपरकता यदि भारतीय तत्व है तो वसतुपरकता पाश्चात्य। मुक्तिबोध दोनों में से किसी को भी उपेक्षा करने को तैयार नहीं दिखाई देते हैं। उनके विचार में इस समन्वय सामंजस्य के परिणामस्वरूप ही व्यवहार जगत जीवन के सन्दर्भ में कोई साहित्य या कलाकृति प्रामाणिकता का प्रमाणपत्र हासिल कर सकती है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार व्यक्ति में विश्व और विश्व में व्यक्ति या खण्ड में पिण्ड और पिण्ड में खण्ड का समाहार सामंजस्य स्वतः ही हो जाता है और यही शुभ तथा साहित्य और साहित्यकार के वास्तविक

दायित्व निर्वाह में सहायक भी है। यह समंजन कृतिकार की सर्जनात्मक चेतना में परिष्कार और संस्कार कने वाला हुआ करता है, अतः परिष्कृति जीवन जगत् का भी परिष्कार करती है। इस प्रकार कृतिकार अपने दायित्व का सहज ही निर्वाह कर लेता है। अपने काव्य जगत् में कविवर मुक्तिबोध ने यह सामंजस्य बड़े ही सहज स्वाभाविक ढंग से किया है। तभी तो उसके बारे में अपने विचार व्यक्त करते हुए कवि और मुक्तिबोध के आलोचक शमशेर बहादुरसिंह ने उचित ही कहा है :

"मुक्तिबोध की कविताओं में सदैव एक साथीपन का भाव है। सबसे बड़ी बात उनमें यह है कि उनके अन्दर 'मस्तिष्कहीन कोरी भावुकता' (माइण्डलेस फ़ीलिंग) नहीं हैं। उनके भावों के ज्वार के पीछे विचारों का दीर्घ दोहन है। कभी कभी विशुद्ध से काव्य तत्त्व के साथ विद्रूप का भाव, अतल के गलित गर्त के साथ-साथ उत्तुंग शिखरों के दर्शन, व्यक्ति की निजी हाथ और तड़प के साथ उसका राजनैतिक, सामाजिक संघर्ष पाठक को कई स्तरों पर एक साथ उद्वेलित करता है।"

उद्वेलित करने की यह शक्ति उन्हें अन्तःबाह्य के उसी समंजन समन्वय की देन है, उनके चिन्तन के धरातल पर हम उन पर स्पष्ट कर आए हैं। पर कला और काव्यत्व के स्तर पर इस प्रकार की सिद्धि सफलता अचानक ही प्राप्त नहीं हो जाया करती है। उसके लिए अनवरत संघर्ष करना पड़ता है और मुक्तिबोध ने यह संघर्ष किया था, तभी उनकी दृष्टि या चिन्तना इतनी प्रखर स्पष्ट और प्रभावी हो सकी है। जीवन के मर्म को जानने के लिए तो उन्होंने अनवरत संघर्ष किया है। उसे काव्यमय अभिव्यक्ति के लिए भी अनवरत तय किया और अपनी दृष्टि को भी संघर्ष की चर्खी पर रेता। यह रेतना और रेतते चले जाना ही मुक्तिबोध के समान किसी भी रचनाधर्मी को उपरोक्त प्रकार की जगत जीवन गत और शास्त्रीय स्पष्ट दृष्टि प्रदान कर सकता है। मुक्तिबोध मानते हैं। काव्यधर्मिता के निर्वाह के लिए एक सहजात प्रतिमा तो आवश्यक है ही, उचित कथ्य का चयन, अनवरत संघर्षपूर्ण साधना और अभ्यास भी बहुत आवश्यक है। तभी कला में निखार आता है। वह जीवन से अधिक से अधिक लेकर, अधिक समंजित, परिष्कृत, सुसंस्कारित उसे लौटा भी सकती है। इन्हीं बातों को प्रत्येक युग और देश के आचार्य ने भी अपनी व्यापक शास्त्रीय दृष्टियों से प्रतिपादित करके रचना धर्मियों के लिए इनके अनवरत निर्वाह पर बल दिया है। कला के निखार और विकास के लिए यह सब आवश्यक भी है।

काव्य-शास्त्रीय चिन्तना के अंतर्गत कविवर मुक्तिबोध ने, समय-समय पर किए गए अपने विवेचनों में किसी सद्यः नवीन उद्भावना या प्रतिष्ठापना का दावा कहीं नहीं किया है। वह अपने आपको राहों का खोजी और अन्वेषक मानते रहे हैं। एक जिज्ञासु विद्यार्थी के समान ही अध्ययन अध्यापन के क्षणों में जो तत्त्व या विचार उनके समक्ष आते रहे, उन्हें ग्रहण और आत्मसात् करते गये हैं। एक स्तर पर—और एक प्रकार से कहा जा सकता है कि शास्त्रीय चिंतन के धरातल पर उन्होंने उसी सब अन्वेषित एवं ग्रहीत की ही अपने विचार के रूप में पुनर्रचना की है। अतः उपरोक्त शास्त्रीय चिंतनों के साथ-साथ मुक्तिबोध ने अपने विवेचनों में काव्य भाषा, समीक्षण-समीक्षक दृष्टि, आत्मालोचन, अपने कर्म लक्ष्य के प्रति अनन्यता और समर्पण भाव आदि विषयों तत्त्वों पर भी यथा स्थान अपने विचार व्यक्त किए हैं कि जो अधिकाँशतः भारतीय एवं पाश्चात्य विचारकों के अनवरत मंथन की ही देन हैं। इस सबके आधार पर वह काव्य-सृजन को कवि की एकात्मिकता की देन मानते हुए भी उसे व्यवहार जगत से ही सम्पृक्त स्वीकार करते हैं। जीवन समाज में कवि जो कुछ भोगता-देखता है उस सबकी क्रिया-प्रतिक्रिया ही उसकी नितांत एकात्मकता में भी व्यंजित एवं रूपायित हुआ करती है। अतः वे मानते और कहते हैं कि किसी भी कवि, साहित्यकार और कलाकार का समीक्षण व्याख्यान करते समय उस कवि आदि के अन्तः-बाह्य

संघर्षों से भी समीक्षक को परिचित रहना चाहिए, तभी आलोच्य या समीक्ष्य के साथ न्याय संभव हो सकता है।

वे मानते हैं कि कविता या कोई कला रूप कवि अथवा कलाकार के तीव्रतम अनुभव क्षणों की देन हुआ करते हैं उस समय कवि या कलाकार निजत्व निरपेक्ष होकर समाज जीवन सापेक्ष हो जाया करता है। और ऐसी स्थिति में ही जगत जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव कला के रूप में रूपायित होने लगता है। तब साहित्य के क्षेत्र में वह सब स्वतः ही शब्दायित तथा अन्य कलाओं के क्षेत्र में तदनुरूप माध्यम के साँचे में ढल पाता है। कुल मिलाकर बाहरी आघात प्रतिघातों से अनुप्रेरित अनुभूति का यह क्षण ही कलाकार की सृजनात्मक उपलब्धि बन जाया करता है। मुक्तिबोध यह भी स्वीकृत करते हैं कि सृजन की उपरोक्त समूची क्रिया-प्रक्रिया में संवेदनात्मकता, संश्लेषणात्मक कलपना शक्ति, बौद्धिकता के तटबन्ध आदि भी नितान्त आवश्यक एवं अपरिहार्य हुआ क्ररते हैं। यह समंजन और समन्वय ही किसी प्रभावी और स्थायी कलाकृति को जन्म एवं रुपाकार प्रदान कर पाता है। वही सुंदर एवं जीवन-दायक हुआ करता है—सतय भी और शिवत्व का विधायक एवं संस्थापक भी। इस प्रकार सौंदर्य भी कोई चाक्षुस या प्रत्यक्ष विषय न रहकर अन्तः-बाह्य अनुभूति का विषय ही बन जाता है। उस अनुभूति में ही आत्म साक्षात्कार करा पाने की शक्ति भी रहा करती है—ऐसा कविवर मुक्तिबोध अपने चिंतन के धरातल पर स्पष्ट स्वीकार करते हैं। इसी आलोक में ही कविवर मुक्तिबोध एक स्थल पर कहते हैं कि जीवन की अनुभूतियां ही वास्तविक कला है और कलात्मक अनुभूतियाँ—जीवन!

कविवर मुक्तिबोध अपने चिंतन के क्षणों में, अपने विवेचनों में अनेकशः भाव, भावना, अनुभूति और संवेदना जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। इन पर विशेष बल भी दिया है। इससे उनकी रसवादी दृष्टि अनुमानित हो जाती है। यदि अन्त-बाह्य के सामंजस्य से विनिर्मित अनुभूति ही रस है, तो हम निस्संदेह मुक्तिबोध को चिंतन के धरातल पर रसवादी भी कह सकते हैं। पर रसवाद का यदि लोकोत्तर और ब्रह्मानन्द-सहोदर परम्परागत अर्थ ही ग्रहण करना है, तब मुक्तिबोध को रसवादी करना घोर अन्याय होगा! लोकोत्तर वेद्यांतर शून्य आदि पर उन्हें विश्वास नहीं था। वे स्वयं कठोर संघर्षों में तपकर आए थे, भौतिक स्तर की दुर्दान्त मंत्रणाएँ उन्होंने झेली थीं और अनंत जन-राशि को झेलते देखा था। उसी से उनकी भावुकता ने, बौद्धिकता और आंतरिकता ने जो कुछ ग्रहण किया, वही उनकी अनुभूति है, रस है, कविता है और वह सब है कि जो साहित्य कला के क्षेत्र में आ सकता है।

इस प्रकार, उपरोक्त समूचे विवेचन और विश्लेषण के निष्कर्ष स्वरूप, अन्त में कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि कविवर मुक्तिबोध ने खुली सधी आँखों से जगत-जीवन को देखा, भोगा और घुट-घुटकर भी जिया। जैसे हमारा दृश्य जगत-जीवन स्पष्ट है, यथार्थ है; उसी प्रकार मुक्तिबोध के जागतिक चिंतन और शास्त्रीय चिंतन के धरातल एकदम स्पष्ट, बल्कि दृश्य और स्पृश्य हैं। उनमें किसी प्रकार का लाग लपेट नहीं हैं, बनावट नहीं है। वह सब उनके अनवरत अध्ययन, चिंतन, मनन और अन्वेषण ग्रहण का ही परिणाम है। अतः तथ्य और सत्य के एकदम निकट है और इसी कारण प्रभावी भी है—चामत्कारिक यद्यपि नहीं है।

00

अंधेरे में

कविता–भाव-बोध–स्वर्गीय मुक्तिबोध की प्रस्तुत लम्बी कविता 'अंधेरे में' को कवि द्वारा सृजनकाल में 'आशंका के द्वीप : अंधेरे में' नाम दिया गया था, जिसे कवि की इच्छा से ही बाद में उपरोक्त शीर्षक के रूप में रहने दिया गया। वस्तुतः इस कविता में अपने रचनाकालीन परिवेश को लेकर, समय और उसकी जटिलता को लेकर, जो विभिन्न प्रकार की शंकाएं, संदेह, मन की आन्तरिकता में कौंध-कौंध गये, उन्हीं सबको प्रत्यांकित किया गया है। इस कविता के कथ्य के बारे में, अपनी भूमिका में श्री शमशेर बहादुर सिंह एक स्थान पर लिखते हैं:

"मुक्तिबोध शुक्रवारी में तिलक की मूर्ति के पास ही गली में रहा करते थे। एक्सप्रेस मिल के मजदूरों पर जब गोली चली तो रिपोर्टर की हैसियत से वे घटनास्थल पर मौजूद थे। उन्होंने सिरों का फूटना और खून का बहना अपनी आंखों से देखा। 'अंधेरे में' शीर्षक उनकी सशक्त और मार्मिक कविता उनके नागपुर जीवन के बहुत सारे सन्दर्भ अपने अंदर समेटें हुए हैं। मुक्तिबोध का सारा समय साधारण श्रमशील लोगों के बीच पत्रकारिता और राजनैतिक-साहित्यिक बहसों में बीतता था।" इस कथन के सन्दर्भ से प्रस्तुत के भाव-बोध के बारे में कहा जा सकता है कि वह जीवन के चारों और परिव्याप्त अंधकार ही है, जो कवि के मन को आशंकित करता रहता है, उसे अपने ही परिस्थितिजन्य अंधकार में भटकने और वहां से जीवन-तत्व खोज लाने की प्रेरणा देता रहता है।

इस कविता के भाव-बोध, अंतर्हित सन्दर्भों और इसके मूल वैशिष्ट्य को अभिव्यंजित करते हुए अपनी भूमिका में, उपर्युक्त विद्वान अंयत्र फिर लिखते हैं–"यह कविता देश के आधुनिक जन-इतिहास का, स्वतंत्रता-पूर्व और पश्चात् का एक दहकता इस्पाती दस्तावेज है। इसमें अजब और अद्‌भुत रूप से व्यक्ति और जन का एकीकरण है। देश की धरती, हवा, आकाश देश की सच्ची मुक्ति-आकांक्षी नस-नस इसमें फड़क रही है . . . और भावनाओं के अनेक गुम्फित सतरों पर।" डॉ. प्रभाकर माचवे का कहना है कि "यह Gvernica in verse है: इसके बहुत से अंश पिकासो के विश्व-प्रसिद्ध चित्र जैसा ही प्रभाव डालते हैं। 'अंधेरे में' मुक्तिबोध की एक ऐसी कविता है, जिसमें उनकी काव्यात्मक शक्ति के अनेक तत्व मिल-घुलकर एक महान रचना की सृष्टि करते हैं, जो रोमानी होते हुए भी अत्यधिक यथार्थवादी और एकदम आधुनिक हैं। . . . उसके बिम्ब और प्रतीक, संकेत और सन्दर्भ, शब्द और ध्वनिचित्र, बड़ी गहरी और विविध गूँजें हमारी भावनाओं में भर जाते हैं।" इसके बाद प्रस्तुत कविता के भाव-बोध, कथ्य-शिल्प आदि के संबंध में और कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

व्याख्या

जिन्दगी के ...कमरे में अंधेरे...कौन मनु ? (पृ० २५६)

शब्दार्थ–तिलस्मी खोह=जादुई-गूफा। भीत-पार=दीवार के पार, यहाँ आन्तरिक स्थितियों से पार। गहन=गहरी। अनिवार=अनिवार्य, निश्चित-सा। खिरती=खुरती, भुरती, उखड़ती। स्वयमपि=अपने-आप ही। भव्य ललाट=ऊँचा प्रकाशमान मस्तक। हनु=ठोड़ी। मनु=आदि पुरुष, मानव।

प्रसंग–प्रस्तुत काव्य पंक्तियाँ कविवर मुक्तिबोध के प्रसिद्ध काव्य-संकलन 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में संकलित 'अंधेरे में' नामक लम्बी कविता के आरम्भ में से उद्धृत की गई हैं। इस कविता में कवि ने अपने समकालीन अनुभूत जीवन के अनेक तथ्यों को अपनी ही आशंकाओं-व्यथाओं के आलोक में, अपने मन की गहन आन्तरिकता में उमड़ते उनके स्वरूप का पुनरांकन किया है, जिससे उनका अपना परिवेशगत जीवन अपनी समूची विद्रूपताओं में सजग-साकार हो उठता है। कविता में अनके घटित सन्दर्भ समूची आन्तरिकता के साथ जुड़े हुए हैं। प्रस्तुत प्रसंग में अपने ही अंतस में अपने ही उमड़ते अंतर्मन की आशंकाओं, भावनाओं के प्रति प्रश्नात्मक भाव से कवि कह रहा है :

व्याख्या–जिन्दगी के अंधेरे-बंद कमरे में –अर्थात् अंतर्मन की गहराई में कोई एक आशंका, किसी एक स्थिति का रूप-भाव सहसा प्रस्फुटित हो उठने के लिए लगातार चक्कर लगा रहा –अर्थात् रह-रहकर उमड़-उमड़ पड़ने की चेष्टा कर रहा है। उसके अलक्षित पैरों की अलक्षित-सी आवाज अपने भीतर-ही-भीतर मेरे कान लगातार सुन-अनुभव कर रहे हैं। मैं उस आशंकित भाव-विचार के स्वरूप को बार-बार देखने की चेष्टा करता हूँ, पर वह दिखाई ही नहीं देता। अर्थात् समझने का प्रयत्न करने पर भी वह अपनी वस्तु-स्थिति में स्पष्ट समझ नहीं आ पा रहा। पर मन की तिलस्मी गुफा में बन्दी बना-सा वह (अलक्षित विचार या दृश्य) निरंतर घूम रहा है। जैसे दीवार के पार से किसी के आने की सूचक पद-चाप तो सुनाई देती है, पर वह कौन-क्या है, यह स्पष्ट नहीं होता, उसी प्रकार मन-मस्तिष्क की आन्तरिकता में कुछ उमड़-घुमड़ रहा है अवश्य, पर पता नहीं चल पा रहा कि क्या है ? लगता है, जैसे गहरे अंधेरे में कोई रहस्यमय ध्वनि अपने अस्तित्व को जनाने के लिए रह-रह कर उठ रही हो। जो है–निश्चित है, एक प्रकार की अनिवार्यता है, पर उसको प्रत्यक्ष-स्पष्ट देख-समझ कर, मेरा धुकधुकाता हुआ हृदय जैसे अपने-आप ही पूछ-पूछ उठता है कि वह कौन है, जिसको मैं सुन तो रहा हूं, पर देख नहीं पा रहा ?

तब, जैसे किसी पुराने खण्डहर या मकान के समय की मार से फूले हुए पलस्तर अपने-आप गिरने-झड़ने लगते हैं, चूने से भरी रेत खुचकर झरने लगती है और इस सब से अपने-आप ही दीवारों पर कोई बड़ी आकृति-सी बन जाया करती है, अपने-आप ही दीवार पर कोई मुख बन जाता है, नुकीली नाक, ऊँचा-चमकीला मस्तक, दृढ़ ठोड़ी आदि बनकर एक परिचित-अपरिचित आकृति के रूप में प्रगट हो जाया करती है, उसी प्रकार कवि के मन में भी पुरानी बीती घटनाओं के पलस्तर-रेत-चूना झर कर उसके सामने कुछ ऐसी विचारों-भावों की आकृतियां-सी खड़ी कर देते हैं, तब वह सब मन की आँखों से देखने तो लगता है, पर पहचान नहीं पाता। तब सहसा

अपनी अंतर चेतना में कवि उस अलक्षित-अजान आकृति से प्रश्न कर उठता है—मेरे मन के अंधेरे में, विचारों की गहनता में क्या स्वयं मनु (आदि मानव) उभर आया है ? या यों कह सकते हैं कि मानवता के परम्परागत उच्च भाव की आकृति-सी अंकित होकर रह गई हैं, जिसके प्रति कवि का मन प्रश्नात्मक जिज्ञासा से भर उठता है।

विशेष—यहाँ मनोवैज्ञानिक धरातल पर कवि ने अपने ही गहन मनोद्वन्द्व को अभिव्यंजित किया है। वस्तुतः चिन्तन की गहन स्थितियों में व्यक्ति की मनःस्थिति इसी प्रकार बूझता-अबूझता के द्वन्द्व में उलझ कर प्रश्नात्मक या जिज्ञासात्मक हो जाया करती है, जिसका स्वाभाविक प्रत्यांकन हुआ है।

दीवार से पलस्तर गिरना आदि की प्रतीकात्मक परिकल्पना बड़ी ही सहज, स्वाभाविक और सार्थक है। वह विगत की स्मृतियों, घटनाओं, दृश्यों के क्रमशः और सहसा उघड़ने की परिचायक है। दीवार पर आकृति बनने की परिकल्पना भी अत्यंत स्वाभाविक और कवि की सूक्ष्मदर्शिता की परिचायक है।

'कौन मनु ?' का प्रश्नात्मक भाव मानवता का अरम्भ से विवेचन-मूल्यांकन करने के लिए व्यक्त किया गया लगता है।

बाहर शहर के, पहाड़ी..वह समझ में आता (पृ० २५७)

प्रसंग—उपरिवत्।

व्याख्या—शहर के बाहर, पहाड़ी के उस पार, एक गहरा तालाब है। उसके चारों ओर गहरा अंधेरा छा रहा है। तालाब का जल भी जैसे जड़-निस्तब्ध होकर रह गया है पर, उसके पानी के भीतर से गहरे-काले पानी रूपी शीशे के भीतर से कोई श्वेत आकार सहसा मेरे समक्ष उभर रहा है। कोहरे से ढका-अर्थात् श्याम एवं विवर्ण-सा पड़ गया कोई बड़ा चेहरा मेरी चेतना के सामने फैला जा रहा है। वह चेहरा मुस्करा कर अपनी पहचान बताने की कोशिश करता है। पर मैं हत्प्रभ-सा, अपहचान से घिरा रह जाता हूँ। कुछ समझ में नहीं आ पा रहा कि आखिर चेतना पर सहसा उभर कर छा जाने वाला वह आकार किसका है ? कौन है वह जो इस प्रकार उभर कर मेरी चेतना को जैसे झंझोड़ रहा है।

विशेष—चिन्तन के गहन क्षणों में कवि के अपने ही द्वन्द्व एवं रूप उसकी चेतना के आकाश पर मंडराने लगे हैं। सारा वर्णन-विवेचन पूर्णतया मनोवैज्ञानिक एवं मनोद्वन्द्व का सघन परिचायक है। तालाब मन का तम, श्यामल जल उदासी और निराशा की स्थितियों का परिचायक है। फैलने वाला कुहरीला बड़ा चेहरा जीवन में आस-पास छा रही विषम निराशा का परिचायक है। उसे हम परिस्थितियों की सघनता भी कह सकते हैं।

अरे ! अरे ! ! तालाब के..रहस्य साक्षात् ! ! (पृ० २५७)

शब्दार्थ—शीश=चोटिया। तिलस्मी खोह=जादुई गुफा, रहस्यपूर्ण मनःस्थिति। शिला-द्वार=पत्थरों से बना दरवाजा, विकट प्रतिबन्ध। अंतराल-विवर के तम में=छेद या द्वार के भीतरी अंधेरे में, अंतर्मन की सघनता में। रक्तालोक-स्नात=खूनी उजाले में नहाए, रक्तिम चमक में डूबे।

प्रसंग—उपरिवत्।

व्याख्या—अरे ! यह क्या ? तालाब के आस-पास छाये गहरे अंधेरे में घने, गहरे, हरे-हरे जंगली वृक्ष एकाएक चमक उठते हैं। उन वृक्षों की चोटियों पर जैसे क्षणिक आलोक देने वाली

बिजलियां रह-रह नाच उठती हैं। वृक्षों की शाखाएं जैसे तेज आंधी के आवेग में झूमती हुईं, जैसे परस्पर झपटती हुईं अचानक एक-दूसरे पर अपने सिर-से पटकने लगी हैं। तभी उन वृक्षों के गहरे अंधकार में छिपी हुई एक जादुई गुफा का पत्थरों से बना द्वार घड़-घड़ाकर सहसा खुल जाता है। उसमें एक अजीब-सी लाल मशाल धंसती हुईं दिखाई देने लगती है। उस गुफा के छेद या भीतरी भाग में लाल-लाल कुहरा छा रहा है। उस कुहरे में खून के प्रकाश से नहाया हुआ एक पुरुष सहसा दिखाई देता है। इस प्रकार सारा वातावरण और उसमें वह रक्त-रंजित पुरुष सभी कुछ एक अजीब से रहस्य को साक्षात् कर रहा है।

विशेष–कवि ने वस्तुतः अपने आस-पास चलने वाले हड़ताली वातावरण, उसमें हड़ताली श्रमिकों पर होने वाले अत्याचार, खून-खराबा और इस सब के कारण बनने वाले वातावरण की गम्भीर रहस्यमयता का अपनी अंतश्चेतना में पुनरीक्षण किया है। इस दृष्टि से अंधकार, वृक्ष, डालियों का आपस में टकराना, बिजलियां चमकना, तिलस्मी खोह का शिला-द्वार, लाल मशाल, लाल कुहरा, रक्तालोक-स्नात पुरुष आदि सभी प्रतीक हैं कि, जिन्हें साम्यवादी विचारधारा और उससे अन्वित श्रमिक आन्दोलनों की देन कहा जा सकता है।

तेजो प्रभावमय उसका.............................गहन एक सन्देह। (पृ० २५७-२५८)

शब्दार्थ–ललाट=उन्नत मस्तक। गौर वर्ण=गौरा रंग-रूप। दीप्त दृग=चमकते नेत्र। सौम्य=शान्त, भद्र। आजानु भुज=घुटनों तक लम्बी बाहें।

प्रसंग –प्रस्तुत पंक्तियां कविवर मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' से उद्धृत की गई हैं। चेतना के धरातल पर रहस्यमय, शंकाकुल वातावरण की सृष्टि करने के बाद कवि अपनी ही अंतश्चेतना में एक सम्भावित-कल्पित भव्य मानवता के दर्शन करता है। उसी स्थिति का वर्णन करते हुए कवि कह रहा है:

व्याख्या–लाल कुहरे से उत्पन्न रक्त रंजित आकृति–अर्थात् खूनी क्रान्ति से उत्पन्न उस उन्मुक्त व्यक्तित्व का ऊँचा मस्तक तेज से मण्डित एवं अत्यधिक प्रभामय था। उसे निहार कर मेरे अंग-प्रत्यंग एक अजीब-सी थरथराहट से भर उठे। उसका गोरा रंग, चमकते हुए बड़े-बड़े नेत्र और शान्त-सौम्य मुख, उस पर छा रही सम्भावित स्नेह की एकप्रिय लगने वाली रूपरेखा देखकर मेरा अंतर्मन एक विलक्षण-सी शंका से भर उठा। उस दिव्य विराट पुरुष की महानता की प्रतीक घुटनों तक लम्बी बांहें साक्षात् निहारते ही मेरे मन में एक गहरा सन्देह का भाव जागृत हो उठा।

भाव यह है कि मानव की दिव्यता और विराटता को जगों की आवश्यकता है। उसके विनिर्माण और जागरण में ही मानवता का भविष्य सुखद-सुरक्षित हो सकता है। पर उसका रूपाकार जाने कब साकार हो पाएगा।

विशेष–दिव्य, विराट मानव की परिकल्पना बड़ी ही भव्य एवं उदात्त है। सशस्त्र या रक्त-रंजित क्रान्ति के बाद ही ऐसी विराटता की परिकल्पना की सम्भावना कवि ने व्यंजित की है।

वह विराट व्यक्तित्व वस्तुतः कवि की अनभिव्यक्त चेतना के द्वन्द्व की ही देन कहा जा सकता है। स्वरूप-वर्णन का भी प्रस्तुत प्रसंग को अच्छा उदाहरण कहा जा सकता है। इनमें रोमानियत भी है।

वह रहस्मय व्यक्ति......................................अचेतन स्थिति में ! (पृ० २५८)

शब्दार्थ–अभिव्यक्ति=प्रकटीकरण, अभिव्यंजना। निहित=भीतरी। आविर्भाव=उदय। गुंजन=गहरे-सूने।

प्रसंग–कवि अपनी अंतश्चेतना में एक पूर्ण पुरुष,एक समग्र मानवीय समाज की अबूझ-सी परिकल्पना रखता है, कि जो जीवन के गहन अंधकार में भी अभिव्यक्ति पाने के लिए मचल रही है। पर जीवन में छा रहीं विषमताएं, निराशाएं उसे व्यंजित नहीं होने देतीं, इन विचारों को प्रगट करते हुए कवि कह रहा है :

व्याख्या–गहन अंधेरे की गुफा से रक्त-रंजित रूप में सहसा प्रगट होने वाला वह दिव्य पुरुष वस्तुतः मेरे विचारों का वह स्वरूप है जो अब तक प्रगट नहीं हो सके। मुझ पर जो प्रभाव पड़े हैं, मेरे मन में जीवन की जो भिन्न प्रकार की प्रतिमाएं हैं और मेरे मन में जो जीवन के भविष्य की अनेकविध सम्भावनाएं हैं, यह रहस्यमय व्यक्ति उस सबकी पूर्ण अवस्था का परिचायक है। इसके रूप में जैसे मेरे (मानवीय) परिपूर्ण का आविर्भाव या उदय हो रहा है। मेरे हृदय में ज्ञान का जो अनवरत संघर्ष और तद्जन्य तनाव-सा बना रहता है, यह उसी का प्रतीक है। इसे मैं अपनी आत्मा की प्रतिमा भी कह सकता हूं।

इसको लेकर उठने वाले प्रश्न न केवल गम्भीर ही थे, बल्कि खतरनाक भी थे। तभी तो जैसे बाहर—अर्थात् बाह्य-जीवन के गहरे-सूने जंगलों से आती हवा ने—अर्थात् वातावरण के प्रभाव ने मेरे ज्ञान की उस मशाल को ही जैसे फूंक मारकर बुझा दिया। इस प्रकार मुझे प्रश्नों के अंधकार में भटकते हुए सहसा पकड़कर जैसे मेरी चेतना को मर जाने की सज़ा सुना दी। एक निराशापूर्ण रिक्तता की काली—अर्थात् विषम निराशा से पूर्ण पट्टी को मेरी ज्ञान या सोच-विचार की आँखों पर बांध दिया। किसी खड़ी पाई की सूली पर मेरे विचारपूर्ण जीवन को टांग दिया गया—अर्थात् सूझों-सोचों के सामने, मानवता के उन्मुक्त निर्माण के प्रयत्नों के सामने एक मोटा, चुभने वाला—गड़ने वाला विराम-चिह्न-सा जीवन की विषमताओं ने अंकित कर दिया। अपनी अचेतन स्थिति में लगता है, मुझे किसी शून्य बिन्दु के गहरे-अंधेरे खड्डे में गिरा दिया गया है। अर्थात् सिवाय शून्यता के, विरोधों और अवरोधों के, घुटन और संत्रास के मेरे (मानव के) जीवन में और कुछ रहने ही नहीं दिया गया। मुझे बर्बर आदिम प्रवृत्तियों का शिकार बनने दिया गया।

विशेष–कवि रूप में सहज मानवीय अभिव्यक्तियों की विवशता का बड़ा ही सजीव, मार्मिक चित्रण किया गया है। अभिव्यक्ति की सजीवता भी विशेष दर्शनीय है।

मशाल चेतना और ज्ञान की प्रतीक है, वह क्रान्ति और संघर्ष की प्रतीक भी है। 'गुजान जंगली हवाएं' जीवन की बीहड़ता,सूनापन और सघनता की प्रतीक हैं। उन्हें विषमताओं का प्रतीक भी यहां बनाया गया है। 'शून्य बिन्दु के अन्धियारे खड्डे' आदि बर्बर प्रवृत्तियों का प्रतीक—सूचक है। कवि ने यह स्पष्ट किया है कि जागृत मानवीय चेतना के साथ आज भी बर्बरयुग की बर्बर प्रवृत्तियों जैसा ही व्यवहार किया जाता है।

(२) सूनापन सिहरा......................................बाहर जो खड़ा है। (पृ० २५८-२५९)

शब्दार्थ–सिहरा=कांपा। उर पर=हृदय पर। दुःसह=असहनीय। विमन=अनमाना। प्रतीक्षातुर=प्रतीक्षा के लिए व्याकुल। द्युतिमय=प्रकाशवान।

प्रसंग–प्रस्तुत पंक्तियां कविवर मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' के दूसरे भाग के आरम्भ

में से ली गई हैं। कवि की अंतश्चेतना मनोवैज्ञानिक स्तर पर अत्यधिक द्वन्द्वग्रस्त होकर, अपनी आन्तरिकता को अभिव्यक्त कर पाने के लिए छटपटा रही है। भोगे-बीते क्षणों के विषम, भयावह और घुटन भरे चित्र-रूप मनसाकाश से उतर कर शब्द-रंगों के द्वारा रूपाकार प्राप्त करना चाहते हैं। उसी सबको और अपनी विवशता को भी प्रस्तुत पंक्तियों में रूपायित एवं अभिव्यंज़ित करते हुए कवि कह रहा है :

व्याख्या–मेरे चारों ओर फिर रहा सूनापन कि जो आदिम बर्बर प्रवृत्तियों और गहन एकान्तिकता का परिचायक है, वह जैसे उस मनः पुरुष के प्रभाव से सिहर-कांप रहा है। मन के और जीवन के चारों ओर छा रहे निराशा के अंधकार में से भी जैसे ध्वनियों के बुलबुले उभरने लगे हैं–अर्थात् जैसे बुलबुले पानी के ऊपर बनते-बिगड़ते दिखाई देते हैं, उसी प्रकार से मनः चेतनाओं के आकार-प्रकार भी ध्वनित होकर बनने-बिगड़ने लगे हैं। सूने मुख पर अब स्वरों की सलवटें बनने लगी हैं। अर्थात बोल पाने में असमर्थ मुख भी अब बोलने की, बोल पाने की भंगिमा में उभर रहा है। शब्दों की लहरें–अर्थात् अर्थों और विचारों की तरंगें मेरे हृदय पर मचलती, छटपटाती और फिर असमर्थ-सी होकर जैसे हृदय में ही धंस-समाई जा रही हैं। ये विचारों की लहरें अत्यधिक मधुर हैं, पर बहुत असहनीय भी हैं। अर्थात् अब इन्हें अपने ही पास बांध-समेट कर रखना मेरे लिए असहनीयता ही स्थिति तक कठिन हो गया है।

दरवाजे पर रह-रहकर साँकल-सी बज रही है। अर्थात् कोई अज्ञात हृदय के द्वार को जैसे धकियाकर, चेतावनी दे-देकर खुलवाना चाहता है। जैसे विचार उमड़-घुमड़ कर प्रगट हो जाने के लिए मन के द्वारों के उस पार तीव्रता से मचल और कुलबुला रहे हैं। जैसे कोई–अंतश्चेतना–मेरी ही बातों को मुझे बताने के लिए मन के द्वार बजा-बजाकर अपनी ओर बुला रहा है। मानो कोई मेरे हृदय को सहलाकार किसी जटिल बात के प्रसंग को सत्य रूप में मेरे होंठों पर होंठ रखकर कहने के लिए मचल-तड़प रहा है। उस बात को सुनकर मेरा पहले से ही धंसा जी और भी अधिक धंस जाए। इस प्रकार और इसीलिए शायद कोई द्वार पर रह-रहकर सांकल बजाए जा रहा है। पता नहीं, आधी रात के इतने गहरे अंधेरे में मुझसे मिलने के लिए यह कौन आया है। उस बाहर खड़े, प्रतीक्षा में व्याकुल, अनमने-उदास चेहरे को कि जो चिन्ताओं के कोहरे से घिर-ढंक रहा है फिर भी अपनी ऊर्जस्विता में प्रकाशमय है, उस प्रेम भरे चेहरे को मैं पहचानता हूँ। वह जो भोले-भाले भाव में प्रतीक्षातुर बाहर खड़ा है। मेरी अंतश्चेतना उसे अच्छी तरह पहचानती है।

विशेष–विवेचन और कथन की भंगिमा में रोमानियत विशेष उल्लेख्य एवं दर्शनीय है। छायावादी रहस्यमयता का आभास भी छाया रहते है। 'सहसा होंठ पर होंठ रख' जैसे पदों में रोमान्स की सजीवता द्रष्टव्य है।

उत्प्रेक्षा, उपमा, उदाहरण, विशेषण-विपर्यय जैसे अलंकारों का सुघड़ प्रयोग किया गया है। अपनी प्रतीकात्मकता में कवि की अपनी ही अंतश्चेतना उसे जैसे पुकार-पुकार कर सोचने-विचारने और बोलकर अभिव्यंजना के लिए विवश कर रही है।

'ध्वनियों के बुलबुले', 'शून्य के मुख पर सलवटें' जैसे प्रयोग बड़े ही ताजे, प्रभावी एवं मौलिक हैं। इनमें तथा 'सूनापन सिहरा' जैसे प्रयोग में मानवीकरण की प्रवृत्ति भी दर्शनीय है।

यह वही व्यक्ति है, जी हाँ.................................डरता हूँ उससे। (पृ० २५९-२६०)

शब्दार्थ–अवसर-अनवसर=समय-कुसमय। आहत=घायल। क्षत-विक्षत=घावों से घायल।

प्रसंग–अपनी ही मन की परछाइयों को, अपनी ही अंतः-आशंकाओं के द्वीप में से जानने-पहचानने की चेष्टा करते हुए, उसके एक अंय आकर्षक, भव्य एवं रोमानी स्वरूप का वर्णन करते हुए प्रस्तुत पंक्तियों में कविवर मुक्तिबोध कह रहे हैं :

व्याख्या–मेरे मन के द्वारों के सांकलों को बजा-बजाकर मुझे अपनी ओर बुलाने वाला यह वही व्यक्ति है—मेरी ही अंतश्चेतना की शंकित-स्वरूपित परछाईं है, जो मुझे पहली बार जादुई गुफा में—अर्थात् रहस्यमय मानसिकता में दिखाई दी थी। आज ही नहीं, पहले भी यह समय-कुसमय सहसा प्रकट होकर मेरे सामने, बिना मेरी सुविधा-असुविधा का ध्यान रखते हुए, आता रहा करता है। कहीं भी किसी भी स्थिति में यह मेरे समक्ष उपस्थित हो जाता है। इसका कोई भी स्वरूप और यह किसी भी बात का, तथ्य का प्रतीक बन जाता है। यह अपने संकेतों से मुझे जीवन के तथ्य बताता एवं समझाता ही रहा करता है और अंतःचेतना को बिजली जैसे तीव्र झटके दे-देकर अनवरत, अक्सर झंझोड़ता रहा करता है।

कैसा है मेरा वह विचार-भाव-पुरुष। उसके चेहरे पर सुबहें खिला करती हैं। अर्थात् वह मुझे जीवन के नये रूपहले प्रातःकाल का संकेत-संदेश देता है। उसके गालों पर ऊँचे चट्टानी पठारों की चमक रहा करती है। अर्थात वह पठार-सा ऊँचा, दृढ़ एवं उज्ज्वल-सा प्रतीत होता है। उसकी आँखों से किरणों-सी उज्ज्वल शान्ति की लहरें मचला करती हैं। उसे देखकर अनायास ही मन में प्यार का भाव उमड़ पड़ता है। मन में आता है कि तत्काल दरवाजा खोलकर उसे बाँहों में कस लूँ। आलिंगन में बांध अपने हृदय में समा लूं। उससे लिपटकर उसमें घुल-मिल जाऊँ—अर्थात् उसी का रूप हो जाऊँ। पर क्या करूं। अपने मन्तव्य को, भवितव्य एवं भावना के प्रिय को मैं अपनी बांहों में बांध पाने में सर्वथा असमर्थ हूं। क्योंकि मैं जीवन की विषमताओं के भयानक खड्डे में विवश, घायल और क्षत-विक्षत पड़ा हूँ। मुझमें तनिक-सा भी उठ पाने की शक्ति नहीं है। यह भी ठीक है कि मुझे दुर्बलताओं से ही लगाव एवं सहानुभूति है। अर्थात मैं स्वयं विवश-दुर्बल हूँ और अपने जैसे लोगों से ही सहानुभूति रखता हूँ, इस प्रकार मैं अकेला एवं शक्तिहीन हूं। इसी कारण अपने प्रिय को टालता और स्वयं उससे कतराया-डरा-सा रहा करता हूं।

विशेष–वर्णन एवं अभिव्यक्ति में गहरी रोमानियत उल्लेख्य एवं द्रष्टव्य है। 'उसके चेहरे पर खिलती हैं सुबहें ···मिल जाऊं लिपट कर उससे' भाग अपनी रोमानियत में विशेष आकर्षक है।

कवि ने सहज मानवीय विवशता का वर्णन किया है जो कि अपने प्रिय—अर्थात् मन्तव्य को पहचान कर भी उसे पा नहीं सकती।

'खड्ड का अंधेरा' चेतना की घुटन का प्रतीक है। प्रिय कवि की उन्मुक्त अंतश्चेतना का परिचायक हैं। इस प्रकार अपनी रोमानियत में समूचा वर्णन ही प्रतीकात्मक है।

वह बिठा देता है तुंग शिखर··· चाहे जो भले ही। (पृ० २६०-६१)

शब्दार्थ–तुंग शिखर=ऊँची चोटी। कगार-तट=रेतीले किनारे। शोचनीय=चिन्ताजनक। पर्वत-सन्धि के गह्वर=पर्वतों के बीच की रिक्तता, गुफाएं। शिखर-कगार=पहाड़ी चोटी के ऊपरी भाग। तम-शून्य=सूने अंधेरे, बर्बर युग का अज्ञान-अंधकार। द्युति-आकृति-सा=प्रकाश के आकार

जैसा। नक्षा=नक्शा।

प्रसंग–अपनी अंतश्चेतना में उमड़-घुमड़कर सिजाने वाली चेतना-पीड़क होते हुए भी उसका त्याग कवि को सहन नहीं। अतः अपनी चेतना के द्वन्द्व को रूपाकार देने, उसके अनुसार जीवन के विनिर्माण की अकाट्य इच्छा प्रगट करते हुए कवि मुक्तिबोध कह रहे हैं।

व्याख्या–अंतश्चेतना के द्वन्द्वों में अहर्निश मचलने वाला मेरा यह विचार-भाव-प्रिय मुझे विचारों-भावों की उच्चता के शिखरों पर बिठा देता है। अर्थात् उसकी अंतःप्रेरणा से मेरे मन-मस्तिष्क में अनेक प्रकार के नये-नये उच्च विचार जागृत होने लगते हैं। वेविचार कई बार अत्यधिक खुरदरे यानि कि अटपटे और खतरनाक भी हुआ करते हैं। इस प्रकार वह मुझे अत्यधिक चिन्तनीय स्थिति में धकेल देता है। कभी वह कहता है—पहाड़ियों के सन्धि-स्थलों में विद्यमान गुफाओं-खड्डों को पार करो, रस्सी से बने पुल पर चलकर दूर दिखाई देने वाले शिखर की चोटियों के किनारों तक स्वयं पहुंचो। अर्थात् वह मुझे अनेक प्रकार की विषमताओं कठिनाइयों को पार कर अपने जीवन के उच्चतम लक्ष्यों तक एक-अकेले पहुंचने की प्रेरणा देता है।

तब मैं कह उठता हूं—नहीं, मुझे शिखरों की यात्रा नहीं करनी है—अर्थात् किसी भी उच्च लक्ष्य को नहीं पाना है। मुझे इन ऊंचाइयों से बहुत डर लगता है। अर्थात् उच्च लक्ष्यों तक पहुंचने के रास्ते अनेक कठिनाइयों के डर से पूरित हैं। अतः मुझे चेताने के लिए जो साँकल बज रही है, बजने दो। जीवन के इस अंधेरे में आगे बढ़ने की, उन पर उठने की प्रेरणा देने वाली ध्वनियों के बुलबुले बनने-बिगड़ने दो। अर्थात् अंतः वैचारिक संघर्ष चलने दो। प्रेरणा देने, चेताने के लिए साँकल बजाने वाला जैसे स्वयं आया था, वैसे स्वयं ही चला भी जाएगा। मैं जीवन की गहन विषमताओं रूपी खड्डों के अंधकार में अपनी पीड़ाएं समेटे-सहते इसी ही प्रकार पड़ा रहूँगा। शायद ऐसा पड़ा रहना ही मेरी नियति है।

ओह ! मैं क्या करूं ? क्या नहीं करूं ? कोई तो मुझे बता दे। मन के इस गहरे अंधेरे में, मन की इस गहन बर्बरता में संसार की समीक्षा का उलझा भाव अनवरत तैर रहा है। मैं वह सब सह पाने में असमर्थ हूं। मेरे गहरे अंतराल में महान विवेक का भाव विक्षोभ से पीड़ित है। अब वह इस प्रकार की व्यथा, विषमता और शून्यता को सहन नहीं कर सकता। मेरे भीतर भरे अंधेरे से निपटने के लिए उसने जो प्रकाशवान आकृति वाला भविष्य का नक्शा दे रखा है, उसकी अवमानना, उसका बिगड़ता रूप—नहीं, अब यह सब सहन नहीं किया जा सकता। नहीं, नहीं, उस वैचारिक द्युति पुरुष को, अपने प्रिय को मैं किसी भी मूल्य पर त्याग नहीं सकता। इसके बदले में मुझे अब चाहे कुछ भी सहना पड़े, सहन करूंगा।

विशेष–कवि की अंतश्चेतना के द्वन्द्व से निखरा निर्णय बड़ा ही महत्वपूर्ण और आकर्षक है। उससे कवि की आन्तरिक ऊर्जा को रूपाकार मिल पाया है।

'तुंग शिखर' वैचारिक एवं सैद्धान्तिक उच्चता का प्रतीक है। 'पर्वत-सन्धि के गह्वर' बड़ी-बड़ी कठिनाइयों, मनः द्विविधाओं के प्रतीक हैं। 'रस्सी का पुल' उपाय सक्रियता का परिचायक है। 'शिखर कगार' उच्च लक्ष्य का प्रतीक कहा जा सकता है। इस प्रकार समूची प्रतीक योजना स्वाभाविक एवं विशिष्ट-अर्थगर्भित है।

उपमाओं और सामासिक पदावली का प्रयोग विशेष अर्थगर्भित तो है ही, शिल्पिक चमत्कार से भी संयत है।

कमजोर घुटनों को बार ··· झाँकता हूँ बाहर। (पृ० २६१)

प्रसंग--पुरानी, बेकार हो गई परम्पराओं, मान्यताओं और अवधारणाओं को त्यागने की अपनी अंतरात्मा की आवाज के बारे में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कवि मुक्तिबोध कह रहे हैं:

व्याख्या–विषमताओं की मार से आहत अपने कमजोर पड़ गयें घुटनों को बारम्बार मसल कर–अर्थात् उनमें उत्तेजना तीव्रता एवं शक्ति लाने का प्रयास कर लड़खड़ाते कदमों से मैं नये युग के द्वार खोलने के लिए उठता हूँ–आगे बढ़ने की चेष्टा करता हूँ। रक्तहीन मुरझाए हुए चेहरे और उस पर तथा आसपास छा गई गहरी बर्बरकालीन शून्यता को अपने हाथों से पोंछ डालने का प्रयास करता हूँ। अंधेरे में आगा-पीछा टटोलकर मैं आगे बढ़ता हूं। मेरे पैर अनन्त धरती के विस्तार को अर्थात् सुविस्तृत धरती पर रहने वाली मानवता के दर्द को महसूस करते हैं और मेरे हाथ दुनिया के विस्तार का अनुभव करते हैं। मस्तक के ऊपर आकाश का अनुभव भी मुझे होता है। कितना गहन अंधकार, कितनी विषमताओं की अंधियारी चारों ओर परिव्याप्त हो रही है, मेरा तड़फता दिल उसका भी अनुमान लगों का प्रयास करता है। मेरी आंखें जीवन की यथार्थता को सूंघने अर्थात अंदाजने की कोशिश करती हैं। इस सब से मेरे पास मात्र स्पर्श कर पाने की गहरी शक्ति ही है--अर्थात् जीवन की विषमताओं के अनुभव ही मेरी शक्ति हैं। मेरी आत्मा में सत्य एवं नित्य वेदना की आग दहक-दहक कर जलने लगी है। विचार अब मेरे विचार के संगी बन गए हैं –अर्थात् विचार प्रत्येक कदम की प्रक्रिया का रूप निर्धारित कर रहे हैं। भाव यह कि विचार ही मेरे उत्प्रेरक हैं।

अपने विचारों की प्रेरणा से अनुप्राणित होकर, मैं आगे बढ़ता हूं। सम्हल-सम्हल कर आगे कदम रखता हूं। बन्द दरवाजे को खोलने के लिए–चेतना के उद्घाटन के लिए उसे टटोलता हूं। जंग लगी, जंग के कारण चिपक कर रह गई सिटकनी को बलपूर्वक हिलाकर और अधिक जोर लगाकर मैं दरवाजा खोलकर बाहर देखता हूं। 'भाव यह है कि पुरानी व्यर्थ हो चुकी भावनाओं, परम्पराओं और अवधारणाओं को त्यागकर, जीवन के नव्य परिवेश को देखना-भालना ही मेरे सारे प्रयत्नों का उद्देश्य है।

विशेष–दरवाजा चेतनाओं के बन्द द्वार का प्रतीक है। 'शून्य के गहरे' पद बर्बरकालीन और आज व्यर्थ हो चुकी प्रवृत्तियें का परिचायक है। 'अंधेरे का अंदाज' अंध परम्पराओं, मान्यताओं और अवधारणाओं के फैलाव का परिचायक है। 'सत्त चित्त वेदना' पर सहज शाश्वत मानवीय करुणा का परिचायक है। 'जंग खाई, जमी हुई, जबरन सिटकनी' व्यर्थ हो चुकी परम्पराओं और अंधरूढ़ियों का प्रतीक है–परिचायक पद है।

कवि वस्तुतः परम्परागत अंध, शोषक परम्पराओं को त्याग कर जीवन और मानवीयता को खुली, सम्वेदनात्मक दृष्टियों से देखने की प्रेरणा देना चाहता है।

सूनी है राह, अजीब है ·································· गुरु है। (पृ० २६१-६२)

शब्दार्थ–ढीली आँखें = उदास, निराश दृष्टि। निःसंग = एकाकी। शोधकर = अंवेषण या खोजकर।

प्रसंग–सहज मानवीय सम्वेदना, जो सभी विषमताओं से छुटकारे का कारण बन सकती है–कहीं खोकर रह गई है। उसी को खोजने, उसी को पाने की आवश्यकता पर बल देते हुए, प्रस्तुत पंक्तियों में कविवर मुक्तिबोध कह रहे हैं :

व्याख्या–परम्परा और रूढ़ियों के जंग लगे दरवाजे खोलकर जब मैं वास्तविक जिन्दगी, सहज मानवीय सम्वेदनाओं को देखने का प्रयत्न करता हूं, तो मुझे सूनी राहों का अजीब फैलाव ही दिखाई देता है। अर्थात् लगता है कि जैसे जीवन सम्वेदनाहीन अनुभूतियों से शून्य होकर रह गया है। चारों ओर शीत अंधेरा छा रहा है–अर्थात् अंधेरे में निर्जीवता है। अंधेरे से, विषमताओं के कुहरे से छूटने का प्रयास भी कहीं दिखाई नहीं देता। तारे जैसे अपनी आंखों में एकदम निराशा एवं उदासी का भाव भर कर सूनी-सूनी दृष्टि से जगत को देखमात्र रहे हैं। अर्थात् एक अजीब-सी जड़ता, शून्यता जगत्-जीवन में परिव्याप्त होकर रह गई है। हर बात के लिए, हर प्रयत्न के लिए चिन्ता, चिन्तन, असफलता का अफसोस और फिक्र के कारण बढ़ते हुए दर्द का अन्धियारा पीपल ही जैसे दूर-दूर पहरा दे रहा है। अर्थात् पीपल के विशाल-व्यापक पेड़ के समान निराशा और दर्द का अंधकार ही जीवन में चारों ओर फैलकर रह गया है। जिस प्रकार तेज और एकाकी हवा में तैरती आती भौंकते कुत्तों की अलग-अलग आवाजें और परस्पर टकराती सियारों की ध्वनियां सुनाई दे जाती हैं। उसी प्रकार परस्पर लड़ते-झगड़ते वैयक्तिक स्वार्थों के सियारो जैसे स्वर ही सुनाई देते हैं। दूरियां कांप जाती हैं, फासलें गूँज जाते हैं–अर्थात् दूर-दूर से गुहारती मानवीय ध्वनियां परस्पर विचारों, धर्मों, जातियों आदि के फासलों–अर्थात् विभिन्नताओं को ही प्रकट करते हैं। ध्वनि जैसी सुनाई देती है कि बाहर कहीं कोई नहीं। अर्थात् अपनी विषमताओं विभेदों की परिधियों में ही सब फिर रहे हैं, कोई भी उनसे बाहर रह कर समूची मानवता के बारे में नहीं सोचना चाहता।

तभी सर्राती अंधियारी शून्यता में जैसे चीखकर रात का पक्षी कह उठता है कि–तेरी सम्भावना का, प्रतीक्षित चेतना का वह दिव्य पुरुष जाने कहां चला गया है। अब तुम्हारे द्वार पर कभी नहीं आयेगा। वह कहीं ग्रामों-शहरों की ओर निकल गया है। अब तुम्हें उसी को खोजना-शोधना है। वह तुम्हारी समग्र अभिव्यक्ति का परिचायक पूर्ण पुरुष है। पलायनवादी होते हुए भी तू उसी का शिष्य है। वही तेरा गुरु है। उसी को पाकर तू उस सहज मानवीय सम्वेदना को जगा सकता है कि जो खो गई है, मानवीयता को चाट कर जाने कहाँ चली गई है।

विशेष–'ढीली आंखों' पद निरस्तता और उदासी का प्रतीक है। 'अन्धियारा पीपल' पद अज्ञान-निराशा के विस्तार का परिचायक प्रतीत होता है। कुत्ते, सियार, दूरियां, फासले आदि मिलकर मानवों के पारस्परिक झगड़े, स्वार्थों और इनके कारण आये अंतराल के बिम्ब को उभारते हैं।

कवि ने अंत में खो चुके सहज मानवीय तत्वों के शोध एवं अंवेषण की प्रेरणा दी है।

(३) समझ न पाया कि चल.......................................में हूं ? (पृ. २६२-६३)

शब्दार्थ–पीतालोक-प्रसार = पीले प्रकाश के फैलाव। काल गल रहा है = समय नष्ट हो रहा है। जग-आकृतियां = चेतन सूरतें।

प्रसंग–प्रस्तुत पंक्तियां कविवर मुक्तिबोध की रचना 'चाँद का मुंह टेढ़ा है' में संकलित 'अंधेरे में' कविता के तीसरे खण्ड के आरम्भ से ली गई हैं। इस कविता में कवि ने जीवन के भोगे गये यर्थाथ को चेतना के द्वन्द्व के स्तर पर पुनः भोगा एवं प्रत्यांकित किया है। वैषम्यों की अनवरत मार ने आज की द्वन्द्वग्रस्त व्यक्ति-चेतना को एक प्रकार से स्वयं से ही अपरिचित बना दिया है। सो प्रस्तुत पंक्तियों में अपने-आप को ही खोजने, अपने-आप से ही परिचय पाने की चेष्टा करते हुए कवि कह रहा है :

व्याख्या–कुछ समझ में नहीं आ रहा कि यह जो कुछ भी अंतश्चेतना के द्वन्द्व के स्तर पर घटित हो रहा है, यह एक सपना-सा है, या गहन निद्रा के बाद जीवन में नव-जागरण का क्रम पुनः आरम्भ हो रहा है। चेतना का दीपक जल रहा है। उसके पीले से लगने वाले प्रकाश के फैलाव में लगता है जैसे कि काल गलता जा रहा है अर्थात् समय नष्ट या व्यतीत होता जा रहा है। मेरे आस-पास कहने को तो चेतन आकृतियां फैल रही हैं, पर वे चेतन–सजीव न प्रतीत होकर चित्रलिखित-सी और जड़त्व से भरी प्रतीत हो रही हैं। अर्थात् लगता है कि जीवन में कहीं भी सचेतनता, सक्रियता नहीं रह गई है। दिखाई देने वाली ये जड़त्व की परिचायक आकृतियां भी पास-पास नहीं बल्कि एक-दूसरी से दूर एकदम निर्जीव-सी पड़ी हैं। अर्थात् कहीं, किसी भी स्तर पर एकत्व का आभास नहीं दीखता।

यह सिविल लाईन्स का इलाका है। इसके एक–अपने कमरे में मैं बन्द बैठा हूं। मेरी वास्तविक स्थिति एक चुपचाप पड़े निर्जीव पदार्थ-सी हो रही है। मेरी आंखें खुली हैं। अर्थात् सभी-कुछ देखने-समझने की क्षमता रखते हुए भी जैसे जड़ता का प्रतीक बनकर रह गया हूं। मेरे चेहरे की स्थिति किसी पिटे और मार खाए बालक के चेहरे के समान निरीह-सी होकर रह गई है। अथवा, जैसे स्लेटपट्टी पर कोई बेडोल-सी, भूत जैसी आकृति खींच देता है–उसे अनुभव कर रह-रह कर मन में प्रश्न कौंध-कौंध जाता है कि क्या यही मैं हूं ? क्या यह ही मुझ मानव की आकृति है और क्या बिलगाव भरी निर्जन उदासी ही मेरी मानवीयता की परिभाषा बन कर रह गई है।

विशेष–'जलता दिया' प्रज्ज्वलित चेतना का प्रतीक है। 'पीतालोक' चेतना की दुर्बलता की ओर इंगित करता है। 'सिविल लाईन्स' आधुनिक तथाकथित सभ्यों की बस्ती की परिचायक है कि जिसने सामान्यों से बिलगाव का प्रसार हमारे जीवन में बहुत अधिक किया है और जहां सहज मानवीयता का अभाव परिलक्षित होने की विडम्बना पलती है 'अपने कमरे में पड़ा' यह अलगाव और जड़त्व का सूचक है कि जो जीवन में जहाँ-तहां चतुर्दिक छा रहा है।

कवि ने अन्तिम पदों में उपमा अलंकार का सुघड़ प्रयोग किया है। "क्या वह मैं हूं ?" अपनी यानि की मानवता की पहचान के लिए व्यक्त की गई चेतना की सहज अकुलाहट है।

रात के दो है..शायद, तॉल्स्तॉयनुमा (पृ० २६३-६४)

शब्दार्थ–अनपेक्षित = असम्भावित, अनिच्छित।

प्रसंग–कवि सहज मानवीय सम्वेदना को–कि जो खो चुकी है, खो जाने के लिए आकुल है। मानवता के भविष्य के प्रति उसका मन अत्यधिक आशंकित है। फिर भी कवि तॉल्स्तॉय के समान सहज मानवीय अनुभूति से आविर्भूत होकर, अपनी अनुभूतियों को सचेत, साकार और सक्रिय करने के प्रयत्न में कह रहा है।

व्याख्या–समय खण्ड गलता-बहता जा रहा है। इस समय रात के दो बज रहे हैं। दूर जंगलों से आती हुई सियारों की हू-हुवां की आवाज सुनाई पड़ रही है। निरन्तर घहराती, गरजती, गूंजती पास से गुजरने वाली किसी रेल के पहियों की भयानक आवाज भी कान सुन रहे हैं। अर्थात् समय चल रहा है और उसके साथ जीवन के सारे परम्परागत क्रम भी ज्यों-त्यों चलते जा रहे हैं। पर मेरे मन में किसी अघटित, असम्भावित घटना के घटने का भयानक सन्देह का

भाव अंगड़ाइयां लेने लगा है। जाने क्यों किसी रेल दुर्घटना के घट जाने की प्रतीक्षा मेरे अचेतन मन में अनवरत जाग रही है। आसमान-रूपी स्लेट की पट्टी पर चिन्ता रूपी गणित के अंक अनजाने हीं चमक रहे हैं और मुझे मेरे कमरे की खिड़की से दीखने वाले तारे भी उसी चिन्ता के गणित के अंक-से ही दिखाई देते हैं। अर्थात् कवि का मन इस वेदना से ग्रस्त है कि जीवन में भी, कहीं भी, कोई भी दुर्घटना घट सकती है।

चिन्ता के इन भयावह क्षणों में कवि को प्रसिद्ध रूसी लेखक (War and piece'=युद्ध और शान्ति' जैसे उपन्यासों के लेखक) तॉल्स्तॉय की याद आ जाती है। उसका मन भी इसी प्रकार अशान्त हुआ होगा। किसी अघटित घटना के घटित होने के कल्पित सन्देह एवं सन्त्रास से भर उठा होगा। अतः कवि कह उठता है—सितारों के बीच-बीच से कभी घूमते, कभी रुककर पृथ्वी की ओर देखते हुए महान लेखक तॉल्स्तॉय न जाने क्यों मुझे दिखाई देने लगा है। शायद वह तॉल्स्तॉय नहीं, बल्कि उसी जैसा कोई अंय व्यक्ति है, जो कि मेरे अंतर्मन के अन्तिम छोरों पर स्थित अलिखित उपन्यास का केन्द्रीय सम्वेदना या भाव बनकर रह गया है। जो मेरे अंतर्मन में दबी हाय-हाय का-सा या फिर शायद तॉलस्तॉय जैसा ही है।

विशेष—कवि ने तॉल्स्तॉय के स्मरण के माध्यम से व्यक्ति के मन-जीवन में युद्ध और शान्ति की मचलती रहने वाली अनवरत भावना का, मानवता के साथ घटने वाली दुर्घटनाओं से मानवता को बचाने का भाव व्यंजित किया है।

रेलगाड़ी का पहिया यांत्रिक सभ्यता की दौड़ का परिचायक है जो अनेक बार दुर्घटना का शिकार बनाकर मानवता को पीस-कुचल भी देता है। यह पूँजीवादी यान्त्रिक सभ्यता मानवता को कहीं कुचलकर न रख दे—यही बात कवि कहना चाहता है। तॉल्स्तॉय का प्रयोग एक मिथ के रूप में किया गया है। वह मानवता की शान्ति, सुख-समृद्धि की परिकल्पना का प्रतीक मिथ प्रतीत होता है।

कवि की अभिव्यक्ति के लिए छटपटाहट 'अनलिखे उपन्यास का केन्द्रीय सम्वेदन' पदों से व्यक्त हुई है। यह भी स्पष्ट है कि वह केन्द्रीय सम्वेदना मानवता और उसकी कल्याण-कामना ही है।

कवि ने सन्देह भाव का प्रत्यांकन पूर्ण मनोवैज्ञानिकता के स्तर पर किया है।

प्रोसेशन ?.......... निस्तब्ध नगर.............. किसी मृत्यु दल का। (पृ० २६४-६५)

शब्दार्थ—निस्तब्ध = जड़-शान्त। क्रमागत = क्रम से आती हुई। तार = ऊंचा। दीर्घ लहरियां = लम्बी लहरें। छोर = किनारे। उद्भास = उदय का आभास। अपार्थिव = जो पृथ्वी के नहीं, आलौकिक।

प्रसंग—कवि का मन भोगे हुए जीवन की अंतः झांकियां देख उनका पुनरीक्षण एवं प्रत्यांकन कर रहा है। चेतना में जो अनेकविध बिम्ब उभर रहे हैं, उनमें मरियल आन्दोलनों, जलसों-जुलूसों के बिम्ब भी हैं। ऐसे ही एक बिम्ब का रूपांकन एवं शब्दाकंन करते हुए कवि मुक्तिबोध आशंका-भरे कह रहे हैं :

व्याख्या—यह प्रोसेशन—यह जुलूस-सा कैसा है ? मध्य रात्रि के अंधकार में, जड़ से बन रहे सुनसान वातावरण में सहसा क्रम से इधर ही आती किसी बैण्डबाजे की दबी-दबी ध्वनियां, तानें सुनाई देने लगी हैं। मन्द, तार, निम्न, ऊंचे-नीचे स्वर गूंजकर जैसे किसी स्वप्न का-सा

वातावरण बना रहे हैं। गूँजती उदास, उदास-सी ध्वनियों की लहरें निरन्तर गम्भीर होती हुई लम्बी से लम्बी होती जा रही हैं। मैं गैलरी में जाकर रास्ते पर देखता हूं। यह कोलतार से बना पक्का रास्ता है अथवा कोई मृतक-सी पड़ी लम्बी काली जीभ है। चारों ओर सड़क पर ये चमकते हुए बिजली के दीपक जल रहे हैं या मरे हुए दांतों का कोई चमकीला नमूना पड़ा है। अर्थात् रास्ता एक अजीब मृत्यु के-से सन्नाटे का आभास करा रहा है। कहीं भी जीवन दिखाई नहीं देता।

पर, दूर, सड़क के उस किनारे पर ठण्डी रात में जैसे ठण्डक से कांप रहे तारों की अंधेरी छाया तले नीले तेज के उदय का आभास-सा लगातार इसी ओर, पास-पास आता जा रहा है। उसकी दबी-दबी स्वरों की लहरें, सैकड़ों ध्वनियों का संगम संगीत का स्वर लगता है जैसे अपनी आन्तरिक उदासी की तान-धुन में समीप ही समीप आती जा रही है।

और अब गैसों की रोशनी की पंक्तियां बिन्दुओं के समान छिटककर दीख रही हैं। उन छिटकती बिन्दुओं की रोशनी के बीचों-बीच अन्धियाले जुलूस-सा यह क्या है, जो कुछ-कुछ दीख रहा है।–अब गैसों की नीली रोशनी में रंगे ये आलौकिक-से चेहरे दिखाई दे रहे हैं, यह बैण्ड वालों का दल है। उनके पीछे काले बलवान घोड़ों का जत्था दिखाई दे रहा है। यह सब देखकर ऐसा लग रहा है कि घना डरावना अवचेतन (चेतन नहीं) ही उस जुलूस में चल रहा है। यह जुलूस है अथवा किसी मृतकों के दल की शोभा-यात्रा हो रही है ?

विशेष–जुलूस या प्रोसेशन श्रमिकों के आन्दोलन-मार्च का परिचायक है। गैस लाईट, बैण्ड, संगीत की अनेक ध्वनियां और घोड़ों का जत्था सत्ता की उज्ज्वलता, उग्रता का प्रतीक है। मरी जिह्वा-सी सड़क लोगों की मृतक या दबी हुई, विवश आवाज का प्रतीक है। इस प्रकार कवि यह स्पष्ट करना चाहता है कि आतंक की छाया में दबकर हमारे आन्दोलन उत्साह-यात्रा न रहकर विवशता पूर्ण मृत्यु-यात्रा बनकर रह गए हैं।

कवि के अपने साक्ष्य में घटित घटना, हड़ताल आदि की असफलता, समग्रतः एक निराशा का बिम्ब उभारने वाली है।

अजीब ! ! दोनों ओर.................................उनमें कई परिचित। (पृ० २६५-६६)

शब्दार्थ–पांत = पंक्ति। जादुई करामात = चमत्कार। अस्थि-रूप = हड्डियों के ढांचे। यकृत = प्लीहा, एक रोग। उदर-आकृति = पेट का ढांचा। दमकते = चमकते। आवर्त्त – भंवरें। पद चाप = पैरों की आवाज। सन्नद्ध = तैयार, कटिबद्ध।

प्रसंग–उपरिवत्।

व्याख्या–बड़ा ही अजीब दृश्य है। दोनों तरफ नीली रोशनी वाली गैस की पंक्तियां जल रही हैं। नींद में खोये हुए शहर की गहरी चेतना के अंतराल में, भीतरी गहनतम गहराइयों में जैसे धारीदार सांपों की उड़ती हुई रेखाएं-सी प्रतीत हो रही हैं। सभी नगर निवासी सोए हुए हैं, पर कवि कहता है कि मैं निरन्तर जागता हुआ इस रोंगटे खड़े कर देने वाले अजीब चमत्कारी दृश्य को देखता रहा।

बड़ा ही विचित्र जुलूस है। यह बड़ी गम्भीरता से इसका क्विक-मार्च हो रहा है। कलाबत्तू का कालीजरीदार पोशाक पहनकर बैंड वालों का दल बड़ा ही चमकीला प्रतीत हो रहा है। इनके पेटों की आकृति हड्डियों का ढांचा-सा या यकृत् (प्लीहा) जैसी प्रतीत हो रही हैं। इनके बाजे

अंतड़ियों के जाल जैसे बड़े ही भयंकर रूप में चमक रहे हैं। जिनसे स्वप्निल तरंगों वाले बड़े की गम्भीर गीत उभरते रहते हैं। और वे गीत जैसे ध्वनियों की भंवरों में रास्ते पर मण्डरा रहे हैं। बैण्ड बजाने वाले लोगों के चेहरे उन लोगों से मिलते-जुलते हैं जिन्हें मैंने देखा-पहचाना हुआ है। उनमें कुछ इसी नगर के प्रतिष्ठित पत्रकारों से भी प्रतीत होते हैं। उनके नाम तो बड़े-बड़े हैं, पर आश्चर्य है कि वे लोग इस बैण्ड-दल में कैसे सम्मिलित हो गए हैं। कवि का प्रतीकात्मक अभिप्राय यह व्यक्त करना प्रतीत होता है कि बड़े-बड़े पत्रकार भी शासन के कारनामों की डौण्डी पीटने वाले और खुशामदी बनकर रह गये हैं जो बेचारे आम लोगों के मातमी जीवन का उपहास उड़ाने में शामिल लगते हैं।

उन सब के पीछे नोकदार या तीखे संगीन का एक चमकीला जंगल-सा चल रहा है। उनके पैरों की आवाज भी चलती हुई-सी सुन पड़ रही है। उनके साथ ताल में बँध रही-सी टैंक-दल, मोर्टार, तोपदल की सन्नद्ध पंक्तियां हैं। धीरे-धीरे यह भयावना जुलूस आगे-ही-आगे बढ़ता जा रहा है। साथ चल रहे सैनिकों के चेहरे जैसे पथरा गये हैं, झुलस कर बड़ी गहराई से बिगड़ गये हैं। शायद, इन सबको मैंने पहले भी कहीं देखा था। शायद इनमें मेरे कई परिचित चेहरे भी हैं।

विशेष–कवि की कल्पना में स्यात् शासनशाही की छाया में निकलने वाले श्रमिकों के जुलूसों का दबा-घुटा विवश-सा चित्र घूम रहा है। उनमें आतंक की जो छाया कवि के मन-मस्तिष्क पर प्रतिच्छायित है, उसी से यह भयावह बिम्ब एक विद्रूप को उभार देने में सहायक हो रहा है।

उनके पीछे यह क्या...मृत-दत की। (पृ. २६६-६७)

शब्दार्थ–कैवेलरी = घुड़सवार सेना। भैरव = भयानक। आबदार = चमकीला। एकाग्रदृष्टि = निशाना साधे नजरें। धार = तीखापन। प्रकाश = चमक।

प्रसंग–छोटे-बड़े, अच्छे-बुरे सभी एक ही जुलूस-यानी पंक्ति में सम्मिलित होकर अपने साम्राज्यवादी, तानाशाही, शोषक स्वार्थों की पूर्ति करना चाहते हैं, इन तथ्यों को अपनी अंतः चेतना के स्तर पर अभिव्यक्त करते हुए कवि मुक्तिबोध कह रहे हैं:

व्याख्या–उस विशाल जुलूस के पीछे वह क्या है ? वह घुड़सवार सैनिकों का दल है। काले-काले घोड़ों पर खाकी रंग वाली सैनिक पोशाक पहने सैनिक हैं। उनके चेहरों का आधा भाग तो सिन्दूरी गेरुए रंग जैसा है, जबकि आधा काले कोलतार जैसा भयानक पर चमकदार है। सभी ने कंधों से कमर तक कारतूसों से भरी तिरछी पेटियाँ पहन रखीं हैं। सभी की कमर में चमड़े के कवर में लिपटे पिस्तौल भी हैं। उनकी क्रुद्ध और निशाना साध रही दृष्टियाँ बड़ी धारदार अर्थात तीव्र हैं। उनमें कर्नल, बिग्रेडियर, जनरल, मार्शल आदि सभी टैंकों के सेनाध्यक्ष और सेनापति हैं। ये सभी चेहरे मेरे परिचित-से प्रतीत हो रहे हैं। इनके लेख भी मैंने देखे और यहां तक कि इनकी रची कविताएं भी मैंने पढ़ी हैं। वाह-वाह ! क्या कहने हैं इन सबके ! इन पंक्तियों में कई प्रकाण्ड आलोचक, विचारक, प्रसिद्ध कवि, मंत्री, उद्योगपति, विद्वान तो हैं ही, यहां तक कि शहर का कुख्यात हत्यारा डोमा उस्ताद भी है, जो अपने को बलबन के समान समझता है। हाय ! ये सभी भूत-पिशाचों के समान दिखाई देते हैं। इनके भीतर जो स्वार्थों का राक्षस छिपा है, वह अब साफतौर पर इनके चेहरों और हरकतों से प्रकट होने लगा है। सभी के निहित स्वार्थी उद्देश्य भी यहां स्पष्ट हो रहे हैं। अतः इसे सहज मानवों का जुलूस न कहकर

किसी मृतक की शोभा-यात्रा ही कहा जा सकता है।

विशेष–ऊपर जितने प्रकार के भी परिचयात्मक नाम आये हैं वे सभी वर्गों के प्रतीक हैं। कवि यह स्पष्ट करना चाहता है कि जन-सहानुभूति के नाम पर ये सभी प्रकार के वर्गगत लोग वस्तुतः अपने ही निहित स्वार्थों को पूरा करना चाहते हैं, यह बात अब एकदम स्पष्ट हो चुकी है।

विचारों की फिरकी सिर में .... पसीने से सराबोर (पृ० २६७)

प्रसंग–उपर्युक्त प्रसंग में ही घटित की स्मृतिजन्य चेतना के खण्डहरों में भटकता कवि कह रहा है :

व्याख्या–सिर में एक-के-बाद एक विचारों का चक्कर घूमने लगता है। तभी उस जुलूस में से कुछ लोग अपनी भरी आंखों से मेरी ओर देखते हैं। उनकी दृष्टियों से मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे मेरे हृदय में अनेक संगीनों की तीखी नोंक धंस गई हों। सहसा सड़क पर शोर होने लगा—इस साले को गोली मार दो। हम लोग दुनिया की दृष्टियों से छिपकर, गुप्त ढंग से अपने स्वार्थ साधने इस आधी रात में जा रहे थे अंधेरे में कि इस साले ने हमें देख लिया है। इसने देखकर हमारी सारी गुप्त योजनाएं भी जान ली हैं। अतः इसे मारे डालो ! खत्म कर दो ! यह सुनकर रास्ते पर भगदड़-सी मच गई ! धक्का-मुक्की होने लगी और मैं पसीने से तर-बतर होकर गैलरी से भीतर की ओर भाग खड़ा हुआ।

विशेष–कवि यह स्पष्ट करना चाहता है कि जीवन और समाज के ये तथाकथित ठेकेदार प्रत्येक व्यक्ति के दुश्मन और उसकी जान के गाहक बन जाते हैं जो उनके विरुद्ध आवाज उठाना चाहते हैं। इस अहसास से भरा कवि का स्वर पूर्णतया यथार्थवादी है और जीवन के वास्तविक विद्रूप के भीतरी बिम्ब को सशक्त रूप में उभारने वाला है।

कवि नागपुर की एक्सप्रेस मिल में होने वाली हड़ताल के अवसर पर पत्रकार के रूप में सारे अत्याचार का साक्षी और तथ्यों का प्रवक्ता था। अतः उसे जो आतंकित किया गया, उसी की प्रतिक्रिया यहां अभिव्यक्त प्रतीत होती है।

एकाएक टूट गया स्वप्न........................ और सजा मिलेगी। (पृ. २६७-६८)

प्रसंग–कवि ने जीवन में सामान्य जनों के प्रति होने वाले स्वार्थी षड्यंत्रों को नजदीक से देखा और अनुभव किया है। अपनी अंतश्चेतना के द्वन्द्व में उसी सबका प्रत्यांकन करते हुए वह कह रहा है :

व्याख्या–मेरी चेतना के अंतर्तम में उभरने वाला वह सपना प्रतिक्रियावादियों की मानस-ध्वनियां सुनकर एकाएक टूट, छिन्न-भिन्न होकर रह गया। विचारों और कल्पनाओं के स्तर पर बनने वाले वे सारे चित्र जैसे गायब होकर रह गये। मैं जैसे जागृत अवस्था में आ गया और वे सारे अनुभूत घटनाबद्ध स्वप्न-चित्र फिर से मेरी स्मृतियों पर छाने लगे। अंधेरे में—अर्थात् गुप्त रूप से अपने स्वार्थों को सिद्ध करने में लगे वे सारे चेहरे फिर से स्मृति-पटल पर उभरने लगे। मैंने ऐसी प्रतीति की कि इस नगर की भरी हुई आत्माएं प्रत्येक रात इसी प्रकार का जुलूस बनाकर नगर के पथों पर चला करती हैं। पर दिन के समय वे सभी आत्माएं मिल-बैठकर, विभिन्न दफ्तरों, कार्यस्थलों में, अपने घरों और विविध केन्द्रों में अनेक प्रकार के षड्यन्त्र निरीह मानवता के विरुद्ध रचा करती हैं।

हाय ! आज मैंने उन सब को नंग—अर्थात् अपने षड्यन्त्रकारी वास्तविक रूप में देख-समझ लिया है। मैं उनके घिनौने स्वरूपों का साक्षी बनकर उनकी स्वार्थी नीयत के पर्दों का उद्घाटन करना चाहता हूं। इसी कारण इन निहित स्वार्थियों की दृष्टियों में मैं कठोर दण्ड का अधिकारी हूं। मुझे सजा भोगनी ही पड़ेगी।

विशेष–कवि के मन में अपने व्यक्तित्व की समाज और साहित्य के ठेकेदारों द्वारा की गई उपेक्षा का अहसास स्पष्ट है। जन-कवि होने के कारण मुक्तिबोध ने जीवन के घिनौने का ही कविता में उद्घाटन-उन्मेषन किया है। वही सब यहां भी हो पाया है।

अभिव्यक्ति में खण्ड-चित्रमयता स्पष्ट है। वह बहुत ही तथ्यपरक अतएव प्रभावी भी है। 'नगर की मृतात्माएं' पद उन लोगों के स्वरूप को अभिव्यक्ति देने वाला है कि जो जीवित तो हैं, पर आत्मिक या वैचारिक और मानवीय स्तर पर अपने स्वार्थों के कारण मर चुके हैं। पूरा बिम्ब विद्रूप का अभिव्यंजक है।

(४) **अकस्मात्-चार का गजर**.................................**रहा दिल यह।** (पृ. २६८)

प्रसंग–प्रस्तुत पंक्तियां कविवर गजानन माधव मुक्तिबोध की प्रसिद्ध रचना 'चाँद का मुह टेढ़ा है' में संकलित कविता 'अंधेरे में' के चौथे भाग में आरम्भ में से ली गई हैं। इस कविता में कवि ने जीवन के घिनौने विद्रूप का खण्ड-चित्रों में मनश्चेतना के स्तर पर पुनरीक्षण कर पुनरांकन किया है। रात्रि के अंधकार में अपने मन में बनने वाले भोगे यथार्थ के चित्रों की छाया में अपने मन की निरीह स्थिति का वर्णन करते हुए कवि कह रहा है :

व्याख्या–विभिन्न षड्यंत्रकारी विद्रूप चित्रों को मनःचक्षुओं से देखने में ही रात बीत गई। अचानक कहीं पास-दूर में चार बजने का सूचक गजर बज उठा। उसे सुनकर मेरा दिल धड़कने लगा। अत्यधिक उदास-निराश मनरूपी वल्मीक चंचल और विचलित-सा अचानक ही होने लगा। मन के गहरे अन्धियारे से काले-काले हायफन और डैशों की लकीरें बाहर निकलने और फिर भीतर धंसकर भयभीत करने लगीं। अर्थात् अनेक स्पष्ट अस्पष्ट प्रश्न अपनी रिक्तियों में उभर कर मेरे मन को पुनः भयभीत करने लगे। उनमें कहीं कोई तरतीब नहीं बल्कि चारों ओर एक प्रकार का बिखराव और फैलाव ही था। मैं यहां अपने कमरे में लेटा हुआ हूं। घर की छत के काले शहतीर जैसे जैसे मेरे हृदय को दबोच डालनें से लग रहे हैं। अर्थात् घर का सूना, उदास, अभावग्रस्त वातावरण मन में एक दशहत-सी उत्पन्न कर रहा है। यद्यपि घर के आंगन में पानी का नल जोर से खखार या शब्द करता बह रह रहा है—अर्थात् वह जिन्दगी होने की सूचना दे रहा है। फिर भी मुझे अपने शरीर अत्यधिक निर्बल, एक प्रकार से जीवन-विरहित प्रतीत हो रहा है। निराशा का अंधेरा जैसे इस जल के रूप में मेरे दिल को गला कर बहाए लिए जा रहा है।

विशेष–'चार का गजर' सुबह होने का प्रतीक है। हायफन, डैश आदि जीवन की रिक्तता के परिचायक हैं। बिखराव जीवन की अस्त-व्यस्तता का परिचय देता है तो नल जीवन-प्रवाह का संकेत करता है। उसे हम चेतना का प्रवाह भी कह सकते हैं। काले शहतीर उदासी की सघनता, घुटन और संत्रास को व्यंजित करने वाले हैं। कुल मिलाकर जो बिम्ब बनता है, वह कवि के अपने जीवन की परिस्थितिजन्य घुटन और असमर्थता का परिचायक है।

कवि ने रूपक अलंकार का भी सुघड़-सफल प्रयोग किया है।

एकाएक मुझे भान होता है...सिर-फिरा एकजन। (पृ. २६८-६६)

शब्दार्थ–भान होना = सूझना, ज्ञान होना। दमन-निमित्त = दबाव के लिए। मॉर्शल लॉ = फौजी कानून, जो दमनात्मक होता है। अंधकार-स्तूप-सा = अंधेरे का गुम्बद जैसा। वंचितों = ठगे गये।

प्रसंग–कवि की अंतश्चेतना उसे निरीह लोगों के संसार का आभास करा रही है। वास्तविकता का यह आभास बड़ा ही करुण एवं निराशाजनक है। उसे देख अपनी निराशा को व्यक्त करते हुए, 'अंधेरे में' कविता के चौथे भाग में कवि मुक्तिबोध कह रहे हैं:

व्याख्या–मेरी अंतश्चेतना में एकाएक संसार की वास्तविकता का स्वरूप सूझने या ज्ञात रूप में प्रगट होने लगता है। सारी दुनिया में फैली अखबारें दुनिया की वास्तविक स्थितियों का परिचय देने लगतीं है कि चारों ओर एक-दूसरे को फंसाने के चक्कर चल रहे हैं। घेराव हो रहे हैं और इन कारणों से सघन तनाव का वातावरण बन रहा है। पर अपने मानसिक तनाव के क्षणों में कहीं कोई विद्रोहात्मक हलचल न हो, कोई आन्दोलन न हो, इसलिए पूर्व-सावधानी के तौर पर सशक्त सेनाओं ने सड़कों को –अर्थात् उन पर चलने-फिरने वाली निरीह मानवता को अपने घेरों में ले रखा है। मेरी बौद्धिकता की रगें समय की धड़कनों को गिनने-अर्थात् नापने-जोखने का प्रयास करती हैं।

बौद्धिकता के स्तर पर रह-रहकर मन-मस्तिष्क में एक प्रश्न उठता है कि आखिर मानव-जीवन में यह सब क्या हो रहा है ? क्या कहीं जन-क्रान्ति हो गई है कि जिसका दमन करने के लिए मानव के अंतः-बाह्य जीवन पर यह फौजी कानून-सा लागू कर दिया गया है ? पर कहीं भी तो किसी क्रान्ति के आसार नहीं दिखाई देते। फिर मरियल पैरों से गलियों में भागते लोग दम क्यों छोड़ रहे हैं ? क्यों नहीं यह जन-क्रान्ति के लिए सभी विरोधों से भिड़ जाते : सभी जैसे हांफ रहे हैं। हांफने से सब की जीभें बाहर निकली पड़ रही हैं। लगता है, जैसे कोई (आततायी) निरन्तर मेरा पीछा कर रहा है। उससे बचने के लिए मैं दम छोड़ भाग रहा हूं, निरन्तर कई मोड़ भागते-भागते काट जाता हूं। दूर से एक चौराहा दिखाई देता है (चौराहा विभिन्न मतों और विचारधाराओं का प्रतीक है)-अर्थात अनेक प्रकार के विचार-दर्शन दूर-दूर से आभासित होते हैं और लगता है कि उन पर कहीं भी अभी तक सेना का पहरा नहीं लगा होगा-अर्थात् अभी तक कोई बन्धन-व्यवधान नहीं होगा। तभी मुझे अंधेरे के स्तूप-सा भयंकर बना हुआ बरगद (जीवन का प्रतीक) का वृक्ष दिखाई देता है। वह बरगद (कवि की अपनी विचारधारा-मार्क्सवादी जीवन-दर्शन के अनुरूप जीवन स्थल) सभी उपेक्षितों, अधिकार-वंचितों, गरीबों को आश्रय देनेवाली घर की छत के समान है। उनके नीचे ही घने अंधकार में गृह-विहीन अनेक प्राणी जैसे निश्चिन्त-से हो कर सो रहे हैं। किसी एक अत्यधिक निर्धन व्यक्ति के चीथड़े जो डालियों पर लटक रहे हैं, वे भी अंधेरे में डूब कर रह गये हैं। वही उस पागल के धन हैं। हां, वहीं उस बरगद की छाया में ही, एक ही, एक सिरफिरा व्यक्ति रहता है। अर्थात् विचारों में जीवन का प्रतीक वह बरगद ही दुःखी मानवता का आश्रयस्थल बन सकता है।

विशेष–वर्तमान पूँजीवादी-साम्राज्यवादी यान्त्रिक सभ्यता ही जीवन में समस्त प्रकार के तनावों का मूल कारण है, कवि ने स्पष्टतः यह मत व्यंजित किया है। यह भी व्यंजित किया है कि सामान्य-जन इसमें अपने अस्तित्व को नहीं पा सकते। उनके अस्तित्व की रक्षा तो आम जीवन

के (मार्क्सवादी) प्रतीक बरगद की दर्शन-छाया में ही सम्भव हो सकती है।

मुक्तिबोध की कविता में 'चौराहा' विभिन्न मतवादों का प्रतीक है। मतवादों की व्यर्थता में निरीह जीवन हांफ-थककर रह गया है। सेना सत्ता की परिचायक है। 'पत्ता न खड़के' मुहावरे का प्रयोग राजशाही की निरंकुशता के कारण जीवन में छाने वाले घोर सन्नाटे का परिचय देता है। 'अंधकार-स्तूप सा भयंकर बरगद' जीवन की अस्पष्ट दार्शनिक विचारधारा का प्रतीक बनकर व्यक्त हुआ है। कुल मिलाकर जीवन की असमर्थता का विद्रूप, संत्रस्त एवं आतंकित करने वाला बिम्ब ही उभर पाता है।

किन्तु, आज इस रात.......................बुद्धि भी जाग गयी। (पृ. २६९-२७०)

शब्दार्थ–कतई = एकदम। प्रज्ज्वलत् घी = क्रान्तिकारी बौद्धिक चेतना। आत्मोद्‌बोधमय = आत्मा की जागृति या ज्ञान से युक्त।

प्रसंग–वास्तविक बौद्धिकों को अक्सर पगला समझा जाता है। कवि के प्रति भी उसके जीवन-काल में कुछ लोगों की इसी प्रकार की धारणा रही। अतः आत्मबिम्ब के रूप में अपनी तथाकथित पगला चेतना में भी जागृत बौद्धिकता के चीत्कार का, उद्‌बोध कर वर्णन करते हुए कवि कह रहा है:

व्याख्या–आज की इस भयावह रात्रि में यह एक अजीब-सी बात लग रही है। वह, जिसे एकदम सिरफिरा पागल कहा-समझा जाता था, आज एकाएक उसकी बुद्धि जागृत हो गई है। उसकी बौद्धिकता में क्रान्तिकारी विचारों की आग स्पष्टतः प्रज्ज्वलित हो उठी है। आज वह अपना सिर-फिरापन त्याग कर बहुत ही ऊंचे गले से कोई पद अथवा गीत गा रहा है। उसका यह गां आत्मा की उद्‌बुद्धता या जागृति से परिपूर्ण है। भई, बहुत खूब ! क्या वह तथाकथित पगला भी यह जानता है कि नगर में वस्तुतः सेना का राज है। इस अत्याचारी सैनिक राज ने क्या वास्तव में उसकी बुद्धि को भी जगा दिया है ?

भाव यह है कि अत्याचारों का उत्पीड़न नितान्त निरीह और अबोध-अविकसित समझने वालों की चेतना को भी झंझोड़ कर जगा देता है।

विशेष–पगला कोई कवि-जीवन में घटित व्यक्ति भी हो सकता है और उसकी अपनी उपेक्षित-बौद्धिकता का परिचायक भी। 'पद-गां' उद्‌बोधन का परिचायक है।

करुण रसाल वे हृदय.......................जीवित रह गये तुम–। (पृ० २७०-७१)

शब्दार्थ–रसाल = मधुर। गद्यानुवाद = गद्यमयी भाषा में अनुवाद। उदरम्भरि = पेट भरने वाला। अनात्म = जड़। असग = निर्लिप्त। निष्क्रिय = क्रियाहीन, व्यर्थ। तलधर = निम्नस्तर। हंकला दिया = फटकार कर भगा देना। मन्तव्य = विचार। भाल = मस्तक। विवेक = सूझबूझ। बघार डाला = जलाकर उड़ा दिया, तल दिया।

प्रसंग–चेतना के द्वन्द्व की बौखलाहट से ग्रस्त, मन की पगलाहट का प्रतीक मन, जीवन की कठोरताओं से सचेत होकर, कोई पद कोई उद्‌बोधन-गां गा रहा है। उसी गां का सार-तत्व प्रस्तुत पद्य-भाग में व्यक्त करते हुए कवि मुक्तिबोध कह रहे हैं :

व्याख्या–वह जागृत चेतना वाला पगला अपनी बौद्धिक आत्मोद्‌बोधमय जागृति के क्षणों में गीत गों लगा। उसके स्वर करुणा से मधुर और हृदय की गहराइयों से निकले हैं। उनका संक्षिप्त गद्यमयी भाषा में अनुवाद इस प्रकार है:–

"ओ मेरे आदर्शों और अनेक प्रकार के सिद्धान्तों में उलझे हुए मन ! तुमने आदर्शों और सिद्धान्तों के झुटपुटों में घिरे रहकर अब तक अपनी और मानवता की मुक्ति के लिए कौन-सा वास्तविक प्रयास किया है ? किस प्रकार से तुमने अपने इस घिराव एवं आतंकपूर्ण जीवन को जिया है ? तुमने केवल अपने पेट भरने की सोची। इस प्रकार मात्र पेट भरने के लिए जीने की ललक लेकर तुम एक जड़-वस्तु से बनकर रह गये हो। जैसे शादी में कनातें तनी होती हैं, उसी प्रकार तुम स्वयं जड़ बनकर जड़ता में मर भूत बने प्राणियों के विवाह में तनी कनातों के समान ही निर्जीव बनकर रह गये हो। या फिर व्याभिचारियों के—अर्थात व्याभिचार, अंयाय-अत्याचार में डूबे शासकों, पूँजीवादियों, साम्राज्यवादियों के लिए तुम कोमल शैय्या का काम ही देते रह गये हो। तुम्हारा अपना अस्तित्व एवं व्यक्तित्व जैसे समाप्त होकर रह गया है।

जीवन में अव्यवस्था और विषमता के कारण जो अनेक प्रकार के दुःख आये, तुमने उनका उचित प्रतिकार करने का प्रयास नहीं किया, बल्कि उन्हें ही जीवन के पारितोषक-तमगे समझकर अपने सीने से चिपकाते रहे। तुमने खुली आंखों से जीवन को देखने-सुनने, समझने का प्रयत्न नहीं किया, बल्कि अपनी ही हीनता की भावनाओं में रात-दिन डूबे रहकर तुमने जीवन की समूची सक्रियता को ध्वस्त कर दिया है। अंयों के सुख-दुःखों से निर्लिप्त रहकर तुमने अकेले में ही सब कुछ सहते रहने को जीवन की सफलता मान लिया—अर्थात सामूहिक शक्ति और श्रम से स्थिति को बदला जा सकता है, इस सबकी चिन्ता नहीं की। इस प्रकार, तेरा जीवन निम्नगामी और निष्क्रिय होकर रह गया। इस प्रकार, तनिक सोच-विचार कर देखो कि तुमने अपने एवं मानवता के हित के लिए आज तक क्या किया है ? किस प्रकार का निरीह-निष्क्रिय जीवन तुम जी रहे हो—सोचो।

हे मानव ! बताओ तो जरा कि किस दुखी व्यक्ति के दुःख को दूर करने के लिए तुम भागकर पहुंचे जीवन में चारों तरफ जो निरीहता, दुर्बल करुणा छा रही है, उसे दूर करने का प्रयास तो क्या, तुमने तो उधर से अपना मुंह ही मोड़ लिया है। अर्थात् उस ओर तुम जान-बूझकर भी देखना और कुछ करना नहीं चाहते। इस प्रकार सचेतन, मन-बुद्धि-संयत मनुष्य होते हुए भी तुम निर्जीव पत्थर से जड़ बनकर, निश्चेष्ट बनकर रह गये हो। तुमने अपने स्वार्थों के वशीभूत होकर केवल अपने लिए लेने ही लेने की कोशिश की। मानवता, देश और जाति तुमसे कुछ पाने की आशा भी करती है, इस बात को तुमने एकदम भुला दिया और बदले में कुछ भी मानवता को, अपने देश को दिया नहीं। परिणामस्वरूप अपनी स्वार्थपरायणता में देश और उसके सामान्य-जन तो बेचारे मौत का शिकार हो गए। जीवन्त जड़ता और स्वार्थों के प्रतीक-परिचायक बनकर तुम्हीं जीवित-से रह गये हो।

ओ स्वार्थी मानव ! देने से, त्याग और बलिदान से होने वाले मानवता के हित रूपी पिता को, जन-मन में परिव्याप्त करुणा की भावना रूपी मां को तुमने अपने मन-जीवन-रूपी घर से तिरस्कृत करके निकाल दिया है और बदले में भयानक स्वार्थों के भयावह, डरावने टेरियर कुत्ते पाल लिए हैं, ताकि तुम्हारे सम्पूर्ण स्वार्थमय व्यक्तित्व की रक्षा हो सके। सहज मानवीय भावनाओं से अनुप्राणित कर्त्तव्यों को भी तुमने त्याग दिया है और अपने हृदय के उच्च भाव-विचार अपनी स्वार्थी हिंसकता में तुमने मार डाले हैं। इसी प्रकार उचित-अनुचित का बोध रखने वाली बुद्धि के मस्तक को ही तुमने फोड़ डाला है। तर्क—जो व्यक्ति-जीवन में बुद्धि-संयत विचार को प्रतिपादित

करने वाले हाथों के समान होते हैं, अपनी स्वार्थी जड़ता में तुमने उन (तर्क रूपी हाथों) को जैसे उखाड़कर फेंक दिया है। इस प्रकार तुम अपने ही स्वार्थों की जड़ता में फंसकर रह गये हो। अपनी ही तृष्णाओं-स्वार्थों के घिनौने कीचड़ में फंस-उलझकर रह गये हो। स्वार्थ रूपी तेल में तुमने सूझों को बघार कर, तल-भुनकर रख दिया है। तुम्हारी विवेक शून्यता के कारण मानवता के समस्त उच्च आदर्श आज कहीं खोकर, विनष्ट होकर रह गए हैं।

बताओ स्वार्थों के पुतले मनुष्य ! अब तक अपने कर्मों से तुमने मानवता के लिए क्या किया है ? किस प्रकार तुम जीवित रहे हो ? सोचो, आज तक तुम जिन्दगी से अधिक-से अधिक लेने—अर्थात् अपने ही स्वार्थ साधने के प्रयत्न करते रहे हो। बदले में जीवन और देश को तुमने कुछ भी नहीं दिया कि जो उसका अपना अधिकार है, औचित्य है। इन्हीं सब कारणों से आज तुम्हारा देश मरा-जैसा होकर रह गया है। यदि कहीं कुछ जीवित दिखाई देता है, तो तुम-तुम्हारे जैसे स्वार्थी ही।

विशेष–कवि ने तुलनात्मकता का आश्रय लेकर स्वार्थियों देश और मानवता-द्रोहियों का बड़ा ही सजीव अंकन किया है। कवि ने सभी आदर्शों—सिद्धान्तों के खोखलेपन की ओर स्पष्टतः ध्यान आकर्षित किया है।

उद्‌बोधन का भाव पद्य-खण्ड में आद्यन्त स्पष्ट है।

उपमा और रूपक अलंकारों के साथ-साथ विशेष-विपर्यय जैसे अलंकारों की योजना भी बड़ी ही भव्य बन पड़ी है। कवि के जीवन और प्रस्तुत कविता का सार-तत्व प्रस्तुत सन्दर्भ में संचित हो पाया है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

मेरा सिर गरम है...विक्षिप्त मस्तिष्क (पृष्ठ-२७१)

शब्दार्थः–भरम = भ्रम, सन्देह। अवलि = पंक्ति। निजत्व = अहं, अपनापन। विक्षिप्त मस्तिष्क = पागल बुद्धि, चेतना।

प्रसंग–विचारों के आरोहावरोह में कवि के मन-मस्तिष्क एक प्रकार के तनाव का अनुभव करने लगे हैं। इस स्थिति में कवि का उस अनुभूति से भी भर उठता है कि उसका अपना ही पगला या मन एकाएक जागृत होकर उद्‌बोध बन जाया करता है। अपनी तनहाई स्थिति में कवि कह रहा है :

व्याख्या–विचारों ने मेरे मस्तिष्क को गर्म कर दिया है। तनाव की यह स्थिति ही भ्रमों या सन्देहों को उत्पन्न कर देती है। तभी सपनों या कल्पनाओं में भी व्यवहार-जीवन की एक प्रकार की आलोचना का क्रम लगातार चलता रहा करता है। विचारों में भोगे गये जीवन की अनेक प्रकार की चिन्तनामयी चित्रों की पंक्तियां-सी बनती-बिगड़ती रहा करती हैं। क्षमा करें, मेरा अहं या अपनापन भी हर क्षण बेचैन बना रहता है। ऐसी स्थिति में राहत पाने के लिए मैं क्या उपाय करूं ? किससे अपनी मनोदशा एवं व्यथा का वर्णन करूं ? दिल्ली या उज्जैन—कहां जाकर शासकों के कानों में अपनी वेदना की बेचैन कहानी सुनाऊं ? कहीं भी तो कोई सुनने वाला दृष्टिगोचर नहीं होता। वैदिक ग्रन्थों में वर्णित ऋषि शुनःशेप के पिता अजीगर्त की अपनी ही चेतना, अपना ही व्यक्तित्व शाप के कारण उससे अलग हो गया था और वह असहाय-सा बनकर रह गया था, उसी प्रकार मेरी स्थिति भी बनकर रह गई है। जिस प्रकार वैदिक ऋषि शुनः शेप के पिता अजीगर्त का अपने से बिलगाया व्यक्तित्व ही उसे रात में साक्षात् हुआ करता

था और दिन में वह पागल-सा, सिर-फिरे मन-मस्तिष्क वाला रहा करता था, उसी प्रकार मेरा व्यक्तित्व भी मुझसे बिलगाकर दिन में तो पागल-सा बना रहता है और रात में मुझसे मिलकर मुझे जीवन की कविताओं का अनवरत साक्षात्कार कराया करता है।

विशेष–कवि के मन-मस्तिष्क की अकुलाहट यहां स्पष्ट है। अपने बंटे व्यक्तित्व की सफाई पेश करने के लिए कवि ने वैदिक गाथा का सहारा लिया है। यह तुलनात्मकता निश्चय ही बड़ी सजीव, सार्थक एवं प्रभावी है।

दिल्ली देश की राजधानी अतैव शासनतंत्र की प्रतीक है, जबकि उज्जैन तत्कालीन मध्यप्रदेश और बरार है।

हाय, हाय ! उसने यह क्या गा ....मेरी नींद गवां दी। (पृ० २७१-७२)

प्रसंग–अपनी अंतश्चेतना में जीवन की वास्तविकता से साक्षात्कार करके कवि के मन-मस्तिष्क बौखला से उठे हैं। अपनी चेतना के रूप में मानवीय निष्क्रियता को समस्त मानवीय संकटों का मूल कारण मानते हुए कवि कहा रहा है :

व्याख्या–हाय ! उस पगलायी चेतना के प्रतीक मेरे ही अपने व्यक्तित्व ने बौद्धिक जागृति के प्रवाह में यह–ऐसा क्या गा दिया है, अथवा क्या नया तत्व–ला दिया है कि मैं अपनी ही उस छाया-मूर्ति के सामने स्वयं प्रत्यक्ष खड़ा हो गया हूँ। मेरे अपने ही उस छाया-व्यक्तित्व के साथ घोर बहस छिड़ गई है। यानि कि अंतर्द्वन्द्व का कुहराम-सा मच गया है। बहस के आवेश में हम दोनों (जो मूलतः एक ही हैं) एक-दूसरे को चांटे भी मारने लगे हैं। अर्थात् भावों–विचारों का प्रतिरोधात्मक कड़ा संघर्ष अंतर्मन में छिड़ गया है। छिः-छिः। यह सब पागलपन और व्यर्थ की आलोचना के सिवाए और कुछ भी महत्व नहीं रखता है।

अंतश्चेतना इस अहसास से मरने लगी है कि जीवन की गलियों में छाने वाला यह भयानक निराशा एवं उदासी का अंधेरा मेरी ही जड़ता के कारण छा रहा है। जीवन में चारों तरफ जो मॉर्शल लॉ जैसी दमनात्मक स्थिति बन गई है, अहसास होता है कि मानो मैं ही इसका कारणभूत हूँ। मेरी–अर्थात् आदमी की अपनी ही जड़ता और स्वार्थ भरी निष्क्रियता की चेतना ने सब प्रकार के मानवीय संकटों को आमन्त्रण देकर बुलाया है। जीवन में जो कुछ भी अघटित-दुर्घटनाएं घट रही हैं, उन सब का मूल कारणभूत भी मानो मैं ही हूं। इस प्रकार उलटे-सीधे विचारों के चक्र का अनवरत क्रम चल रहा है। हमारे बाह्य जीवन में घटनाओं का चक्र और द्वन्द्व जितनी तीव्रता से चल रहा है, मन के भीतर भी उतनी ही तीव्रता से घटनाओं का चक्र और द्वन्द्व एक अनवरत चिन्ता का क्रम बनकर चल रहा है। इस प्रकार उस पागल ने आत्मोद्बोधन से भरा एक गीत गाकर मेरा चैन, मेरी नींद आदि सभी कुछ मुझ से एकाएक छीन लिए हैं। मुझे निरस्त-सा कर दिया है।

विशेष–आत्मालोचन के रूप में निरस्त और पथराई-सी मानवात्मा की कवि ने बड़ी ही तीखी और यथार्थ आलोचना की है। इसके लिए कवि ने अनेकबिध उत्प्रेक्षाओं का आश्रय लिया है जो अत्यन्त सार्थक एवं प्रभावी हैं। कवि यह कहना चाहता है कि समस्त जागृतिक हीनताओं का कारण हम मानव स्वयं ही हैं। हमारी जड़ निष्क्रियता ने ही हमें दीन-हीन और स्वार्थी, आत्मजीवी बनाकर रख दिया है।

मैं इस बरगद के पास खड़ा ....छटपटा रही है। (पृष्ठ २७२-७३)

शब्दार्थ–अथाह=गहरे। साँवले=गहराई के कारण नीले। तिमिर=अंधकार। अतल=तलहीन, गहरे। श्यामल=सांवली। क्षालित=घुले हुए। प्रसारों=फैलावों। उद्यान=बगीचे।

प्रसंग–मानसिक द्वन्द्वात्मक स्थितियों में कवि मानवता के सुखद उद्यानों को अहसासता तो है, पर वर्तमान वैषम्यों के अंध तमस के कारण उनके प्रत्यक्ष दर्शन नहीं कर पाता। अतः उसकी चेतना छटपटा कर रह जाती है। उसी छटपटाहट का अनुभव करते हुए प्रस्तुत पंक्तियों में कवि मुक्तिबोध कह रहे हैं:

व्याख्या–मैं इस बरगद (जो कवि की अपनी चेतना में जीवन की व्यापकता का प्रतीक है) के पास खड़ा सोच रहा हूं। मेरा यह चेहरा लगता हैं जैसे किसी चिन्ता के काले पड़ गए जल के आवर्तों में घुलता ही जा रहा है। मेरा मन झुककर टूट-फूट रहे घरों पर छापे गहरे अंधेरे की कालिमा की अथाहता, में घुलता जा रहा है। अर्थात् जीवन की विषमतापूर्ण गहराइयाँ मेरी चेतना, मेरे तन-मन सभी को जैसे लीलती ही जा रही हैं। फिर भी, इस अंतःक्षुरण के क्षणों में भी, मेरी चेतना के स्तर पर, रात के इस ओस में धोए वातावरण में मानवता के गुरु गम्भीर महान अस्तित्व का महकता हुआ, इस खण्डहरप्राय हो रही मानवता के सन्दर्भों में भी लगातार फैलता हुआ सा अहसासित हो रहा है। लगता है जैसे भावना के गुलाब और चमेली के फूल रात्रि के इस गहन अंधेरे में भी इस अहसासों के उस उपवन में निरंतर महकते ही रहते हैं। पर वे महकते अहसासों के उद्यान हैं कहां पर ? –वैषम्यों से भरे इस अन्धियारे जीवन में उनका कुछ भी तो स्पष्ट पता नहीं चल पाता। केवल उस सबकी सुगन्धि ही चारों ओर महककर छा रही है। परन्तु महक की उस लहर के अंतराल में समाई कोई अज्ञात वेदना, गुप्त चिन्ता लगातार छटपटाती रहती है।

भाव यह है कि भावना के नन्दन खिलने नहीं पाते। कल्पना का जीवन केवल कल्पना में अहसासता है, वर्तमान वैषम्यपूर्ण अंधियारे जीवन में वह साकार नहीं हो पाता।

विशेष–बरगद कवि की चेतना के व्यापक जीवन का प्रतीक है। अथाह जल-तिमिर में चेहरे और मन का घुलना वस्तुतः परिस्थिति की विषमता में प्रगति विकास की समस्त उदग्र चेतनाओं का समा जाना है। गुलाब-चमेली से महकते उद्यान कवि की कल्पना के जीवन का अहसास दिलाते हैं। पर जीवन की वर्तमान विषम परिस्थितियों में कवि के ये अहसास एक प्रश्नात्मक तितीक्षा बनकर ही रह गये हैं।

(५). एकाएक मुझे भान.............................. स्वप्न सरीखा। (पृष्ठ २७३-७४)

शब्दार्थ–भान=अहसास, ज्ञान। इंगित=इशारा, संकेत। मुंदे हुए घर=बन्द दरवाजे वाले मकान।

प्रसंग–प्रस्तुत पंक्तियाँ कविवर मुक्तिबोध के काव्य 'चांद का मुँह टेढ़ा है' में संकलित लम्बी कविता 'अंधेरे में' के पाँचवें भाग के आरम्भ से उद्धृत की गई हैं। इस कविता में कवि ने अनेकविध खण्ड-चित्रों के माध्यम से आज के घुटन एवं संत्रास भरे जीवन का निरीक्षण-एवं परीक्षण करने का प्रयास किया है। कवि का मन जीवन में घटित के अनेकविध प्रसंगों को लेकर अनेकविध अहसासों से साक्षात्कार कर रहा है। अपनी ही द्वन्द्वग्रस्त चेतना से भी वह रह-रह साक्षात्कार करता, और जीवन का निरीक्षण-परीक्षण कर रहा है। अजनबी के रूप में अपनी ही विगलित चेतना के दर्शन कर, अपने ही मनः संत्रासों एवं उत्पीड़नों को व्यंजित करते हुए कवि कह रहा

है :

व्याख्या–इसके बाद अचानक जीवन का एक अंय अहसास मेरे मन-मस्तिष्क में जाग उठा। ऐसे लगा, जैसे पीछे से आकर के अचानक ही किसी आजनबी ने मेरे कंधे पर हाथ रख दिया हो। इससे मैं चौंक उठा और वह चौंकाहट मेरे सिर से लेकर पैर तक सारे शरीर में फैल गयी। नहीं, वह अहसास कुछ और ही प्रकार का था। लगा कि जैसे ऊपर से अचानक गिर कर जीवन रूपी बरगद के प्रत्येक पत्ते पर, प्रत्येक भाव-विचार पर बैठ गया हो। वह किस प्रकार का संकेत या इशारा था ? क्या वह किसी का पत्र है ? उसमें कौन-सा संकेत अंतर्हित है–कुछ भी तो समझ में नहीं आ रहा। अतः संत्रस्त-सा मैं दम साधकर भागने लगा और विचारों के कई मोड़ एक साथ ही काट गया। लगा कि जैसे किसी बन्दूक से धांय-धांय करती गोलियां छूट रही हैं। उनसे निकलने वाली आग के कारण मकानों पर गेरूआ प्रकाश-सा छा गया। मैं अपने विचारों में निरंतर भागता हुआ और कई मोड़ काट गया। मुझे पृथ्वी-आकाश सभी घूमते हुए से प्रतीत होने लगे। फिर सहसा मुझे किसी बन्द मकान की पथरीली सीढ़ियां उस पार एकाएक दिखाई दे गईं, जिन पर मैं अपना सिर पकड़ कर चुपचाप बैठ गया। कवि यहाँ भाव परिवर्तन करने के लिए सशस्त्र क्रान्ति की ओर विचार के स्तर पर संकेत करने वाला है। पर कवि को यह अहसास भी होता है कि यह विचार कार्य रूप में परिणत होने वाला नहीं है।

बैठ जाने के बाद भी दिमाग में भावों-विचारें के अनवरत चक्कर-दर-चक्कर घूमने लगे। लगा कि जैसे विचार किसी गहरी भंवर में फंस-उलझकर रह गये हैं। उन बनती भंवरों के गोलाकार में मंडराता एक स्वप्न-सा दीखने लगा।

विशेष–अजनबी का कंधे पर हाथ रखना कवि की द्वन्द्वग्रस्त चेतना के एक दूसरे स्तर का परिचायक है। बन्दूक की धांय-धांय सशक्त क्रान्ति की ओर संकेत करने के लिए सुन पड़ती है। मुंदे घर की पत्थर की सीढ़ी इस प्रकार की चेतना का सार्वजनिक जीवन में अभाव का संकेतक है। भंवरे विचारों की गहनता और उनमें दिखाई देने वाला स्वप्न भावी की कल्पनाओं का परिचायक है। कुल मिलाकर द्वन्द्वग्रस्त चेतना का बिम्ब ही उभर पाता है।

भूमि की सतहों के बहुत नीचे.................... गीली है हलचल। **(पृष्ठ २७४)**

शब्दार्थ–प्राकृत गुहा = प्रकृति द्वारा विनिर्मित गुफा, संकेत प्राकृतिक जीवन और प्रकृति प्रवृत्तियों की ओर है। खोह = खड्डा। तल = निचला भाग। तिमिर = अंधकार। भेद = काटकर। तेज स्क्रिय = अपने तेज में सक्रिय, गतिशील। प्रपात = झरना। आवेग-भरा = अत्यन्त तेज। द्युतिमान = चमकीली। भीतें = दीवारें। विलुब्ध = ललचाये। द्युतियां = चमकें। विभोर = तल्लीन। दीप्ति = प्रकाश। वलयित = घिरी हुई।

प्रसंग–अंतश्चेतना की गहराइयों में रहने वाले भावों-विचारों की मणियों को कवि अपनी–यानि मानव की अनवरत खोजों, विचारों और सूझों का निष्कर्ष ही मानता है। परोक्ष रूप से यह व्यक्त करते हुए कि धरती पर जो कुछ भी उज्ज्वल जीवनदायक है, वह मानवता के सांझे प्रयासों की देन और सबके लिए है, फिर भी विषमताओं के कारण मानव और उसकी उपलब्धियां विभाजित हैं, कवि कह रहा है :

व्याख्या–भूमि की बाह्य रूप से दृश्य सतह के बहुत नीचे प्रकृति द्वारा विनिर्मित अन्धियारी गुफाओं के एकान्त में दूर-दूर तक फैली खानों के अंधियारे तलों में वहां के अंधेरे को काटने

वाले अनेक पत्थर चमकते हैं। वहाँ सक्रिय तेजविता से युक्त अनेक प्रकार की मणियां और रेडियो ऐक्टिविटी से विनिर्मित होने वाले अनेक रत्न भी बिखरे हैं। उन पर प्रकाश का एक तेज झरना-सा हमेशा झरता रहा करता है। उस झरने का प्राकृतिक प्रकाश-जल अत्यधिक आवेग से पूरित है। उस जल की लहरें चमकीली मणियों में विद्यमान अग्निशिखाओं पर से फिसलती हुई हमेशा प्रवाहित रहा करती हैं। उन लहरों के गहरे तलों में छिपे रत्नों की रंगीन आभा को लेकर विविध किरणें हमेशा प्रस्फुटित रहा करती हैं। उससे उन खानों की भीतरी दीवारें भी स्वतः ही झलमला जाया करती हैं। मैं अपने-आप को उसी खोह या खान के भीतर अनुभव करता हूं। वहां की चमकीली शोभा को मैं अपने ललचाये नेत्रों से देखता हूं। तेज की सक्रियता से युक्त मणियों को उठाकर, हाथों में लेकर देखता हूं और आंखें विभोर होकर रह जाती हैं। तब मुझे अचानक ऐसा अहसास होता है कि तेजस्विता या प्रकाश से घिरे ये सब रत्न नहीं हैं, बल्कि मैंने जीवन में जो अनेकविध अनुभव प्राप्त किये हैं, वेदनाएं झेली हैं और विवेक सम्मत ढंग से जीवन सत्यों के अनेकविध निष्कर्ष निकाले हैं, वही सब यहां इन मणियों-रत्नों के रूप में पड़े हुए हैं। वे लाल मणियों जैसे मेरे क्रान्तिकारी विचारों की लालिमा की प्रतीक हैं, जो मेरे प्राणों के जल निर्झर में हमेशा घुलती मिलती रहती हैं। इस एकान्त में उनकी किरणों की हलचल गीली होकर रह गई है। अर्थात् मेरी एकान्त चेतना के एकान्त भाव अकेले में कुछ भी कर पाने में समर्थ न होकर जैसे बोझिल-सा बनकर रह गए हैं।

विशेष–प्रस्तुत पद्यांश में मणियाँ रत्न, जल की लहरें, प्रकाश की किरणें व्यक्ति के विवेक, ज्ञान, विचार आदि की गरिमा के परिचायक-प्रतीक हैं। कवि कहना यह चाहता है कि भौतिक स्तर पर प्रकृति-प्रदत्त सम्पत्ति को कुछ लोगों ने अपनी तिजोरियों में छिपा लिया है, जबकि भावना के स्तर पर उच्च गरिमामण्डित विचारों को हमने जैसे अपनी ही अंध मानसिकता में दबा या दफना दिया है। उनका बर्हिगमन या अभिव्यक्तीकरण ही व्यवहार जगत के लिए उपयोगी एवं हित-साधक प्रमाणित हो सकता है।

६. हाय, हाय ! मैने उन्हे .... भयानक चमकते। (पृष्ठ-२७५)

शब्दार्थ–गुहा-वास = अज्ञातवास, छिपाना। बुजुर्ग गुम्बद = पुराना गुम्बद। मनस् में = मन में। मतियां = वाद, मत।

प्रसंग–ये पंक्तियां स्वर्गीय कवि मुक्तिबोध की प्रसिद्ध रचना 'चांद का मुंह टेढ़ा है' में संकलित लम्बी कविता 'अंधेरे में' के छठे खंड के आरम्भ से उद्धृत की गई हैं। इस कविता में कवि ने खण्ड चित्रों के माध्यम से जीवन के भोगे हुए विद्रूप का बड़ा ही मार्मिक, बड़ा ही प्रभावी वर्णन किया है। प्रस्तुत पंक्तियों में विचारों मणियों (सम्पत्ति) को छिपाने से होने वाले मानवता के अहित की ओर इंगित कर विभिन्न मतों के झरोखों से जीवन को झांकने का प्रयास करते हुए कवि कह रहा है :

व्याख्या–धरती के गर्भ से प्राप्त होने वाले अनेक प्रकार के मणि-रत्नों को व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए छिपा लेता है जबकि वैचारिक रत्नों की भी स्वार्थी व्यक्ति उपेक्षा कर देते हैं। उन्हें अंतःलोक की अंध गुफाओं में धकेल देते हैं। मानवता के प्रतिनिधि के रूप में ऐसा करने पर पश्चात्ताप का भाव व्यक्त करते हुए कवि कहता है कि हाय ! दुःख और खेद का विषय है कि मैंने उन विचारों,उन रत्नों को जान-बूझकर गुफाओं में वास करने के लिए अर्थात् आम

मानवता से ओझल रहने के लिए विवश कर दिया। उस सब से लोक का क्षेत्र लाभान्वित हो सकता था, पर मैंने अपनी स्वार्थपरायणता और हठधर्मिता से लोक जीवन को, जनोपयोग को वर्जित, वंचित एवं निषिद्ध बना दिया। उन्हें गुफाओं के अंधकार में डालकर बन्द कर दिया। उनके प्रति खतरनाक होने की धारणा व्यक्त की जाती थी। खैर, अब इस प्रकार की आलोचनाएं करने का यह उचित अवसर नहीं है। अब तो सब छोड़, सब भुला कर जूझना—अर्थात् संघर्ष करने का ही निश्चय है।

तभी दृश्य में परिवर्तन आता है। एक अंधियारा-सा सुनसान-सा चौराहा फैल रहा है। उस चौराहे के ठीक बीच में वीराना-सा गेरुए रंग वाला एक घण्टाघर है। कवि का अभिप्राय यह व्यक्त करना है कि अनेक प्रकार के मत-वादों के जंजाल में एक लाल क्रान्ति का मतवाद भी है। उस घण्टाघर के ऊपर कत्थई रंग के पुराने गुम्बद हैं। वहां लगता है कि जैसे हवाओं के अंधेरे में स्वयं काल टहल या चक्कर लगा रहा है। उस घण्टघर रूपी काल-पुरुष के, रात के कारण पीली दिखाई देती घड़ियां रूपी चार चेहरे हैं। उसमें मिनटों को दर्शाने वाली चार सुइयों की जैसे चार अलग-अलग गति-दिशाएं हैं। उससे चार अलग ही कोण बन रहे हैं। उनसे चार प्रकार के अलग-अलग संकेत भी सूचित हो रहे हैं—ठीक उसी प्रकार जैसे कि मेरे मन में अलग-अलग प्रकार के चार मतवाद अलग-अलग दिशा में गतिशील रहकर मन को भी बांटने का प्रयत्न करते रहते हैं। आस-पास के खम्भों पर लटकते जलते बल्ब जैसे बिजली की लटकती हुई गरदनें हैं। लगता है कि बल्ब जलते हुए शरमा रहे हैं और उन शरमाकर जलते हुए बल्बों के आसपास मचल-मचल कर उन्हीं के समान गोल पंखों वाले बेचैन ख्याल रूपी कीड़े उड़ रहे हैं।

घण्टाघर के नीचे नुचे हुए पंखों के टुकड़े और बीट तथा तिनके बिखरे पड़े हैं। नुचे पंख, तिनके और बीट क्योंकि प्राचीनता के प्रतीक हैं, अतः कवि कहना यह चाहता है कि समय के गतिशील प्रवाह ने आज पुराने को व्यर्थ और बेजान जान कर त्याग दिया तथा उपेक्षित कर दिया है। घण्टाघर के गुम्बद के छिद्रों में जो बूढ़े असम्भव पक्षी बैठे हैं, वे बड़ी तेज दृष्टियों से चारों ओर देखते हैं। उन्हें देखकर लगता है कि जैसे भयानक इरादे चमक रहे हों।

विशेष—कवि ने घण्टाघर, उसकी चार घड़ियों की सुईयों के चक्र से समय की गति को तो दर्शाया ही है,विचार और मत-वाद के वैभिन्न्य को भी इंगित किया है। इसी प्रकार सांवला चौराहा भी विभिन्न धूमिल एवं व्यर्थ पड़ चुके विभिन्न मत-वादों का परिचायक है। नुचे पंख, बिखरे तिनके, फैली बींट गये-बीते और व्यर्थ हो चुके विचारों, परम्पराओं के परिचायक हैं। असम्भव पक्षी का तेज नजरों से सब ओर देखना कवि की अपनी ही खोजी दृष्टियों का प्रतीक है, जिनमें कुछ कर गुजरने, कुछ नया होने की ललक समा रही।

'मानो इरादे भयानक चमकते' पद में उत्प्रेक्षा अलंकार की स्वाभाविक-स्वतः संभूत योजना है। कवि ने समय की अनन्त व्यापकता में गले-सड़े के कट जाने का अवश्यम्भावी संकेत दिया है।

सुनसान चौराहा..............................परन्तु अड़ा है। (पृष्ठ २७६)

शब्दार्थ—चौराहा=चार रास्तों का मिलन-स्थल, मत-वादों का प्रतीक। सुनसान=बीहड़ता। गतियां=गतिविधियां, क्रिया कलाप। ऐंठ=अकड़। अनपेक्षित=अयाचित, अनिच्छित।

प्रसंग–हमारे विचार और मत-वाद के वैविध्य पर भी अनन्तकाल से साम्राज्यवादी बन्दूकों का पहरा लगा रहा है, आज भी लग रहा है, अपनी मानसिकता के द्वन्द्व में खोया, अस्मिता की खोज में भटकता कवि कह रहा है :

व्याख्या–चौराहा अपनी बीहड़ता में सूना पड़ा है अर्थात् भिन्न प्रकार के मत-वाद भी आज अपनी व्यर्थता में शून्य से, अनुत्प्रेरक होकर रह गये हैं। इसकी समस्त गति-विधियाँ, क्रिया-कलाप, चालें और आज बिखर कर रह गई हैं। अर्थात् कहीं भी मतवादों में किसी प्रकार की आन्तरिक या बाह्य साम्यता नहीं है। कोई दुष्ट इच्छा इन पर गश्त लगाती है–अर्थात् इनके द्वारा कुछ करने की भयावनी इच्छा मचलती है। उस पर साम्राज्यवादिता के प्रतीक संगीनधारी सिपाही का पहरा बैठा है। वह भयानक सिपाही जब अपनी थकान की अनजानी झोंक में, उस थकान को मिटाने के लिए अचानक अंधेरे में सिगरेट सुलगों लगता है, तब दियासलाई के उस क्षणालोक में उसका तांबे जैसा शासन के गर्व में अकड़ा हुआ चेहरा चमक कर अचानक दिखाई दे जाता है। उसके चेहरे पर पड़ी सख्त सलवटें दियासलाई के क्षण भर के क्षीण प्रकाश में किसी जहरीले सांप जैसी प्रतीत होती हैं। उसमें यह भी आभास मिल जाता है कि उसके चेहरे का रंग हर बार बदल जाता है। अर्थात् हर बार साम्राज्यवाद कोई नया, सैद्धान्तिक दृष्टियों से बदला हुआ चेहरा लेकर सामने आता है। कहीं कुछ अयाचित न घट जाये, इस कारण संगीनों की नोंक पर टिका काला-सा बंदूक वालों का जत्था भी चौक में गोल चक्कर-सा, त्रिकोण-सा बनाये खड़ा सब कुछ ताक-झांक रहा है। एक तरफ टैंकों के दस्ते और ऊंघते हुए उनके चालक भी खड़े-अड़े हैं। अर्थात् साम्राज्यवाद ने सभी प्रकार में मतवादों पर अपना कठोर पहरा यह देखने के लिए बिठा रखा है कि कहीं कुछ भी उनकी इच्छा या हितों के विरुद्ध न हो जाय।

विशेष–सुनसान चौराहा–विभिन्न शून्यतावादी या परम्परागत बर्बर युग के मतवादों का प्रतीक है। बिखरी गतियां, रफ्तारें आदि मतवादों के विभिन्न क्रिया-कलापों का परिचय देती हैं। सिपाही, जत्थे, टैंक दस्तें आदि साम्राज्यवादी लौह-शिकंजों के प्रतीक हैं कि जिन्होंने आरम्भ से ही विचार-शील मानवतावादियों को कुछ करने नहीं दिया। चेहरे का रंग बदलना' साम्राज्यवादियों के बाह्य रूप या तरीकों के लेबल बदल जाने का प्रतीक है। इस प्रकार कुल मिलाकर जो बिम्ब उभरता है, वह आज तक के मतवादों पर कसे साम्राज्यवादियों के स्वरूप को ही व्यक्त करता है।

भागता मैं दम छोड़............................नहीं कहीं कोई भी। (पृष्ट २७६-७७)

शब्दार्थ–दम छोड़=हांफता हुआ। कीच=कीचड़। ग्लानि=दुखात्मक क्रोध। उमस-बास=घुटनभरी गंध। उच्छवास=सासें, आहें। रुंधा=रुका हुआ, अवरुद्ध।

प्रसंग–उपरोक्त विभिन्न मतवादों की विफलता के सन्दर्भों में आन्तरिक तौर पर संत्रस्त कवि अपनी मानसिक प्रतिक्रियाएं व्यक्त करते हुए प्रस्तुत पंक्तियों में कह रहा है :

व्याख्या–संत्रस्त होकर, अपने को विफल पाकर मैं हांफता हुआ भी भागता हूँ और कई मोड़-अर्थात् विचारों के स्तरों को पार कर जाता हूँ कि शायद कहीं राहत मिल सके। भागने पर पैरों में पहनी चप्पलों की ध्वनि चट-चट करती हुई लगती है जैसे चांटों के समान मुंह पर पड़ रही है। पैरों के नीचे का कीचड़ भागने पर उछल-उछल कर मेरे चेहरे पर पड़ कर उसे गन्दला, कलंकित और पलायनवादी घोषित कर रहा है। वह कीचड़ सहसा छाती पर भी पड़कर

अपनी विद्रूप दुर्गन्ध से क्रोध और खेद की मितली-सी ला देता है। अर्थात् अपने ही पलायन पर मन विक्षोभ एवं घृणा से अपने ही प्रति विरक्त हो उठता है। भागते हुए गलियों की गोल खन्दकों में छिपा अंधेरा चेहरे पर पड़कर, आँखों पर भी हमला करता है। अर्थात् विभिन्न मत-वादों की गलियों में भटकती चेतना भी सिवाए निराशा के अंधकार के और कुछ भी प्राप्त नहीं कर पाती। चारों तरफ अजीब घुटन भरी दुर्गन्ध है, जो सांसों तक को रूंध रही हैं अतः इससे बचाव के लिए मैं हांफता हुआ-सा फिर भागता हूँ। अर्थात् परम्परागत मतवाद की गलियां दम घोटने वाली आज के सन्दर्भ में बन चुकी हैं। अतः विवेकशील व्यक्ति उनसे दूर भागने के लिए विवश है।

भागने की विवशता में मैंने विचारों के और भी कई मोड़ पार कर लिए। कहीं-कहीं धुंधले आकार दिखाई देते हैं। वे आकार मन में समाये भय के हैं या घरों के, ठीक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। तभी भागते-भागते अचानक कोलतार से विनिर्मित आधुनिक रास्ता, नई सभ्यता का रास्ता आ जाता है। यह रास्ता बड़ा ही लम्बा-चौड़ा, काला स्याह अर्थात् परम्परागत बर्बरता का परिचायक एवं ठंडा है। मेरी बेचैन आंखें कहीं उचित ठौर पाने के लिए चारों ओर देखती हैं, आश्रय टटोलती हैं, पर कहीं कोई आश्रय दिखाई नहीं देता।

विशेष–सभी परम्परागत मत-वाद आज सडांध में भर चुके हैं। आधुनिक जीवन-यापन के रास्ते बर्बरता को प्रश्रय देने वाले हैं, अतः चेतना श्रमित और आहत है–यही तथ्य कवि ने अभिव्यंजित किया है।

श्याम आकाश में.............................वह उठा नासिक में से। (पृ० २७७-७८)

शब्दार्थ–श्याम=काला।पाषाण=पत्थर।निःसंग=अकेली।स्तब्ध=चुपचाप।पाषण-पीठिका=पत्थर की चौकी।

प्रसंग–विभिन्न सारणियों, मत-वादों की व्यर्थता और आदर्श व्यक्तियों तथा आदर्शों के नाम पर परिव्याप्त अनाचार के प्रति अपनी मानसिकता में विद्रूप-विद्रोह का-सा अनुभव करते हुए कवि मुक्तिबोध कह रहा है :

व्याख्या–काले या नीले आकाश में चमचमाती तारों की आँखें जैसे कुछ अबूझ-से संकेत कर रहीं है। मेरा दिल भी क्षीण आलोक वाली ढिबरी (तेल का दीया) के समान टिमटिता रहा–अर्थात् आशंकाओं से धुक्-धुक् कर रहा है। लगता है कि जैसे कोई मुझे रास्ते के बीच से ही अपनी ओर खींचने का प्रयास कर रहा है। मैं जैसे अदृश्य जादू की तारों से बंधा उस आकर्षण की ओर ही चल दिया हूं। उधर जहां एकदम सूने वातावरण में तिलक की पत्थर की मूर्ति अकेले में जड़ सी चुपचाप खड़ी है। मैं कुछ उसी ओर से होने की आशा में उधर देखता हूं और जैसे ही उसके पास पहुंचता हूं, उसकी पाषाणी चौकी जैसे हिलती-सी लगने लगती है। कवि का तात्पर्य यह है कि 'स्वतंत्रता मानव का जन्मसिद्ध अधिकार है' जैसे वाक्यों के उद्घोषक तिलक के सिद्धान्त भी आज के वैषम्यों से प्रकम्पित होकर रह गये हैं। वे भी व्यक्ति की द्वन्द्वग्रस्त चेतना को सम्बल प्रदान कर पाने में समर्थ नहीं रह गये लगते।

अरे ! यह क्या ? मुझे आज प्रत्येक कण कांपता-सा प्रतीत होने लगा है। उन कांपते कणों से नीले रंग वाले इलेक्ट्रान अपना विष बिखेरते झरने लगे हैं। वे नीली चिनगारियां सब ओर गिर रही हैं। तिलक के शरीर से भी जैसे वितृष्णा एवं विक्षोभ के प्रतीक अंगारे-से झरने

लग रहे हैं। लगता है जैसे उसके पत्थरी होठों पर हमारी निरीहता के प्रति एक वितृष्ण मुस्कान-सी कांप रही है और उसके नयनों में बिजली के फूल सुलगने लगे हैं—अर्थात् क्रान्ति की चिंगारियां निकल-झर कर हमें भी क्रान्ति का संदेश देने लगे हैं। तभी यह क्या दीख पड़ने लगा। मूर्ति के भव्य मस्तक के नाक से न जाने कब से खून बहता दीख रहा है। उस बहने वाले खून के धब्बों से उसका अंगरखा भी भर गया है। मानों अत्यधिक चिंता-चिंतना के कारण उसके मस्तक की कोषिकाएं अचानक फूट कर रक्त स्राव करने लगी हैं। मस्तक का वह खून ही तिलक की मूर्ति की नासिका से बहने लगा है। कवि का भाव यह है कि आज तिलक के आदर्श सिद्धान्त और विचार भी व्यर्थ होकर, विषमताओं से आहत-घायल हाकर रह गये हैं।

हाय, हाय, पितः पितः ओ .... सोचने-विचारने। (पृ २७८)

शब्दार्थ–बरंबस=बलपूर्वक, विवश। चिनगियां=चिन्गारियां, अंगारे।

प्रसंग–उच्च आदर्शों, चेतनाओं को आहत होते, एक प्रकार से व्यर्थ होते निहार कवि की अपनी अंतश्चेतना भी आहत हो उठी है। उस आहत मनःस्थिति का वर्णन करते हुए कवि मुक्तिबोध, मानव की अस्मिता को खोजते कह रहे हैं :

व्याख्या–तिलक की आदर्श प्रतिमा के आदर्शों के आहत, रक्त-रंजित होते भावों से स्वयं आहत होकर मेरा मन जैसे कराह उठा—पुकार उठा—हाय ! ओ पिता। ओ क्रान्ति के विचार-सूत्रों के प्रणेता ! तुम चिन्ताओं में इस सीमा तक मत उलझो कि नसें ही फटकर रक्त रूप में प्रवाहित हो उठें। अभी तो तेरे क्रान्तिकारी विचारों की संतान हम लोग जीवित हैं, अतः चिन्ता की गहनता कोई आवश्यकता नहीं। इतना कहते हुए मैं उस पत्थर की मूर्ति के ठण्डे पैरों को अपनी छाती से बरबस लगा कर रुआंसा हो उठा। मेरी सारी देह करुणा से अविभूत होकर के कांटो के समान तन गई। मेरे सिर; छाती और बाहों पर बिजली की नीली चिंगारियां-सी गिरने लगीं। अर्थात मेरा मस्तिष्क, मेरा हृदय और मेरी बाहें सभी अंग क्रान्ति लाने की भावनाओं से फड़क उठे। लगता है जैसे मेरे हृदय में खून की बूंदे टपकने लगी हैं कि जिनसे मेरी आत्मा का तालाब अनवरत भरता ही जा रहा है। अर्थात् मेरा खून खौलने, कुछ करने के लिए मचलने लगा है।

इतने में ही मुझे अपनी छाती के भीतर से ठक-ठक करती कुछ ठोंकने की आवाज, सिर में से धड़-धड़ करने की आवाज सुनाई देने लगी। जैसे किसी अज्ञात शक्ति से मेरी भीतरी हड्डी कट रही या काटी जा रही है। इस प्रक्रिया की अनुभूति से मेरा तन-मन गहरी चिन्ता से भर गया। विवेक जैसे अपना तीखा रंदा चलाकर मेरे विचारों को तराशने-खराशने लगा। ऐसा लगा कि कोई रन्दा और आरी चलाकर मुझसे मेरे निजत्व को छील-तराश कर अलग कर देना चाहता है। इस सबसे मेरे मन में भी कोई—कुछ कर गुजरने की भयानक जिद अंगड़ाइयां लेने लगीं। किसी महत्वपूर्ण बात या कार्य के लिए हठ का भाव मचल उठा। तभी आसमान कांप उठा और धांय-धांय करता बन्दूक चलने का धड़ाका सुनाई दिया। यह देख-सुन मेरे पैरों में बिजली की-सी गति आ गई। उस गुफा-सी दुरूह भयानक अधियारी विचारों की गलियों में थका-हारा मैं सोचने-विचारने के लिए बैठ गया। अर्थात् मन-मस्तिष्क में विचारों के बवण्डर मचलने लगे—पर थकान की विकलता से आपूरित होकर।

विशेष–कवि यह व्यक्त करना चाहता है कि हम अपने आदर्श पुरुषों से अनुप्राणित होकर कुछ करना तो चाहते हैं, पर साम्राजी पहरे ओर पाबन्दियां हमें विवश-सा बनाकर छोड़ देती हैं।

विचाराभिव्यक्ति के लिए कवि ने अनेक विध उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं एवं रूपकात्मक योजनाओं से काम लिया। अनेकविध प्रतीक विद्रूप को प्रत्यक्ष उभारने में सहायक हुए हैं।

अंधेरे में डूबे मकानों..........................सुरागरसी-सी कुछ। (पृष्ठ २७८-७६)

शब्दार्थ–पाशव=पशुतापूर्ण। निरखा=अच्छी प्रकार देखना। पंगु=लूले-लंगड़े, असमर्थ। सुरागरसी=जासूसी।

प्रसंग–तिलक के समान गांधी के आदर्श और स्वयं गांधी का वादात्मक रूप आज विकृत-विद्रूप होकर रह गया है। युग-जीवन की पंगुता को निहार जैसे अज्ञात दिशा-अवस्था में गांधी का अहम् फूट-फूटकर रो रहा है। मानवता की अस्मिता की खोज के लिए, अपनी अंतश्चेतना में भावों-विचारों के विद्रूप से भरे कवि मुक्तिबोध कह रहे हैं :

व्याख्या–देश-काल में चारों तरफ निराशा-उदासी का वातावरण अनवरत छा रहा है। उस अंधेरे में डूबे मकानों की छतों के उस पार से किसी के रुदन की कोई पतली आवाज सूने वातावरण से दूर-दूर तक काँपती हुई-सी सुन पड़ रही है। उस रुदन भरी कराहों की उभरती-फैलती और वातावरण पर छा रही लहरों में भयानक पीड़ा जैसे थरथर कांप रही है। मैं स्तब्ध-सा उस (गांधी की) कराहती आवाज को सुनने का प्रयत्न करता हूं। मैं देखता हूं कि मेरे सामने सर्दी से बचाने के लिए बोरे को (मोटे खद्दर को) ओढ़कर, उसमें अपने हाथ-पैर समेटता कांप रहा, हिल रहा और फिर मर रहा है। कवि यह स्पष्ट करना चाहता है कि स्वयं कष्ट सहकर भी मानवता का हित साधन करने वाला गांधी और गांधीवाद भी आज मरकर, विद्रूप और प्रवंचनाओं का रूप होकर रह गया है। इतने में बोरे में लिपटा वह व्यक्ति अपना सिर उससे बाहर निकलता है। उसके बिखरे बालों में कान दिखाई देते हैं। फिर लगता है, जैसे वह मुंह खोलकर कुछ कहने के लिए बुदबुदा रहा है, पर मैं उसकी बुदबुदाहट, उसकी आवाज की ओर कोई ध्यान ही नहीं देता हूं।

फिर जब उस चेहरे को ध्यान से देखता हूं, तो वह मुझे अच्छी प्रकार से जाना-पहचाना-सा प्रतीत होता है। लगता है, इस व्यक्ति को हमने कई बार देखा–परखने का प्रयत्न किया, पर अपने महत्व में उसे पा न सके। सहसा विचार उठा–उसे यह व्यक्ति तो . . . पर विचार आगे कुछ सोच न सके, कह न सके और जैसे भीतर ही दब कर रह गये। यहां तक कि सोचने के साहस ने जैसे साथ छोड़ दिया। वह मुख ? किसका है वह मुख ? वह तो गांधीजी हैं ! पर इतने असमर्थ से, लूले-लंगड़े और बेकार-से-आश्चर्य होता है सब देख, सुन और विचार कर कि आज गांधीवाद भी मानवता का हित साध पाने में असमर्थ होकर रह गया है। फिर मन में आया कि नहीं, वे असमर्थ-से-होकर नहीं रह गए, बल्कि वेश बदल कर जासूसी कर रहे हैं, कुछ जांच-पड़ताल कर रहे हैं।

विशेष–अपने ही भीतर के अंधेरे में भटकती कवि की द्वन्द्वग्रस्त चेतना विभिन्न मत-वादों का परीक्षण-निरीक्षण करती, वर्तमान परिस्थितियों में उनकी व्यर्थता निहारती व्याकुल-विद्रूप हो उठी है। उस दृष्टि से यह सूचना वर्णन ही ठोस, प्रतीकात्मक, जीवन के यथार्थ का वाहक एवं सफल चितेरा है।

अंधेरे की स्याही में डूबे..........................मैं अति उद्विग्न। (पृष्ठ २७६-२८०)

प्रसंग–अपनी अंतश्चेतना में गांधी के असमर्थ चेहरे के दर्शन कर, गांधीवाद व्यर्थता की

अनुभूति से भरकर, कवि पुराने को त्याग, उन्हीं के शब्दों में नए सन्दर्भ और साधनों के द्वारा आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हुए कह रहा है :

व्याख्या–उस अंधकार–अर्थात अतीत की कालिमा में डूब चुके–अर्थात स्वयं व्यतीत हो चुके उस देवता (गांधी) को अंतश्चेतना के स्तर पर, अपने सामने पाकर मैं अत्यधिक दीन बनकर उनके समीप होने की चेष्टा करता हूं कि तभी यह कहता हुआ एक बिजली का झटका-सा मुझे लगता है–अरे दूर रह। यहां से हट जा, भाग जा ! हमसे अब तुम्हें क्या मिल सकता है ? हम तो बीते युग के याद बनकर रह गए चेहरे मात्र हैं। हम से तुम्हें अपने युग की समस्याओं का कोई समाधान नहीं मिल सकता। हमें पीछे छोड़कर तू स्वयं अब आगे बढ़ता चल। यह ध्वनि-प्रेरणा सुनने पर भी मैं चेतना में उभरे गांधी के उस चेहरे की ओर ही किसी आशा से देखता रहा। उनके चेहरे पर दृढ़ता की परिचायक गंभीर सलवटें पहले के समान ही थीं। उनके शब्दों में गम्भीरता और गरिमा भी पहले के समान ही थी। अर्थात् आज भी वे प्रत्येक स्थिति में निरन्तर आगे बढ़ते रहने की गुरु-गम्भीर प्रेरणा देते हुए लग रहे थे।

लगा कि जैसे वे कह रहे हैं–यह दुनिया गए बीते कूड़ें-करकट का ढेर नहीं है, जिस पर दाना-दुनका चुगने के लिए चढ़ आया कोई भी मुर्गा यदि जोरदार बांग दे उठे तो उसे मसीहा मान लिया जाय ! अर्थात् जैसे बांग देने वाला मुर्गा कोई अहमियत नहीं रखता, उसी प्रकार कोरे सिद्धान्तों की उच्च स्वरों में खिचड़ी बघारने वाले लोग युग-नेता नहीं बन सकते। वे पैगम्बर बन कर दुनिया का उद्धार नहीं कर सकते। इसी प्रकार गाँधी की मानसिकता में उभरी मूर्ति और भी कुछ कह रही है–मिट्टी के ढेलों से खुरने वाले कणों में ही कुछ उत्पन्न कर सकने के गुण हुआ करते हैं। जो जनता आज अपने-आप को मिट्टी का लोंदा मात्र समझ रही है, उसके गुणों और शक्तियों की जागृति से ही सुखद भविष्य का उदय संभव हो सकता है। इस प्रकार वे गम्भीरता से गूंजते शब्द और भी जाने क्या-क्या कहते रहे और मैं उद्विग्न-सा होकर उन्हें सुनता रहा। कवि का भाव यह है कि जन-शक्ति की जागृति से ही नवयुग का निर्माण सम्भव हो सकता है। अतीत के देवताओं की समाधियों पर कोरी भावनाओं के दीपक जलाते रहने से नहीं। उनके प्रेरणादायक आदर्श और वाक्य आज भी हमारे सामने हैं, जिसके अनुसार चलकर हम अपना निर्माण कर सकते हैं।

विशेष–कवि की चेतना की ही सारी गुहार यहाँ अभिव्यंजित हुई है। उसने महापुरुषों की मूर्तियां बना उनकी पूजा करने की नहीं, बल्कि उनके आदर्शों से अनुप्राणित होकर सक्रिय हो, जीवन-निर्माण करने की ओर ध्यान आकर्षित किया है।

एकाएक उठ पड़ा...खोहों तहों में। (पृ० २८०-८१)

शब्दार्थ–आत्मा का पिंजर = शरीर। ठठरी = ढांचा। द्युति-पुरुष = प्रकाश पुत्र, दिव्य पुरुष, संकेत गांधी की ओर है। भावी = भविष्य। खोहों-तहों में = गुफाओं की गहराई में।

प्रसंग–प्रस्तुत पंक्तियां, 'चाँद का मुंह टेढ़ा है' नामक कविवर मुक्तिबोध की रचना में संकलित 'अंधेरे में' नामक लम्बी कविता में से ली गई हैं। अपनी अंतश्चेतना के द्वन्द्व में फँसा कवि भीतर-ही-भीतर गांधी जी से साक्षात्कार करता है। वे उसे जन-शक्ति के संगठन एवं श्रम से भावी का निर्माण करने की प्रेरणा देते हैं। इसके-बाद गांधी जी की वह मानस् प्रतिभा एक शिशु (नवप्राप्त-स्वतंत्रता) कवि को देकर सहसा अंतश्चेतना में गायब हो जाती है उन क्षणों की प्रतिक्रिया

व्यक्त करते हुए कवि कह रहा है :

व्याख्या–ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे मूर्ति के ढांचे में से एक शरीर एकाएक उठकर खड़ा हो गया है। उसकी नाक पर चश्मा और हाथों में एक डण्डा है। कंधों पर एक बोरा और बाँह में एक (स्वतंत्रता रूपी) बच्चा है। ओह, आश्चर्य बड़ा ही अद्भुत दृश्य एवं वातावरण बन रहा है। यह शिशु क्या-कौन और कैसा है ? उस दिव्य पुरुष ने तब मुस्कराकर जैसे मेरी जिज्ञासाओं का समाधान-सा करते हुए कहा—यह (बच्चा) मेरे पास चुपचाप सो रहा था। अब यह तुम्हारे हवाले है। इसे अपने पास सम्हाल कर और सुरक्षित रखना। कवि स्यात् यह स्पष्ट करना चाहता है कि नव-प्राप्त स्वतन्त्रता रूपी शिशु हमारे हवाले कर, उसकी सुरक्षा का दायित्व हम देशवासियों पर सौंपकर गांधी जी स्वयं तिरोहित हो गये।

उनकी बात सुनकर जैसे ही मैंने कुछ कहना चाहा, तो देखा कि वहां कोई भी नहीं है। कहीं भी कोई नहीं दीख रहा है। वहां तो बस अंधकार और अधिक सघन होकर फैल गया था वह बच्चा चुपचाप मेरे कण्ठ से लिपट रहा था—अर्थात् अब उसकी सम्वर्द्धना एवं सुरक्षा का दायित्व हम पर आ गया था। मुझे लगा जैसे मेरी छाती और कंधों से उस शिशु के रूप में नन्हा-सा मुक्त स्वतन्त्र आकाश चिपक करके सिमट रहा है। उसका स्पर्श अत्यन्त प्यारा और अत्यधिक कोमल है। पर उसका बोझ बड़ा गम्भीर-सा अनुभव हो रहा है—अर्थात् सुरक्षित रखने-पालने का भारी दायित्व आ पड़ा है ऐसा लग रहा था। इस प्रकार अपने (देश के) भविष्य की उस कोमल सुगन्धि को दूर-दूर तक छा रहे तारों भरे आकाश की छाया में मैं लिए जा रहा हूं। मैं फासलों की अंधियारी गुफाओं की गहराई में लगातार धँसता ही जा रहा हूं। अर्थात उस शिशु का दायित्व मुझे भविष्य में संवृद्धि की आशा दिलाता है। पर जैसे-जैसे वह बढ़ता जाता है, स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के दिन व्यतीत होते जा रहे हैं, हमारी स्वतंत्रता का शिशु भावनाएं और सब-कुछ जैसे निराशा के अंधकार से प्रतिच्छायित होता जा रहा है। बड़ी ही विचित्र स्थिति है।

सहसा रो उठा कंधे .... चला जा रहा हूं। (पृ० २८१-८२)

शब्दार्थ–अतिशय = बहुत अधिक। स्फोटक = फटने जैसा द्युतिमान = चमकीली। रुधिर = रक्त। संकल्प = पक्के इरादे।

प्रसंग–उपर्युक्त मनःस्थितियों की द्वन्द्वग्रस्त गम्भीरता में भावी विस्फोट की, रक्त रंजित क्रान्ति की परिकल्पना में डूबा कवि कह रहा है :

व्याख्या–मेरे कंधे से चिपका वह स्वातन्त्र्य-शिशु परिचित-सा प्रतीत होता है। लगता है शिशु (मानवता) के इस करुण-क्रन्दन को, रुदन को मेरे अंतर्मन ने पहले भी कई बार सुना है। अर्थात विषमताओं से घिरी मानवता अनेक बार इस प्रकार से रो उठी है। इन रोते स्वरों की शिकायत बड़ी ही गहरी है और इस कारण इसमें गम्भीर शिकायत भी अंतर्हित है, अतः क्षोभ का गहरा विस्फोट होगा, ऐसा प्रतीत होने लगा है। मुझे डर लगने लगा है कि यदि इस विस्फोटक रुदन के स्वरों को किसी ने सुन लिया तो फिर हम दोनों का कहीं भी रह पाना कठिन हो जाएगा। अर्थात् हम विद्रोहियों को प्रताड़ित करने का प्रयत्न किया जाएगा। मैं उस रुदित शिशु को चुप करने के लिए दुलारता पुचकारता हूं, उसे समझा-बुझा कर चुप कराने के लिए गीत गाता हूं, आधी भूल चुकी लोरियां सुनाता हूं। इस प्रकार उसे चुप कराने के मैं जितने भी प्रयत्न करता हूं, वह

क्रोधावेश में उतना ही अधिक रोने लगता है। उसके रोने से आँखों से टपकने वाले गर्म आँसू मुझ पर लगातार गिर रहे हैं। अर्थात मानवता के करुण क्रन्दन को सुनकर मेरा अंतर निरन्तर भीगता जा रहा है।

उसे चुप कराने के प्रयत्नों में असफल होकर भी जाने क्यों मुझे खुशी ही हो रही है, शायद इस भावना से ही मैं खुश हो रहा हूं कि मानवता को जगों का जो कार्य मैं नहीं कर पाया, उसे वह सम्पादित कर रहा है। यद्यपि मैं उस शिशु की पीठ को चुप करने के लिए थपथपा रहा हूं, परन्तु मेरी आत्मा करुणा से प्रताड़ित अधिकाधिक गीली-करुणाश्रुओं से सिक्त होती जा रही है। मेरे पैर और मन दोनों ही आगे की ओर बढ़ रहे हैं। अर्थात भवितव्य के, भविष्य में होने वाले विस्फोट की ओर, क्रान्ति की ओर बढ़ रहे हैं। मेरा मन किसी आन्तरिक चिन्ता में डूबने लगता है—हृदय-रूपी थाल जैसे रक्त का तालाब बन रहा है उसमें रक्त में डूबी चमकीली मणियां दिखाई दे रही हैं। उस रक्त से सुबह की सूचक लाल-किरणें प्रस्फुटित हो रही हैं। अनेक प्रकार के कटु अनुभवों के बाद अब सारे इरादे रक्त में डूब कर रह गए हैं। ये रक्त-रंजित संकल्प भी मेरे साथ-साथ चल रहे हैं। इस प्रकार रक्त-रंजित क्रान्ति के संकल्प संजोए मैं निरन्तर चला जा रहा हूं।

विशेष–यहाँ जिन रक्तिम-लालिमामय प्रतीकों की योजना की गई है, वे सारे सशस्त्र और रक्त-रंजित क्रान्ति लाने की ओर ही संकेत करने वाले प्रतीत होते हैं। अंधियारी गलियां अव्यवस्थित वर्तमान व्यवस्था की परिचायक प्रतीत होती हैं। रक्त में डूबी द्युतिमान मणियाँ, क्रान्ति के बाद बनने वाले जीवन की आशा की प्रतीक हैं। इस प्रकार समूचा बिम्ब भावी क्रांति की ओर संकेत करता है।

इतने में पाता हूं अंधेरे..भई खूब ! ! **(पृ. २८२-८३)**

प्रसंग–अपने अंतर्मन की द्वन्द्व ग्रस्त गहराइयों में वर्तमान के भयावह, आतंककारी दृश्यों का, जीवन में बीते, घटे, घटनाक्रम का गांधीजी की हत्या के सन्दर्भों में वर्णन करते हुए कवि मुक्तिबोध कह रहे हैं :

व्याख्या–तभी अंधेरे में सहसा मुझे आभास मिलता है कि मेरे कंधों पर अब कुछ भी नहीं रह गया है। अर्थात वह स्वातन्त्र्य शिशु सहसा कहीं गायब हो गया है। पता नहीं, वह शिशु कहाँ चला गया है ? अब उसके स्थान पर मेरे कंधों पर सूरजमुखी फूलों के गुच्छे लदे हैं अर्थात रक्तिम किरणों वाले बाल रवि के स्थान पर अब उसका युवा होता प्रकाश मेरे कंधों को भरने लगता है। सूर्य की किरण रूपी उन सुनहले फूलों से मेरे कंधों, सिर, गाल-गले, मन और सारे तन पर प्रकाश फैलने-बिखरने लगा है। चारों ओर रास्तों पर भी वही सुनहरी स्वतंत्रता की किरणें उन्मुक्त भाव से बिखर रही हैं। भई वाह ! क्या खूब परिवर्तन और दृश्य है।

तभी चलते-चलते एक और गली आ गई। यहाँ गली एक अंय विचारधारा का प्रतीक बनकर आई है। उसमें एक खुला दरवाजा दीख रहा है पर उसकी सीढ़ियाँ अंधेरी हैं—अर्थात वह विचार की गली निराशा के भार से आक्रान्त है। बस, लगता है कि मात्र एक ढिबरी-सी कहीं टिमटिमा रही है। अर्थात् उस विचारधारा में मानवीय विकास की आशाएं अत्यन्त क्षीण हैं। मैं उस ओर बढ़ता हूं, तो पता नहीं कंधों पर लदे वे प्रकाश के गुच्छे कहां गायब हो जाते हैं। मेरे कंधों पर एक वजन-सा आ गया है। कंधे उस वजन से दुखने लगे हैं। अब यह

क्यां ?—ओह, प्रकाशीय गुच्छों के स्थान पर, मेरे कंधों पर अब वजनदार रॉयफल आ गयी है। भई खूब !

विशेष—कवि यह स्पष्ट करना चाहता है कि स्वतंत्रता का लाल सूर्य अभी अपनी प्रकाश-किरणें बिखरने ही लगा था कि (गांधी) विरोधी विचारधारा वालों का अन्धियारापन सहसा सक्रिय हो उठा। वे हिंसा पर उतारू हो गये। मनुष्य एक बार फिर बहशी हो उठा।

'सूरजमुखी फूलों के गुच्छे' नवोदय की किरणों के प्रतीक हैं। अंय खुला दरवाजा अंय विचारधारा का और 'अन्धियारा जीना' निराश मनोवृत्तियों का परिचायक है। बन्दूक-रॉयफल हिंसा की परिचायक है।

खुलता हुआ कमरा है..............................चित्-वेदना-भास्कर। (पृ० २८३-८४)

शब्दार्थ—कार्य-क्षमता = काम करने की शक्ति। वंचित = विरहित, ठगा गया। असंग = एकाकी। शुचितर = पवित्रतर। नीरव = मौन। वधिकों = हत्यारों। तृषार्त्त = प्यास से व्याकुल। अंतर = हृदय। द्युतिमान = प्रकाशवान। सकर्मक = कर्मशील। चित् = नित्य। भास्कर = सूर्य।

प्रसंगः—उपरिवत्।

व्याख्या—कमरा खुला है, पर संवलाई हवा बह रही है। अर्थात् वातावरण में षड्यन्त्रों की कालिमा फिर गई है। दूर अंधेरे आकाश पर टंगे तारे खिड़कियों से झांक रहे हैं—अर्थात् दूर-दूर से टोह ली जा रही है। ठण्डी सांसों जैसी वीरानी फैल रही है—अर्थात् वातावरण एकदम शान्त-शीतल है। सारा सामान अस्त-व्यस्त-सा होकर चारों ओर फैल रहा है। उस सब के बीच में बाहें फैलाये कोई गिरकर अंततोगत्वा पसराया फैला-सा लेटा या गिरा पड़ा है। जैसे टार्च मारने से उसके प्रकाश में सब स्पष्ट हो जाता है, उसी प्रकार कवि कह रहा है कि मेरी चेतना का टार्च उस गिरे-पड़े व्यक्ति पर पड़कर देखता है—ओह ! यह क्या ? उसका चेहरा खून भरे बालों में उलझ रहा है। उसकी ठीक भौहों के बीच में गोली लगने से बन गया एक सूराख है। उसके गालों पर खून की पर्तें फैल-जम रही हैं। खून की सूख कर कत्थे जैसी बन गई धारा उसके होंठों पर जम गई है। उसका चश्मा फूट चुका है, पर नाक अभी भी सीधी है—अर्थात् मर कर भी उसका सम्मान ज्यों का त्यों उच्च बना है।

ओफ हो ! मेरे एकान्त का तो यह अत्यधिक परिचित व्यक्ति है। अर्थात् मैं मन-ही-मन में इससे शक्ति और कार्यों से भली-भांति परिचित हूं। हां, यह वही व्यक्ति है कि सच्चाई जिसका एकमात्र अहसास था। वह वस्तुतः जीवन का एक महान् कलाकार था। गलियों के अंधेरे-अर्थात् भिन्न विचार सरणियों के अंधियारे ने इसके मन-मस्तिष्क को बोझिल कर रखा था—इस पर दबाव डाल रखा था, फिर भी अब यह कार्य करने की शक्तियों से सर्वथा विरहित होकर जो व्यक्ति पड़ा है, वह नितांत निजी और एकाकी व्यक्तित्व के लिए, अपने पथ पर निरन्तर चला जा रहा था। कोमल-कांत और पवित्रतर मानवता के हृदय में पलने वाले महानता के स्वप्न ही इस महान् व्यक्तित्व के अपने-अपना संबल थे। इसके मन में जो मानवता के सुखद भावी विकास की महत् कल्पनाएँ थीं, ज्ञान और जीवन के महान अनुभव थे, जो मानवता के भविष्य निर्माण को लेकर उसके मन-मस्तिष्क में हमेशा आन्दोलित रहा करते थे, अभी तक यह व्यक्ति उस सबको किसी को भी—अर्थात् संसार को प्रदान नहीं कर सका था। आज वह बर्बरता की तृष्णाओं के जल

में बेरहमी से डुबो दिया गया है। उसे मार डाला गया है। उसके सपनों, ज्ञान और अनुभवों का जीवन को महान बनाने के लिए जो उपयोग होना चाहिए था, वह कतई नहीं हो पाया है। न जाने किस झोंक में आकर उसने अचानक क्या कर दिया कि उसकी नीयत पर सन्देह किया जाने लगा और वह निर्मम हत्यारों के हाथों से अचानक मार डाला गया।

उसका हृदय अपनी ही नहीं, सारी मानवता की मुक्ति का इच्छुक, मुक्ति की प्यास से व्याकुल था। वह निरंतर मानवता की मुक्ति के लिए प्रयत्न करता रहा और इस कारण वह सबका प्रिय था। वह अपनी आत्मा, अपने व्यक्तित्व में पूर्णतया मानवता के प्रकाश से प्रकाशित था। ओह ! ऐसे महापुरुष का वध इस घिनौने रूप में हुआ। उसके साथ एक पूरा युग जैसे मर गया है। जीवन का एक महत् आदर्श जैसे समाप्त हो गया है। इन विचारों मे डूबे हुए मुझको इतने में चिढ़ाकर जैसे प्रश्न करने लगता है कि अब तक तुम ही क्या कर रहे थे ? मैं भिन्न प्रकार के विचारों में भटकता सभी दिशाओं में मात्र भाग-दौड़ ही मचा रहा था—अर्थात् बौद्धिकता एवं वैचारिकता के स्तर पर कहीं स्थिर नहीं हो पाया था। पर इस समय अपने-आपकी आलोचना करना, अपने व्यक्तित्व को कोसना कोई अर्थ नहीं रखता। इस समय तो आवश्यकता है ऐसे दोस्तों-साथियों को खोजने की,कि जो सक्रिय रूप से नित्य सत्यों और सहज मानवीय वेदनाओं से सूर्य के समान प्रज्ज्वलित हों। अर्थात् जिनमें जीवन के सत्य को, मानवीय वेदनाओं को पहचान कर कुछ कर गुजरने की लालसा हो, ऐसे नए साथियों को खोजने-पाने की आवश्यकता है।

विशेष—वर्णन बड़ा ही सजीव, अंतर्व्यथा में डूबा हुआ और उसे साकार करने वाला है। शून्य बर्बरता और उन बर्बर प्रवृत्तियों का प्रतीक हैं, जिन्होंने उस द्युति पुरुष का व्यर्थ के संदेहों से आवृत्त होकर वध किया।

जीने से उतरा .... पुनर्गठन सा होता जा रहा। (पृष्ठ २८४-८५)

शब्दार्थ—आततायी सत्ता=अत्याचारी शासन। त्वचा=चमड़ी। अनहद नाद=अबूझ शब्द, ब्रह्म की आवाज। कुहरिल=धुंधले। वर्त्तुल=घेरे, चक्कर। चक्रिल केन्द्र=घूमता मध्य बिन्दु।

प्रसंग—जीवन में घटित अनुभवों से उत्पन्न संवेदनाओं को अपनी अंतश्चेतना में मचे द्वन्द्व रूप में सन्दर्भित घटनाओं की रेखाओं के माध्यम से, मन के कुहासों को व्यंजित करते हुए कवि मुक्तिबोध कह रहे हैं :

व्याख्या—जैसे ही मेरा मन दृश्य-विचारों के जीने से नीचे उतरा एकाएक भद्दे-से रूपों आकारों ने घेर लिया। अपनी मशीनी पकड़ में मुझे—मेरी अंतश्चेतना को जकड़ लिया। लगा जैसे मुझे भयानक आकारों ने घेर रखा है और मैं अत्याचारी शासन-व्यवस्था के सामने खड़ा हूं। इन अनुभूतियों से भरकर मेरा हृदय पकड़कर फिर सहसा एकाएक रुक गया। यह सब क्या हुआ—क्या हो रहा है—एक सनसनी-सी होने लगी। लगा जैसे मेरा कॉलर पकड़कर गला दबाया जा रहा है। चांटा लगने से मेरी कनपटी टूट गई है और अचानक गालों की पूरी चमड़ी भी उखड़ गई है। कानों में कोई भयानक अबूझ-सी ध्वनि भर गई है, रह-रहकर गूँज रही है। आँखों में लाल-नीली चिंगारियां उड़ने लगी हैं और आंखों के सामने कुछ धुंधले से घेरे-से बनने-बिगड़ने लगे हैं। उन घेरों का घूमता केन्द्र-बिन्दु जैसे लगातार फैलता ही जा रहा है। उस फैलाव में धंसकर गिरते हुए बड़े टॉवर दिखाई दे रहे हैं। यह सब देख मेरे हृदय में विचारों की भगदड़-सी मच गई है। उसी भगदड़ में जैसें सामने दिखाई दिया—एक उजाड़-वीरान सा टीला है। सहसा उस टीले

पर कोई रो रहा है और जैसे कोई सहायता के लिए भागा आ रहा है। इस स्थिति में मेरे आन्तरिक तत्व एक प्रकार की व्यवस्था और प्रबन्ध के रूप में गठित होने लगे हैं। अर्थात् अंतर्मन में फिर से नयी व्यवस्था प्रश्नात्मक बनकर उभरने लगी है।

विशेष–विपरीत-सा, विद्रूप-सा प्रतीत होने वाला कवि की अंतश्चेतना का द्वन्द्व ही अपने विविध आयामों में यहां अभिव्यंजित हो पाया है।

दृश्य ही बदला, चित्र .... हिम थॉरोली। (पृष्ठ २८५-८६)

प्रसंग–जीवन के विद्रूप-विभत्स की एक नई रूप-रेखा, शासन के उत्पीड़न की सघन प्रक्रिया की एक नई तस्वीर, जो कि जनता के शुभचिन्तकों, क्रान्ति-वाहकों के साथ घटित हुआ करती है, प्रस्तुत करते हुए कवि मुक्तिबोध कह रहे हैं :

व्याख्या–अब मेरी अंतश्चेतना में केवल दृश्य ही नहीं, उसका समूचा चित्र, समग्र आयाम ही परिवर्तित होकर उभरने लगा। लगा जैसे मुझे एक अत्यधिक अंधियारे एवं सूने कमरे में बलपूर्वक ले जाया गया है। मुझे एक टूटे हुए स्टूल पर बैठा दिया गया है। अब मेरे सिर की हड्डी को तोड़ा जा रहा है। वहां ठोंकी जा रही लोहे की कल पर तेज-तेज हथौड़े लगातार पड़ रहे हैं। इस प्रकार उन लोगों के द्वारा मेरे सिर के भीतर अस्थि-पंजर को पूर्णतया बाहर निकाल लिया गया। इसके बाद इस बात की परीक्षा की जाने लगी कि मेरे मस्तक के यंत्र में किस प्रकार के विचारों की ऊर्जा-अर्थात् ईंधन या आग (सामग्री) है। सिर की विभिन्न शिराओं में से कौन-सी अधिक फड़कती आग से प्रज्वलित है। मस्तिष्क की कौन-सी रंग में कौन-सा विचार-स्फुरण है। वह सब-कुछ सूक्ष्मता से देख सकने वाला कैमरा कहां है, जिसमें भोगे जा रहे ज़ीवन के यथार्थ चित्र उभरा करते हैं। फिर सत्य कल्पनाओं के विचार कहां-कहां अवस्थित हैं और विक्षोभ से, क्रान्ति का विस्फोट उत्पन्न कर देने वाला कौन-सा सामान कहां-कहां पर अवस्थित है। यह भी परीक्षण की स्थिति में कहा गया कि इसके भीतर दबे उस गुप्त प्रेस को भी खोजो, जहाँ क्रान्तिकारी विचारों वाले पर्चे छापे और बांटे जाते हैं। इस सारी संस्था के सैक्रेटरी–अर्थात् केन्द्रीय तत्व की भी खोज करो। जिसे 'आस्था' कहा जाता है, शायद उस गुप्त सैक्रेटरी का ही नाम है। इन क्रान्तिकारियों की दुकड़ी का नेता, इनकी आत्मा कहां है–क्या है ? और तब मुझे झल्लाई, चिढ़ी हुई ऊंची आवाज में सुनाई देता है कि मिस्टर गुप्ता। इसके चित्र उतारो। पूरी तरह से सभी प्रकार से इससे जवाब-सवाल करो।

विशेष–जीवन में स्वस्थ एवं क्रान्तिकारी विचार रखने वालों को सत्ता के द्वारा कैसे उत्पीड़ित क़िया जाता है। कवि ने इसका बड़ा ही सजीव–यथार्थ चित्र प्रत्यांकित क़िया है। सभी-कुछ कवि की आपबीती-सा प्रतीत होता है।

चाबुक चमकार .... फटे हुए मन की। (पृष्ठ २८६-८७)

शब्दार्थ–चाबुक चमकार=चाबुकी तेज मार। चर्म=चमड़ी। कत्थई-रक्तिम रेखाएं=जमें खून की कत्थे जैसी लाल रेखाएं, मार के निशान। खोह=गुफा खड्डा।

प्रसंग–यथार्थवादियों, क्रान्तिकारियों के तन टूट सकते हैं, मन और आत्माएं घोर अत्याचार सहकर भी नहीं टूटतीं, नहीं मरतीं। वे अपना क्रान्ति-पथ सतत प्रशस्त करतीं ही रहती हैं। कुछ इसी प्रकार के विचार प्रस्तुत प्रसंग में व्यक्त करते हुए कवि मुक्तिबोध कह रहे हैं :

व्याख्या–मेरी पीठ पर यद्यपि चाबुकों की तेज-तर्रार मार पड़ रही है, उसके प्रहारों से उखड़ी

चमड़ी पर खून की कत्थई-लाल रेखाएं उभर रही हैं, फिर भी मेरी आत्मा बड़ी ही चतुर है। वह इस भयानक मार की कचोट से सर्वथा मुक्त है। शरीर पर पड़ी मार से उभरने वाली गर्म-गर्म वेदना-संवेदना की कटु धारा को आत्मा के झन्नाते तारों के उस पार पहुंचा उस वेदना के अनवरत विस्तार को लगातार समेट-सहेज कर मेरा मन उस सबकी जबरन गांठ बांधता जा रहा है। वह अपनेपन में लगातार पत्थर बनता जा रहा है। वह जोर से हथेलियां मसलता जैसे उस समूची वेदना की गठान को चूर-चूर करता जा रहा है। अर्थात् वह सब प्रकार की प्रताड़नाओं को व्यर्थ बनाता जा रहा है। शरीर की सीमा से निकलकर मेरा मन संसार की सीमा में चला जाता है। इस प्रकार की अनुभूति से भरा यह क्षण बड़ा ही विचित्र है। सब जादू-सा लगता है और मैं जैसे मात्र बिजली बनकर रह गया हूं। यद्यपि मैं अंधेरी गुफा में खूँटे के साथ जकड कर बंधा हुआ हूं और अनेक उसके दैत्य जैसे पहरेदार आस-पास चौकन्ना पहरा दे रहे हैं। फिर भी मीलों की दूरी तय करके मैं एक संवेदना के, क्रान्ति के विचारों से भरे पत्र के रूप में जगत में गिरता हूं किसी एक ऐसी जेब में कि जिसके मालिक का मन भी मेरे समान वर्तमान से फट-कट चुका है।

कवि का आशय यह स्पष्ट करना है कि अत्याचारी व्यवस्था के कठोर शासनों और बन्धनों के बीच में भी जीवन के यथार्थ की अनुभूतियां, उससे छुटकारे के लिए क्रान्तिकारी विचार अंयों तक पहुंचा रहीं हैं।

विशेष–आत्मा और मन सांसारिक सुख-दुखों से अप्रभावित रहते हुए भी संवेदनाओं–सहानुभूतियों की अनुभूतियों को संजोते, प्रसारते और प्रभावित करते हैं। अतः देह को कुचलकर भी कठोर से कठोर सत्ता आत्मा और मन की आवाज को नहीं दबा सकती, यह तथ्य कवि ने बड़े ही उदग्र रूप से अभिव्यंजित किया है।

कवि का संकेत क्रान्ति की प्रतीक साम्यवादी विचारधारा के जन-जन तक पहुंचने की ओर भी है।

समस्वर समताल..लक्ष्यों के पथ पर। (पृष्ठ २८७)

प्रसंग–उपरिवत्।

व्याख्या–मन का पत्र एक जेब से दूसरी जेब में जाकर जैसे घोषण करता है–हमारा स्वर-ताल समान है। परिणामतः चारों और कोमल सहानुभूतियों का सनसनीपूर्ण वातावरण बन जाता है। हम-अर्थात् हमारी सहज मानवीय चेतना कीं पर नहीं है ! वह समान रूप से सर्वत्र विद्यमान है, प्रतिच्छायित है। सभी जगह हमारा समाज निजत्व परिव्याप्त है। जैसे तारों के जालों के भीतर बिजली परिव्याप्त रहती है, उसी प्रकार भीतरी चेतना में सर्वत्र प्रज्ज्वलनशील विद्युत-तारों की गुच्छियां भरी हैं, जबकि सतह के ऊपर धूल भरी पपड़ियां जमी हैं। जैसे पर्वत शिखाएं अपने भीतर आग को रखते हुए भी ऊपर से बर्फीली हुआ करती हैं, वातावरण में तूफान की उग्रता समाई रहकर भी वह बाहर से शान्त दिखाई देता है, उसी प्रकार अपने भीतर क्रान्ति की आग छिपाये ये हृदय बाहर से शान्त दिखाई दे रहे हैं क्यों ? क्योंकि भीषण शक्ति रहते हुए भी आत्मा की पोशाक–अर्थात् हमारे शरीर अपनी विवशता और स्वार्थों में मैले हो चुके हैं। फिर भी विचित्र से रूप धारण कर यह जीवन लक्ष्यों की ओर निरंतर चल रहा है चलता रहेगा।

विशेष–कवि जीवन की वर्तमान स्थिति को तूफान या विस्फोट होने से पहले वाली अवस्थिति

मानता है। पर उसे विश्वास है कि स्थितियों की जड़ता में स्फोट होगा। और नए पर विचित्र से लगने वाले विचारों के द्वारा मानव-जीवन अपने चरम लक्ष्यों को अंततोगत्वा अवश्य पा लेगा।

७. **रिहा ! ! छोड़ दिया गया मैं·····तनाव दिन-रात।** (पृष्ठ २८७-८८-८६)

शब्दार्थ–छायाकृतियाँ=परछाइयां। पैनी=तेज, तीखी। भीमाकार=बहुत बड़े आकार-प्रकार वाला।

प्रसंग–प्रस्तुत प्रलम्ब काव्य-प्रसंग कविवर मुक्तिबोध की रचना 'चाँद का मुंह टेढ़ा है' में संकलित 'अंधेरे में' में नामक लम्बी कविता के आरम्भ से उद्धृत किया गया है। अब लगता है कवि विभिन्न विचारधाराओं, स्थितियों की संकुलता से निकलकर किसी निश्चय की तरफ पहुंचने लगा है। फिर भी वह परम्पराओं विभिन्न विचारों की सूक्ष्म छाया अनुभूतियों से ग्रस्त रहता है। उनसे छुटकारा पाने के लिए उसकी अंतश्चेतना किसी ऐसे दृढ़ आधार-सम्बल को तलाशती है कि जो उसे सही गति दिशा दे सके। अपनी अंतश्चेतना में घुमड़ रहे द्वन्द्व और तनाव से छुटकारा पाने के लिए वह एक प्रकार के वैचारिक-स्तर (साम्यवाद का क्रान्ति मार्ग) की ओर संकेत करते हुए कह रहा है:

व्याख्या–मैं रिहा हो गया हूं। विभिन्न विचारों की अंध सरणियों में कैद मेरी चेतना को अब छोड़ दिया गया है, फिर भी कई छाया-मुख मेरा पीछा कर रहे हैं। ये परछाइयां विभिन्न परम्पराओं, (अंध रूपों) मेरा पीछा करना पूरी तरह से नहीं छोड़ पा रहीं। मैं जहां कहीं भी जाता हूं, इन पीछा करने वाली परछाइयों की आँखें रहस्यमय ढंग से कुछ संकेतात्मक-संगीत छेड़ती हैं। इनकी पथराई दृष्टियों की चमक बड़ी ही तेज अंतर्मन तक को बेध डालने वाली है।

अब मुझे अपने साथियों के रूप में काले गुलाब, स्याह सिवन्नी और श्याम चमेली के फूल खोजने होंगे। अर्थात् विषमताओं से तापित-उत्पीड़ित विवश हो गये लोग मेरे साथी होंगे। मुझे वे काले पड़ गए कमल खोजने होंगे जो खड्डे जैसे जीवन के चल की पाताली गहराई में धंसे संकेतों की भाषा में अपने सुझाव और संदेश भेजा करते हैं। अर्थात् मेरी प्रेरणा के स्रोत वे जन बनेंगे कि जो युग-युगों से उत्पीड़ित और विवशता का जीवन जी रहे हैं। तभी अचानक दूर क्षितिज के पास मुझे बिजली की नंगी लताओं पर भर रहे सफेद-नीले, चम्पई फूल गुलाबी होकर उठते हुए दिखाई देते हैं। मेरे हाथ अग्नि के उन फूलों को अचानक समेटने लगते हैं। अर्थात् दूर देश की क्रान्तिकारी विचारधारा मुझे अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। उन क्रान्ति के प्रतीक फूलों को मैं अपलक देखने लगता हूं। उससे मेरे मन में एक विचित्र स्फूर्ति, एक अनोखी प्रेरणा का संचार होने लगता है। अतः मैं जमीन पर पड़े चमकीले पत्थर चुनकर उन्हें बिजली के फूल बनाने की कोशिश करने लगता हूं। अर्थात् उपेक्षित किन्तु प्राणवान तत्वों को समेटकर क्रान्ति की लता को सिंचित-पुष्पित करने का प्रयत्न करने में जुट जाता हूं। मेरे वे पत्थर से फूल (प्राणी) भी उन्हीं दूर दिखाई देने वाले फूलों के समान उजली किरणें फैलाने लगते हैं। वे भी धरती के भीतर सक्रिय रेडियो-ऐक्टिव किरणों से विसर्जित होने वाले रत्न हैं। अर्थात् वे भी अंतःभावों और विचारों से प्रभावित होने के कारण महत्वपूर्ण हैं।

वे भी बिजली के फूलों की तरह किए गए यत्नों की प्रक्रिया की देन ही हैं फिर भी मुझमें अभी तक गहरा असन्तोष बना हुआ है कि शब्दों के अभाव में ही मैं उनको पूरी तरह से अभिव्यक्ति प्रदान नहीं कर सकता, असंतोष का यही संकेत है। काव्य में उस सबको वर्णन करने की शक्ति

होती है, वह भी उन दूर के फूलों के समान रंगीन है, पर ठण्डा पड़ा है। अर्थात् वह क्रान्तिकारी विचारों को व्यक्त कर पाने में पूरी तरह से असमर्थ होकर रह गया है। मेरे विचारों के फूल भी अपनी तेजस्विता में अत्यन्त सक्रिय हैं, पर साथ ही ये बहुत अधिक शीतल भी हैं। अर्थात् शान्ति-शान्ति की गुहार के कारण यहाँ की जाग्रत चेतना ठण्डी पड़कर रह गयी है। पर नहीं, मुझे तो बिजली की नीली जलती बांहों में बाहें डालकर उसी जैसी प्रदीप्त लीला करनी हैं। अर्थात् क्रान्ति भावनाओं को समेटकर क्रान्ति-कारिता को प्रश्रय देना है। सारे आकाश में—अर्थात् समूची धरती पर उस क्रान्ति भावना का विस्तार करना है। मेरे पास बिजली का गोरा अर्थात् चमकीला वर्ण नहीं है, मैं तो एक विशालकाय काले बादल का टुकड़ा हूं। फिर भी मुझमें गम्भीर आवेश के साथ-साथ प्रेरणा-स्रोत का संयम भी है। पर नहीं, अब इन पथराये रंगीन फूलों से काम नहीं चल सकता अर्थात् अब जड़ता की प्रतीक बन चुकी रंगीन कल्पनाएं व्यर्थ होकर रह गयी हैं। ओह! ऐसी स्थिति में मैं क्या कहूं? क्या करूं? मेरे मन-मस्तिष्क के भीतर एक यथार्थ एवं नित्य मानवीय वेदना अपनी सम्पूर्ण यथार्थता के साथ गलकर, रात दिन मस्तिष्क में एक तनाव-सा बनाए रखती है। कैसे हो इस तनाव से छुटकारा?

विशेष—रंगीन फूल विभिन्न कल्पनाओं के प्रतीक लगते हैं, जबकि बिजली के फूल क्रान्तिकारी विचारधारा के पोषक हैं। कवि का मन जीवन के विद्रूप, घिनौने यथार्थ को निहार, उससे छुटकारा पाने की तड़प में हमेशा एक तनाव सा अनुभव करता रहता है। ठण्डा, शीतल जैसे शब्दों के प्रयोग द्वारा कवि ने परिस्थितिजन्य वैषम्यों के कारण असमर्थ-विवश पड़ी चेतना का अंकन किया है। साथ ही इस स्थिति को बलात् तोड़ फेंकने की प्रेरणा भी दी है।

समूचा वर्णन प्रतीकात्मक है। वह संसार में जन्म लेने वाली नई साम्यवादी क्रान्तिकारी सरणियों की ओर संकेत करने वाला भी है।

अब अभिव्यक्ति के .... अच्छी न लगती। (पृष्ठ २८६-६०)

शब्दार्थ—अभिव्यक्ति=विचार प्रगट करना। दुर्गम=कठिन। अरुण-कमल=लाल फूल, संकेत लाल क्रान्ति की ओर है। हिम-शीत=बर्फ के समान ठण्डे। सुनील=गहराई के कारण नीले।

प्रसंग—जीवन के घिनौने विद्रूप यथार्थ को देखकर कवि का मन तनाव से भर गया है। वह यह भी जानता है कि बन गई परिस्थितियों में नए क्रान्तिकारी विचार प्रगट करना खतरनाक है। पर वह, उसकी यथार्थ चेतना जीवन की वास्तविक अभिव्यक्ति करके क्रान्ति-पथ को प्रशस्त करने के लिए विवश है। अतः वह कहता है:

व्याख्या—ठीक है कि यहां बोलने, विचारों को प्रगट करने की भी छूट नहीं है। अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगे हैं। पर अब सहन नहीं होता। जीवन के घिनौने यथार्थ और उसे समाप्त करने के लिए क्रान्तिकारी विचार प्रगट करने की राह में चाहे कितने भी खतरे क्यों न हों, उन्हें झेलने के लिए तैयार होकर सब कुछ स्पष्ट कहना होगा। मानवता को विद्रूप, कुण्ठित और शोषित करने के लिए प्रतिक्रियावादियों ने जितने भी मठ और सुरक्षा या प्रतिरोध के गढ़ बना रखे हैं, अब क्रान्तिकारी विचारों के घोर प्रहार से उन सबको तोड़ना ही होगा। हमारी राहें रोकने के लिए प्रतिक्रियावादी व्यवस्थाओं ने जो पहाड़ों जैसे प्रतिरोध खड़े कर रखे हैं, उनको लताड़कर उमके पार पहुंचना ही होगा। तभी वे बाहें देखने को मिलेंगी जिनमें प्रत्येक क्षण एक क्रान्ति का सूचक लाल कमल कांप रहा है। उसको लेने के लिए विषमतारूपी बर्फ से भी शीतल और

गहरे जल में अब धंसना ही होगा अंय कोई भी चारा नहीं है।

अब विचारों की नव्यता और परिवर्तन-क्रान्ति का परिचायक नया चांद उग आया है। आकाश को छूने वाली शोषकता की परिचायक प्रतिक्रियावादी गलियों की दरारों में अब नए उगे चांद की तिरछी किरणें अपनी तीखी मार करने लगी हैं। नीम के उस वृक्ष पर, जिसकी छाया में बने मिट्टी के गोल चबूतरे पर नीली चांदनी में कोईसुनहला दीपक जल रहा है, जैसे कि अदृश्य सपने—अर्थात् कल्पनाएं ही साक्षात् साकार हो उठी हों। कवि का भाव यह है कि सामान्य जनों के मन में भी अब नवीन भावनाएं जाग उठी हैं कि जो नव-निर्माण के सपनों को पूरा करेंगे। मकानों के वे बड़े-बड़े खण्डहर जिनके वीराने में, मटियाले हिस्सों में रातरानी महक कर खिलती ही रहा करती है, वहां फूलों के समान खिले यौवन में तारों के समान टिमकता लज्जा का भाव अब अच्छा नहीं लगता। अर्थात् अब तो सभी जगह लाज-भय छोड़कर क्रान्ति की भावना चमकने लगी है।

विशेष—कवि ने धीरे-धीरे परिव्याप्त होने वाले क्रान्ति के विचार और उसकी अभिव्यक्ति को फैलाती चांदनी एवं महकती रात-रानी के माध्यम से रूपायित किया है।

कवि ने जीवन के वीभत्स-विद्रूप से छुटकारा पाने के लिए सब प्रकार के संघर्षों से जूझने की चेतावनी और प्रेरणा भी प्रदान की है। कवि के विचार में इसके अतिरिक्त अब और कोई चारा नहीं।

भागता मैं दम छोड़ ....तो भी अंतःस्थ। (पृष्ठ २६०)

शब्दार्थ—ध्वस्त=नष्ट। दम=शक्ति, साहस। सत्ता=शासन। दृढ़-पद=मजबूत कदम। नीरव=मौन। व्यस्त=डूबे हुए, निग्मन। अंतःस्थ=भीतर ही भीतर।

प्रसंग—बदले मानो-मूल्यों और सन्दर्भों में कवि अपनी अंतश्चेतना में चतुर्दिक निरीक्षण करता, घटित हो रहे सबका साक्षी बनता, अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता कह रहा है:

व्याख्या—मैं तीव्रगति से हाँफते हुए भी भाग खड़ा होता हूं। भागते हुए विचारों-मतों के कई मोड़ पार कर जाता हूं। परम्परा की टूटी-फूटी दीवारों के उस पार कहीं बड़ी ही उत्तेजनापूर्ण, गर्म-गर्म बहस हो रही है। उसे सुनकर लगता है कि लोगों की बौद्धिकता—अर्थात् बुद्धिवादी तर्कों में काफी जीवन्तता है। उनके दिलों में कुछ कर गुजरने की हिम्मत या साहस भी हैं। आज जो सत्य और शासन में युद्ध चल रहा है, बहस तर्कों में उसी सबका रंग जम रहा है। फिर भी हमारे साथ अनेक प्रकार की दुर्बलताएं जुड़ी हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। सहसा मुझे अनुभव होने लगता है कि विचारों या मनोभावों की अंधियारीं गलियों में भटकते रहने पर भी, लोगों के चुपचाप चलने पर भी उनके कदम दृढ़, गम्भीर हैं। अर्थात् उनमें वैचारिक गम्भीरता आती जा रही है। बालक, युवक सभी मौन और मन्द गति से अपने ही भीतर उमड़ने वाले विचारों में उलझ रहे हैं। सभी के भीतर ही भीतर कोई आग अवश्य जल रही है। वह अभी भीतर ही है, प्रगट नहीं हो पा रही।

विशेषः—कवि ने जन-मन की गहराइयों में झांककर इस तथ्य का उद्घाटन किया है कि लोग व्यवस्था के प्रति अत्यधिक क्रुद्ध हैं। पर विषम स्थितियों के कारण उनकी वैचारिक आग अभी ज्वाला की अभिव्यक्ति का स्वरूप नहीं प्राप्त कर पा रही।

विचित्र अनुभव ! !......................तह सब क्या है ! ! (पृ० २६०-६१)

प्रसंगः–अपनी अंतश्चेतना में भ्रमण करता, लोगों की मनोवृत्तियों को भांपता और विचारों को सुनता कवि विचित्र प्रकार के अनुभव प्राप्त करता है। उनका शब्द-चित्र प्रस्तुत करते हुए वह कहता है :

व्याख्याः–बड़ा ही विचित्र-सा अनुभव हो उठा है। जैसे-जैसे और जितनी अधिक लोगों की पंक्तियों को पार कर मैं आगे बढ़ता जाता हूं, उतना ही मैं पीछे अकेला रह जाता हूं और लोग जैसे आगे बढ़ जाते हैं। मेरे कदम उनके पीछे चलते हुए लगते हैं। पर इतने में पीछे से और लोगों की भीड़ का रेला आया और वह अब मेरे साथ चल रहा है। आश्चर्य ! कैसी अद्भुत बात है। सभी लोगों की मुट्ठियां क्रोध से, कुछ कर गुरजने की भावना से बंध रही हैं। उनकी बंधी मुट्ठियों की अंगुलियों के बीच के सुराखों से लाल-लाल किरणें फूट रही हैं। अर्थात् क्रान्ति की चिंगारियां दहक रही हैं। यह क्या ? मैं पाता हूं कि वे लोग मेरी ही विक्षोभ रूपी मणियां लेकर और मेरी ही सूझों के रत्न लेकर अंधेरे में उत्साहपूर्वक बढ़ रहे हैं। अर्थात् क्रान्ति की, सूझों की जो भावनाएं जो चिंगारियां मेरे मन-मस्तिष्क में विद्यमान हैं, वही सब लोगों में भी अंधेरे से मुक्ति पाने के प्रयत्न में उत्साह प्रदान कर रही हैं। पर मैं अपनी बौद्धिक जुगाली करने में व्यस्त अपने-आपको जैसे एकदम अकेला ही अनुभव कर रहा हूं।

अपनी बौद्धिक जुगाली में व्यस्त मैं विभिन्न गलियों के अंधेरे में भटकता भाग रहा हूं। तभी कोई एक मुझे कोई गुप्त पर्चा दे जाता है। मेरे हृदय में छिपी कोई शक्ति चर्चा में व्यस्त हो जाती है। मैं उस पर्चे को बड़े ही ध्यान से पढ़ता हूं। पढ़कर बड़ा ही आश्चर्य होता है। उस पर्चे में तो मेरे ही गुप्त विचार छपे हैं। उसके शब्दों में मेरी ही दबी हुई संवेदनाएं, अनुभव और पीड़ाएं लिखे अक्षरों के रूप में जगमगा रही हैं। आखिर क्या है यह सब।

विशेषः–कवि एक ही संवेदना से प्रपीड़ित लोगों को समान दिशा में कार्य करते, सोचते-विचारते हुए दिखा रहा है। पर्चा प्रचार-पत्र का प्रतीक है। 'बौद्धिक प्रणाली' पद बुद्धिवादियों पर करारा व्यंग्य है।

आसमान झांकता है.......................................मानवता अड़ा हूं। (पृ. २६१-६२)

शब्दार्थः–पांतों = पंक्तियों। व्यूहों = घेरों, चक्कों। तारक-दलों = तारों के समूहों। श्यामल = हरे, सांवले। मनोज्ञ = सुन्दर। चक्रवात = वायु का चक्र-सा। सचेत = सावधान।

प्रसंगः–चारों ओर मानवता एक ही भावना और विचार को लेकर क्रियाशील है, इस अनुभूति से भर कर कवि का मन भी उसी ताल-लय में क्रान्ति-रत होने का अनुभव करता है। उस अनुभूति का काव्यमय वर्णन करते हुए कवि कह रहा है :

व्याख्याः–एक ही विचार धारा से उत्साहित होकर चलने वाले लोगों की पंक्तियों के बीच से मुझे आकाश झांकता हुआ दिखाई देता है। अर्थात् उनके ऊंचे इरादे स्पष्ट होने लगते हैं। उस पर्चे और उन लोगों के वाक्यों की प्रत्येक पंक्ति में आकाश-गंगा जैसी सघन उज्ज्वलता, उच्चता-सी छा रही है। उनके शब्दों के घेरों में नवीन तारिकाओं-अर्थात् भाव-विचार सारणियों की अद्भुत चमक है। तारों के समूह जन-जीवन के खिले आंगन जैसे प्रतीत हो रहे हैं। जिसमें चम्पा के नवीन-मोहक फूल खिलते चमक रहे हैं। शब्दों की उच्चता के आकाश के कानों में जैसे तुलसी के सांवले चेहरे खिल रहे हैं। उनके सुन्दर मुखों से उनका आशय-चमचमा कर अभिव्यक्त हो रहा है और लगता है जैसे पारिजात के स्वर्गीय फूल महक रहे हैं। कवि का

आशय यह है कि वह सब-नयी प्रेरणा, नयी चेतना का प्रतीक बनकर नवजीवन के आगमन का आभास देने वाला लग रहा था।

उस अचानक प्राप्त होने वाले गुप्त पर्चे को पढ़कर, उसमें व्यक्त सामूहिक संवदेना को समझ और उससे अविभूत होकर मैं जैसे हवा में उड़ने लगता हूं। अर्थात् मेरी कल्पनाएं दूर-दराज की फुहियों में नहाने लगती हैं। मेरा मन वायु के चक्रों में उड़ने वाले पत्तों के समान उड़कर आकाश की ऊंचाइयों में उड़ने-घूमने लगता है, फिर एक साथ अपने को जमीन पर भी अनुभव करता है। अर्थात् कल्पना की ऊंचाइयों में उड़ने वाला मेरा मन भी वास्तविक जीवन की यथार्थता से अलग नहीं हो पाता। वह अपने को सभी जगह अत्यन्त सावधान अनुभव करता है। मैं अनुभव करता हूं कि धरती हो या आकाश, प्रत्येक जगह पर मैं अपने योजनाबद्ध क्रान्तिकारी कार्यों में लगा हूं। प्रत्येक रास्ते, दुराहे और चौराहे के मोड़ों पर, सड़क के बीच खड़ा मैं लोगों की बातें मानता, अपनी बाते मनवाता अड़ा खड़ा हूं।

विशेषः–कवि का मन एक सामूहिक चेतना के विचार से अविभूत है। वह अनुभव करता है कि वह चेतना आज चारों ओर गतिशील है। मानवता स्वत्वाधिकारों की प्राप्ति के लिए समान रूप में अड़ गई है।

आकाश गंगा, आकाश, तारे, फूल आदि भावी आशा के संयोजक विविध विकसित स्वरूपों के परिचायक बनकर यहां व्यक्त हुए हैं।

और तब दिक्काल..**जन को।** (पृ २९२)

शब्दार्थः–दिक्काल = दिशा और काल, समय। नक्षे = नक्शे, मानचित्र। संघनित = घनी की हुई। द्युतिमान = चमकती। परिणत = प्रविर्तित। सस्मित = मुस्कराती हुई।

प्रसंगः–वर्तमान पूँजीवादी समाज जागृतजन-चेतना के कारण अब अधिक नहीं चल सकता। साम्यता की सहज मानवीय चिंगारियां चारों ओर फैलकर विस्तीर्ण होती जा रही हैं, अतः पूँजीवाद-साम्राज्यवाद से मानवता निश्चय ही मुक्ति पायेगी—इन विचारों को प्रस्तुत प्रसंग में, आशापूर्ण स्वरों में व्यक्त करते हुए कवि मुक्तिबोध कह रहे हैं :

व्याख्या–मानव-मानव के बीच में जो देश और काल की दूरियां हैं, आज वह केवल नक्शों के रंगों में रंगी और दीवारों पर टंगी अनुभूति बनकर रह गई हैं। अर्थात् व्यवहार-जीवन में इन दूरियों का अब कोई भी महत्व नहीं रह गया है। मेरे सपनों-अर्थात् मानवता के सुखद भविष्य-जीवन निर्माण की कोमल-मधुर कल्पनाएं अब जैसे सघन होकर द्युतिमान-अर्थात् साकार हो उठना चाहती हैं। वे अब कर्मशील जीवन की दृढ़ कर्मों की प्रतीक शिला-रूपों में परिवर्तित हो रही हैं। उन कर्म रूपी शिलाओं से ही अपनी कल्पनाओं के अनुरूप ही हम लोग अपने नव-जीवन का विनिर्माण करेंगे। वह मुस्कराती मूर्ति सुख-संचार करने वाली किरणें बिखेरेगी। उसमें समूचा ब्रह्माण्ड नप-तुलकर समाकर रह जाएगा। सच ! मुझे तो अब तनाव-जीवन की कई सीमाएं सूर्य लोक के भी उस पार तक विस्तृत होतीं-फैलती हुई-सी लगने लगी हैं। मैं बदल चुका हूं। कविता में इस प्रकार की स्पष्ट बातें कहने-सुनने की आदत हमें नहीं है, फिर भी मैं साफ स्पष्ट कह देना चाहता हूं कि जिन लोगों का हृदय पूँजीवादी साम्राज्यवादी व्यवस्था से जुड़ा है, उनमें परिवर्तन आ नहीं सकता। वह मानवता की स्वतंत्रता का प्रतिवादी है। उसके सामने मानवीय स्वतंत्रता का वादी मन अब मानव की मुक्ति को अधिक छल-धोखा नहीं दे सकता।

वह जनता को और अधिक भुलावों में नहीं रख सकता। अब तो मानवता की स्वतंत्रता अनिवार्य है।

विशेष–कवि ने पूंजीवाद के विरुद्ध समाजवाद की घोषणा बड़े स्पष्ट और सुलझे हुए काव्य में की है। मानवता के सामूहिक श्रम-कर्म पर अपना अटूट विश्वास व्यक्त किया है और उसे ही समग्र सामूहिक समृद्धियों का मूल स्रोत भी कहा है।

८. एकाएक हृदय धड़क कर.......................गोली चल गई। (पृ. २६२-६३)

शब्दार्थ–मरा हुआ सुनसान = मृत्यु का सा सन्नाटा, सूनापन। ज्वाला = आग। आवेग = जोश, बढ़ाव।

प्रसंग–वातावरण की सघनता और गम्भीरता उसके प्रति आम लोगों की उपेक्षा को अहसासता हुआ कवि मुक्तिबोध प्रस्तुत पंक्तियों में एक विद्रूप दृश्य उपस्थित करता कह रहा है :

व्याख्या–एक भयायह दृश्य को दूर से देख अनुभव कर मेरा हृदय जोर से धड़ककर, फिर जैसे रुक गया। पता नहीं क्या हो गया है। नगर में कहीं भयानक धुआं ऊंचा उठता हुआ दिखाई दे रहा है। लगता है, कहीं आग लग गई है। कहीं गोली चल रही है। सड़कों पर मौत का सा सन्नाटा निबिड़ सूनापन छा रहा है वातावरण में अदृश्य आग की गरमी अनुभव हो रही है–अर्थात् भीतर ही भीतर लोग कुछ करने के लिए जैसे सुलग रहे हैं। गर्मी का एक अदृश्य वातावरण चारों ओर जोर-शोर से जोश भर-मचल रहा है। कवि वस्तुतः कहना यह चाहता है कि जीवन में बहुत कुछ अघटित अवांच्छित सा दहला देने वाला घट रहा है। सभी लोग साथ-साथ घूमते-फिरते, रहते-सोते,खाते-पीते हैं और इस प्रकार एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए जैसे एकमेक हो रहे हैं। उधर खाकी वर्दियां कसे पथरीले चेहरों वाले ये लोग (सैनिक और पुलिस) यन्त्रों की तरह जैसे वातावरण को सूँघते हुए घूम-फिर रहे हैं। ये लोग जाने-पहचाने से लगते हैं। इन्हें देखकर यह लगता है कि वास्तव में कहीं आग लग ही चुकी है। कहीं गोली भी अवश्य ही चली है।

विशेष–कवि यह बिम्ब उभारना चाहता है कि समान उद्देश्य वाले लोगों ने मिलकर क्रान्ति का बिगुल बजा दिया है। उसी को दबाने के लिए खाकी वर्दियों वाले लोग आकर भीड़ पर, दमन की प्रतीक गोलियां चला रहे हैं। इस प्रकार आग लगना, चलना आदि वस्तुतः आन्दोलनों की हलचल का ही परिचायक है।

सब चुप, साहित्यिक चुप ....कहीं गोली चल गई। (पृ० २६३-६४)

शब्दार्थ–निर्वाक् = मौन। किंवदन्ती = सुनी-सुनाई बात जो गप भी हो सकती। रक्तपायी वर्ग = शोषक वर्ग, पूँजीवादी साम्राज्यवादी वर्ग। नाभिनाल बद्ध = जन्मजात बंधा। शिरा-जालों में = कपोल कल्पनाओं में। वाक् रुदन्ती = वाणी का कोरा रुदन। भव्याकार = सुन्दर सजीले आकार वाले। विवरों = छिद्रों। जन-मन-डर शूर = जनता का मन शूरवीर। क्रीतदास = खरीदा हुआ गुलाम। उद्भास = अभिव्यक्ति, आभास, उदय द्रुत = तीव्र। विश्लेष गतियां = विश्लेषण की गति-विधियां। स्पिलिट = सरकते हुए।

प्रसंग–प्रस्तुत पंक्तियां कविवर मुक्तिबोध की प्रसिद्ध रचना 'चाँद का मुंह टेढ़ा है' में संकलित लम्बी कविता 'अंधेरे में' के आठवें भाग में से ली गई हैं। इसमें कवि ने विद्रूप मन मस्तिष्क से कवियों-कलाकारों तथा अंय बौद्धिक वर्गों की असमर्थ नपुंसकता का रोमानी चित्र उभारा है।

जीवन-संसार में बहुत कुछ घट रहा है, क्रान्तियां हो रही हैं, पर हमारे ये बौद्धिक वर्ग गुलाम बने कोरी टिप्पणियों में व्यस्त हैं। इस प्रकार की परिव्याप्त नपुंसकता को शब्दाकार देते हुए कवि मुक्तिबोध कह रहे हैं :

व्याख्या–कहीं आग लग रही है, कहीं गोली चल रही है, पर समस्त बुद्धिवादी वर्ग मौन तमाशाई बना हुआ है। बड़े-बड़े साहित्यकार इस पर चुप हैं। बड़े बड़े कवियों की वाणियां भी इस ओर से मौन होकर रह गई हैं। बड़े-बड़े चिन्तक, कलाकार, नर्तक सभी एकदम मौन में डूबे हुए हैं। उनके विचार में आग लगना, गोली चलना अर्थात् क्रान्ति और परिवर्तन लाने वाली गतिविधियों का स्फुरण मात्र गप्प है या फिर सुनी-सुनाई अप्रामाणिक बातें हैं। विभिन्न प्रकार के शोषक वर्गों के साथ जन्मजात रूप से बंधे हुए बुद्धिवादी वर्गों के ही लोग नपुंसक बनकर भोग-विलास और कोरी कल्पनाओं के जालों में ही उलझ रहे हैं। इसका संसार यहीं तक सीमित है। ये लोग वास्तविकताओं को देख-पहचान ही नहीं सकते। जनता और उसके जीवन से जुड़े प्रश्नों अर्थात् समस्याओं की यदि इन्हें कुछ पहचान है भी तो वह मात्र सतही ही है। फिर इन्हें उनसे छुटकारे की राहों का भी कुछ ज्ञान नहीं है। अतः ये अपने-अपने में ही जैसे वाणी को कोरा रोमन बनकर रह गये हैं। वे रोमन इस रूप में प्रकट होते हैं कि कहीं कोई निर्दय व्यक्ति किसी के सीने पर सवार हो गया है, कहीं आग लग गई और कहीं गोली चल गई है। बस इससे अधिक और कुछ नहीं।

जीवन और समाज में चारों तरफ जो उथल-पुथल हो गई है, हो रही है, क्रान्तिकारी संघर्ष चल रहे और परिवर्तन आ रहे हैं, उनके बारे में समाचार-पत्र भी मौन हैं। उनके पूंजीपति मालिकों ने अपने मुख भव्य भवनों के भीतरी छिद्रों में छिपा लिए हैं। अर्थात अपने विलास-भवनों में दुबक पड़े हैं। उनमें सत्य को छानकर उसे समाचार-पत्रों में प्रकाशित करने की साहस-शक्ति नहीं है। वे सारे घटित के सम्वादों और समीक्षाओं को गढ़कर ही प्रकाशित करते हैं, परिणामतः घटित सत्य सामने नहीं आ पाता। बस, वे इस प्रकार की टिप्पणियां गढ़कर के ही रह जाते हैं कि जनता का मन हृदय में शूरता रखता है। सारा बुद्धिजीवी वर्ग खरीदे गए गुलामों-सा बनकर रह गया है अतः अपने आकाओं को प्रसन्न करने के लिए वे लोग वास्तविक नहीं बल्कि किराए के–अर्थात जैसा वे चाहते हैं, दाम लेकर उसी प्रकार के विचारों को अभिव्यक्त कर रहे हैं। इस प्रकार अपने आप को बड़ा जन-हितैषी मानने वालों के चेहरे भी सत्य की रक्षा के अभाव में विवर्ण और लज्जित होकर रह गए हैं। उनकी जनता के प्रति श्रद्धा की नपुंसक भावना गन्दे गड्ढों में छिपकर गन्दगी का बहाव मात्र बनकर रह गई है। कहीं आग लगे, गोली चले इन सबको उसकी वास्तविकता से कोई मतलब नहीं।

ऐसे (बुद्धिजीवी) लोग घुटन भरे वातावरण रूपी बादलों के जहरीले धुएं में अपनी विश्लेषणात्मक गति-विधियों को कुछ तेज करते हैं। एक-एक फिसलते सैकेण्ड में सैकड़ों तथ्यों का साक्षात्कार हो रहा है। आज धोखे से भरे सपने अर्थात कल्पनाएं टूट रही हैं। मानवता के रूप में शासन की, अपने स्वाभिमान की किरणें सतत प्रवाहित हो उठी हैं। आज आत्मा समूचे विश्व का आकार बन गई है। कहीं आग लग रही है, कहीं गोली चल रही है। इस प्रकार सारा वातावरण गर्म है, पर बुद्धिजीवी वर्ग अपनी नपुसंकता में मौन है।

विशेषः–कवि ने बुद्धिजीवी वर्गों, समाचार-पत्रों, चिन्तकों कलाकारों की जन-हित से विरहित

चेतना एवं चिन्तन पर बड़ा ही करारा व्यंग्य किया है। उसे आंखे खोलकर जीवन के सत्य को देखने, उसे प्रचारित करने और जन भावनाओं का साथ देनें की अंतः प्रेरणा प्रदान की है।

आग लगना, गोली चलना क्रान्तिकारी रंगमंच का प्रतीक है, जिसकी ओर से सर्वथा विमुख बुद्धिजीवी वर्ग अपनी ही विलास-वासनाओं के राग अलाप रह हैं। इस सब से कवि का मन अत्यधिक विक्षुब्ध है। इसी कारण अभिव्यक्ति में फटकार है।

राह के पत्थर ढोकों............................कहीं गोली चलाई। (पृ० २६४-६५)

शब्दार्थः–पत्थर-ढोकों = पथरीले अवरोधों। लौदे = ढेले। उद्रेक = उदय प्रज्ज्वलन। अनहद-नाद = अबूझ स्वर, जागृत चेतना। प्रणाग्नि-बम = प्राणों की आग से निर्मित बम जैसा। परमास्त्र = दिव्य अस्त्र। अरि = शत्रु। अनिवार = दृढ़ता से।

प्रसंगः–जीवन में चारों ओर मचलने वाले जन-आक्रोश और उसके कारण होने वाले क्रान्ति के परिचायक धमाकों का वर्णन करते हुए, कवि मुक्तिबोध कह रहे हैं :

व्याख्याः–राह के अवरोधक पथरीले टुकड़ों के भीतर भी पहाड़ों जैसे झरने मचलने लगे हैं। अर्थात सामान्य जड़ समझा जाने वाला व्यक्ति भी क्रान्ति-भावना से कुछ कर गुजरने को मचलने लगा है। मिट्टी के ढेलों के भीतर से भी भक्ति का उद्रेक भड़कने लगा है। अर्थात जो मानव मिट्टी के समान तुच्छ समझे जाते थे, उनमें भी मानवता की आग, मानवता की भक्ति की भावना मचल-उभर उठी है। आज धूल के तुच्छ कणों में भी जागृत-चेतना का खतरनाक –अर्थात् क्रान्तिकारी स्वर मचलने लगा है। सामान्य जनों में भी अपना विधाता आप होने की भावना अंगड़ा उठी है। मकानों की छतों के गाडर धम से कूद पड़े। अर्थात जड़त्व में भी सचेतनता आ गई। बड़े-बड़े खम्भे भयानक वेग से हवा में चलने-घूमने लगे। आज दादा का पुराना सोंटा भी समय की हवा में अपने दांव-पेंच दिखा रहा है और काका की लाठी हवा में, आकाश में कुछ करने के लिए नाच रही है। यहां तक कि बच्चों की स्लेट-पट्टियां भी पें-पें करती हवा में उड़ने-लहराने लगी हैं। इस प्रकार प्रत्येक जड़-चेतन वस्तु और व्यक्ति आज अग्निबम बनकर अपने प्राणों की ऊर्जा को व्यक्त कर रहा है। वह दिव्य-अस्त्र, प्रक्षेपास्त्र एवं साक्षात यमराज बनकर आताताइयों पर गिर रही है। ये सब सूने आकाश में उड़ते दृढ़ता के साथ मानवता के शत्रुओं पर टूट पड़ रहे हैं। यह कोरी कथा, गप्प या कल्पना नहीं, बल्कि आज के जीवन का घटित सत्य है। यह एकदम सत्य है कि कहीं आग लग रही है, कहीं गोली चल रही है। इसे नकारा नहीं जा सकता।

विशेषः–प्रत्येक जड़-चेतन में जागृत क्रान्ति की नव्य-भव्य चेतना को कवि ने रूपाकार प्रदान किया है। कवि यह सत्य उजागर करना चाहता है कि जब क्रान्ति की लहर आती है, तो वह समस्त अवरोधों पर पार पाकर अपने लक्ष्यों तक पहुंच कर ही रहती है। उसकी सत्यता का उद्घाटन एवं व्याख्यान बुद्धिजीवियों को करना ही चाहिए। ताकि वास्तविक जागृति और स्वतंत्रता फिर आ सके।

किसी एक बलवान तम-श्याम............................गोली चल गयी। (पृ० २६५)

शब्दार्थः–तम-श्याम = गहरे काले। वतुल = गोलाकार। स्वर्णिम = सुनहरी। ज्वलन्त = जगमगाती। घन = हथौड़ा।

प्रसंगः–युग में आने वाले अनवरत परिवर्तन कीं ओर लुहार के उदाहरण से ध्यान आकर्षित

करते हुए कवि कह रहा है :

व्याख्याः–किसी गहरे काले रंग वाले लुहारे ने कण्डों का एक जलता हुआ घेरा बिनिर्मित किया है। अर्थात् दृढ़ व्यक्तित्व ने क्रान्ति की आग सुलगाई है। उस जलते हुए कण्डों के घेरों से सुनहले कमलों की पंखुड़ियां जैसी ज्वालाएँ उठ रही हैं। इसके बाद उसने उस गोलाकार जलती ज्वाला-रेखा में लोहे का एक चक्का रखा। उसमें से निकलती चिंगारियाँ लाल-नीले फूलों के समान खिल रही हैं। कुछ दृढ़ भुजाओं वाले संवलाये मुख वाले युवक लकड़ी के चक्के पर आग से लोहे की प्रज्ज्वलित पट्टी निकालकर, उसे हथौड़ों से कूट-काट उसी प्रकार चढ़ा रहे हैं, जैसे कि जनता की आत्मा के चक्र पर दृढ़ इरादों की शक्ति का इस्पाती पर्यावरण (टायर) चढ़ाया जा रहा हो। यह सब देखकर लगता है कि वास्तव में अब युग बदल गया है। वास्तव में कहीं आग लग गई है और कहीं गोली चल गई है।

विशेषः–कवि ने लुहार को क्रान्ति का स्राजक कहा है। लकड़ी के चक्के पर चढ़ती लोहे की पर्त्त, संघर्षों की आग में जल-तप कर आत्मा या चेतना पर चढ़ने वाली क्रान्ति की पुख्ता धारणा है। कवि ने उसे दृढ़ संकल्प-शक्ति भी कहा है। उसकी सुन्दर उपमाओं की योजना भी दर्शनीय है।

गेरुआ मौसम उड़ते.......................................गोली चल गयी। (पृ० २६५)

शब्दार्थः–गेरुआ = लालक्रान्ति का। भीषण = भयानक। सचेत = सावधान, जागृत। युगांयुग = युग युगांत, अनेक युगों की जड़ता। उद्विग्न = व्याकुल। श्रमिक = मजदूर। सन्ताप = दुःख-दर्द। व्यक्तित्वान्तर = व्यक्तित्व में परिवर्तन। संगर = संघर्ष, युद्ध। शतदल-कोष = सैकड़ों पंखुड़ियों वाला कमल।

प्रसंगः–क्रान्तिकारी चेतना जागृत होकर युग-युगों की जड़ता को समाप्त कर जीवन की नव सारणियों को उजागर कर रही है, यह विचार व्यंजित करते हुए कविवर मुक्तिबोध कह रहे हैं :

व्याख्याः–चारों ओर गेरुआ-अर्थात् लाल क्रान्ति का मौसम या वातावरण छा रहा है। अयाचित को जलाकर राख कर देने वाली चिनगारियां या अंगारे चारों ओर सुलग रहे हैं। जिन्दगी के बीहड़ जंगल-अर्थात् उलझाने वाले पुराने विचार और यातना-दायक रूढ़ियां अब उस क्रान्ति की लाल आग में जलकर राख हुई जा रही हैं। उन जलते जंगल में उसके कुण्ठाओं के भयानक फूल जलकर जैसे वेदना की नदियां प्रवाहित कर रहे हैं कि जिनके जल में सैकड़ों शताब्दियों की मानवीयता पीड़ा, दुःख-दर्द अपने जलते बिम्ब फेंक रहे हैं। अर्थात् युग-युगों की मानवी यातना जलकर राख हो रही है। वेदना की उन नदियों में युग-युगों की चिन्ताओं के आंसू, अपनी सन्तानों के भविष्य के लिए चिन्तित पिताओं की चिन्ता के रंग, विवेकवानों की गहरी पीड़ा और मजदूरों-किसानों के सभी सन्ताप भी डूब गये हैं। अर्थात् लाल क्रान्ति की विचार धारा ने सभी क्रमागत दुःख-दर्दों, चिन्ताओं को बहा कर डुबो और नष्ट कर दिया है। क्रान्ति की इस प्रवाहित धारा का जल पीकर—अर्थात् क्रान्तिकारी विचार धारा का अनुशीलन करके युवकों का रूढ़िवादी व्यक्तित्व भी परिवर्तित होता जा रहा है। अब वे लोग जीवन के विविध-विभिन्न क्षेत्रों में कई प्रकार से संघर्ष करने लगे हैं। लगता है, जैसे वे सब क्रान्ति की ज्वाला-रूपी सैकड़ों पंखुड़ियों वाले कमल-कोश में बैठे हों। अर्थात् जैसे कमल-कोष सुखद होता है, उसी प्रकार क्रान्तिकारिता

का कठिन वातावरण भी जागृत युवकों के लिए सुखद-कोमल बन गया है। निश्चित शक्तियां तीव्र वेग से क्रान्ति की धारा में मानवता के उच्च भविष्य की ओर निरन्तर प्रवाहित हो रही हैं। वास्तव में कहीं आग लग गई है, कहीं गोली चल गई है।

विशेष–गेरुआ मौसम-लाल क्रान्ति का प्रतीक है। अंगारे भी वही हैं। जंगल पुरानी परम्पराओं की बीहड़ता है। नदियां लाल क्रान्ति धारा की परिचायक हैं।

'मानो ज्वाला-पंखुड़ियों से घिरे हुए वे सब—अग्नि के शत-दल-कोष में बैठे, बड़ी ही ज्वलन्त, सजीव, अर्थगर्भित उत्प्रेक्षा है। समूचा बिम्ब लाल क्रान्ति के महत्व को पूर्णता के साथ उदग्र करने वाला है।

एकाएक फिर स्वप्न भंग..............................कौन थी ? (पृ. २६६)

शब्दार्थ–रन्ध्रों = छिद्रों। प्रदीप्त = प्रज्ज्वलित। ज्योति = प्रकाश। आशय = अर्थ। अनपेक्षित = अयाचित। अतिशय मृदु = अत्यधिक मधुर, कोमल। अज्ञात प्रणयिनी = अज्ञात प्रेमिका।

प्रसंगः–अंतश्चेतना में चल रहे विचारों के स्वप्निल द्वन्द्व के टूट कर, सपने के समाप्त हो जाने पर, अकेलेपन के अहसास से घिरे कविवर मुक्तिबोध कह रहे हैं :

व्याख्या–अभी तक मैं अंतश्चेतना के द्वन्द्वों में घिरा जन-जागरण और लाल क्रान्ति के जो सपने देख रहा था, वे सहसा भंग हो गये। मैं जाग्रति की यथार्थता में आकर अपने-आप को फिर नितान्त अकेला पा रहा हूं। वे सारे स्वप्निल चित्र बिखर कर मुझे अकेलेपन का अहसास दे गये हैं। मेरे मन-मस्तिष्क में उन सपनों के भंग हो जाने के कारण रिक्तता के छेद पड़ गये हैं। खालीपन का अहसास उभरने लगा है। मेरी रिक्तता के इन दुखते छिद्रों में, अंतश्चेतना में कल्पना के रूप में प्रज्ज्वलित होने वाले लाल क्रान्ति प्रकाश का रस समा गया या वास्तविकता खोजने का प्रयास करता हूं, उन पर गहराई से विचार करता हूं। उससे जो नव-निर्माण, नव-लाल-क्रान्ति का आशय स्पष्ट होता है, उसकी पूर्ति के अभाव की वेदना मेरे मन में घिर कर उसे अनवरत आक्रान्त किये जा रही है। एक अजीब-सी उलझन में उलझकर रह गया हूं।

सपनों के अर्थ अपनी आपूर्ति के जो घाव दे गये हैं, मन उन्हीं के आस-पास घूम रहा है। मेरी आत्मा में तत्सम्बन्धी क्रान्ति की लाल-आग की प्यास समाकर पूर्णतया भर गई है। यह सारा संसार मुझे उस आग से सुनहले बने चित्र के समान दिखाई दे रहा है। लगता है, मानो कल रात मैंने किसी आयचित क्षण में अचानक किसी से प्यार कर लिया है। जीवन भर के लिए किसी को अपना बना लिया है मानो उस क्षण में किन्हीं अत्यधिक मधुर-कोमल बहों ने आकर सहसा मुझे इस प्रकार से कस लिया था कि उसके स्वप्निल चुम्बनों, स्पर्शों की याद अभी तक तन में बसी आ रही है। जाने वह अनजानी प्रेमिका कौन थी कि जिसकी याद अब भी आ रही है।

विशेषः–वर्णन, प्रतीक एवं बिम्ब सभी कुछ अत्यधिक रोमानी हैं। विचार या वाद-विशेष के प्रति कवि की प्रतिबद्धता भी यह सब पढ़ने के बाद पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है। उसको कवि ने अनजानी प्रेमिका का स्वरूप दिया है।

कमरे में सुबह की धूप..............................वायु में सिहरा। (पृ० २६६-६७)

शब्दार्थः–रवि छोर = सूर्य का भाग। विद्युत्तरंगीय = बिजली की लहरों वाली। आलोक

= प्रकाश। प्रेक्षक = दर्शक।

प्रसंगः–स्वप्न भंग होने के बाद की अपनी मनः स्थितियों, बनने वाली विचार-भंगिमाओं का जायजा लेते हुए कवि कह रहा है :

व्याख्याः–रात बीत जाने के बाद सुबह हो गई है। सुबह की धूप से मेरा कमरा भरा हुआ है। मकान की गैलरी में सूर्य की किरणों का सुनहला भाग फैल रहा है। अर्थात् प्रातः कालीन सूर्य की किरणों ने गैलरी को जगमगा दिया है। मन में रह-रह प्रश्न उठता है कि क्या सारे वातावरण की यह उज्जवलता सचमुच किसी प्रेमिका के मिलने की सूचक है ? हाय ! प्रेम की गहरी अनुभूति मेरे मन में क्योंकर जाग उठी है।

चारों ओर बिजली की लहरों जैसी हलचल होने लगी है। एक चुम्बकीय आकर्षण का वातावरण छाया-बनता जा रहा है। प्रत्येक वस्तु जैसे अपने ही प्रकाश से प्रकाशित हो रही है। उस को देखकर लगता है कि मानो अलग-अलग रंगीन फूलों के अभाव-से अलग-अलग वातावरण चारों ओर छा रहे हैं। उनके प्रत्येक अर्थ की छाया स्पष्ट रूप में अंय गहरे अर्थों को प्रगट करने वाली है। मेरे डैस्क पर जो अनेक ग्रन्थ रखे हैं, उनके महान लेखक जैसे अदृश्य रूप से मेरी इस समय की मानसिक क्रिया-प्रक्रियाओं के दर्शक और साक्षी बन रहे हैं। लगता है, जैसे सारा आकाश ही मेरे कमरे में उतर आया है। मेरा मन इस आकाशीय वायु के अहसास से सिहर-उठ रहा है।

विशेषः–कवि ने उत्प्रेक्षाओं का आश्रय लेकर मन के हल्केपन की उज्ज्वलता, अनुभूतियों की विविधता का बड़ा ही रोमानी वर्णन किया है। रहस्यमयता का आभास और विस्तार भी यहां अनुभव किया जा सकता है। एक ही ज्योति अलग परिवेशों में अलग महत्व रखने वाली हो गई है–इस अभिव्यक्ति में स्पष्टतः दार्शनिक रहस्यवादिता है।

उठता हूं, जाता हूं...यह उठी रह गयी। (पृ० २६७)

प्रसंगः–अपनी मानसिकता में घटित जीवन के सत्यों से साक्षात्कार कर प्रत्यक्ष जागृति की स्थिति में मनः प्रतिक्रियाएं व्यक्त करते हुए कविवर मुक्तिबोध कह रहे हैं :

व्याख्याः–प्रेम और अपनत्व की नवीन अनुभूति के नए प्रकाश से घिरकर मैं उठकर गैलरी में चला जाता हूं। वहां मुझे लोगों की भीड़ में, गलियों, सड़कों, रास्तों में सर्वत्र वही व्यक्ति दिखाई देने लगता है, जिसे मैंने अंतर्द्वन्द्व के क्षणों में मन की या चेतना की अंध गुफा में देखा था। उसे–अर्थात अपनी अंतश्चेतना के उस प्रत्यक्ष क्रान्तिकारी रूप को यों निहार मेरा दिल एक सुखद अनुभूति से भरकर धड़कने लगता है। उसे पुकारने के लिए मैं जैसे ही मुँह खोलने का प्रयास करता हूं कि देखते ही देखते वह युवकों के जन-समूह में कहीं खो जाता है। उसे पुकारने के लिए उठी मेरी बाहें उठी की उठी रह जाती हैं।

विशेषः–कवि अपनी आन्तरिक क्रान्तिकारी चेतनाओं एवं अनुभूतियों का सक्रिय जन-समुदाय में साक्षात्कार करने का ही यहां पर प्रयत्न करता हुआ दिखाई देता है।

अन खोजी निज...आत्म-सम्भवा। (पृ. २६७-६८)

शब्दार्थ–परम उत्कर्ष = चरम विकास। परम अभिव्यक्ति = श्रेष्ठ अभिव्यंजना। तड़ित्तरंगीय = बिजली की लहरें।

प्रसंग–प्रस्तुत पंक्तियाँ कविवर मुक्तिबोध की प्रसिद्ध रचना 'चांद का मुँह टेढ़ा है' में संकलित

'अंधेरे में' नामक लम्बी कविता के अंत से उद्धृत की गई हैं। इस कविता में कवि ने अपनी अंतश्चेतना में खण्ड-चित्रों के रूप में जीवन में घटित सत्य का, जीवन के यथार्थ का स्वरूप उकेरा है। जागृत एवं सचेतन स्थिति में भी कवि का मन मानवता के सत्य-स्वरूप को खोजने में ही निरन्तर प्रवृत्त है। उसी की सत्य अभिव्यक्ति को अपना परम कर्त्तव्य बताते हुए, प्रस्तुत प्रसंग में कवि कह रहा है :

व्याख्याः–चेतना का वह व्यक्तित्व जो अब जन-समुदाय में कहीं खो गया है, वह अभी तक खोजी-पायी न जा सकनेवाली मानवीय समृद्धि का चरम विकसित रूप और मेरी श्रेष्ठतम अभिव्यंजना का मूल आधार है। मैं उसी चेतनागत क्रान्तिधर्मा पुरुष का शिष्य हूं। वही मेरा एकमात्र गुरु है। इससे पहले वह मेरे पास कभी बैठना तो क्या आया तक भी नहीं था। अर्थात् आज तक मेरा अंतर्मन में उससे साक्षात्कार नहीं हो सका था, आज हो गया है। उसे पहले मैंने मन की अंधियारी जादुई गुफा में ही प्रथम एवं अन्तिम बार देखा था। पर आज मेरा मन इस सुखद अनुभूति से पूर्णतया भर उठा है कि मेरी अंतश्चेतना का वह क्रान्तिधर्मा व्यक्ति अपने फटेहाल में भी जगत-जीवन की गलियों में अपनी बात कहने के लिए निरन्तर घूमता रहता है। आज भी उसकी चाल में वही-पहले जैसी बिजली की तरंगों के समान गतिमयता है। ज्ञान के तनाव से अत्यधिक उद्विग्न, फटेहाल होते हुए भी सकर्मक मानवीय प्रेम की अधिकता से वह पूर्णतया परिपूरित है।

परम श्रेष्ठ अभिव्यक्तियों का वह क्रान्तिधर्मा स्वरूप संसार में पता नहीं कहाँ-कहाँ घूमता रहा करता है। इस समय वह जाने कहाँ है ? इसी कारण मैं अब प्रत्येक गली, सड़क और मकान पर झाँक-झाँक कर वह एक चेहरा खोजने-देखने का अनवरत प्रयास करता हूं। अपनी प्रत्येक गतिविधि में, वह प्रत्येक सही मनुष्य का चरित्र है। उसमें प्रत्येक मानवीय आत्मा का इतिहास अंतर्निहित है। उसी की सक्रियता में प्रत्येक देश की राजनीतिक परिस्थितियां और मानव जाति के स्वयं अनुभवों से प्राप्त आदर्श, सूझों भरी क्रिया-प्रक्रिया सक्रिया होकर, कार्य रूप में परिणत होती या हो रही है।

मेरी जागरूक चेतना ऐसे ही अंतश्चेतना के क्रांतिधर्मा व्यक्तित्व की तलाश पठारों, पहाड़ों, वनों, समुद्रों में चारों ओर कर रही है। कहीं भी, जहाँ वह मुझे प्राप्त हो सके। वह, जो, आत्मा में ही सम्भव हो सकने वाली मेरी श्रेष्ठ अभिव्यक्ति की अनिवार्यता खो गई है, खोजता हूं कि वह मुझे फिर से मिल सके।

विशेष–कवि यह व्यक्त करना चाहता है कि मुझे ऐसे सक्रिय व्यक्तियों की खोज है, जो जीवन के यथार्थ को समझ-पहचान उसे सच्ची अभिव्यक्ति दे सकें। सक्रिय होकर मानवता को जीवन की विद्रूप विषमताओं से अपनी क्रान्ति-धार्मिता के बल पर मुक्ति दिला सके।

कवि की अभिव्यक्ति अंतश्चेतना की सत्यता और दृढ़ता से आविल रहने के कारण बड़ी ही सजीव, तड़पन भरी एवं उत्प्रेरक है। जीवन के सत्य और क्रान्तिधर्मिता की सत्य अनुभूति एवं अभिव्यक्ति को ही कवि ने कलाकारों की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति स्वीकार किया है।

●●

जब प्रश्न-चिन्ह बौखला उठे

कविता परिचय–मुक्तिबोध का मत है कि जो साहित्य जनता की आशा-आकांक्षा, उसकी भूख-प्यास का चित्रण करे, जो उसे मुक्ति-पथ पर अग्रसर करने वाला हो, वह जनता का साहित्य कहा जाएगा। शोषण और सत्ता के घमण्ड को चूर करने वाला, स्वातंत्र्य के गीत गोंवाला प्राकृतिक शोभा और स्नेह के सुकुमार दृश्य प्रस्तुत करने वाला साहित्य भी जनता का साहित्य है। साधारण मेहनतकश या सामान्य जन के बारे में लिख देने मात्र से कोई साहित्य जनवादी नहीं हो जाता। उनके अनुसार जनवाद का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है और उसमें वे सभी लोग आ जाते हैं जो आज की वर्तमान व्यवस्था से असंतुष्ट हैं, शोषण के विरुद्ध हैं, स्वयं को शोषित अनुभव करते हैं और परिवर्तन के लिए तत्पर हैं।

मुक्तिबोध आत्म-मुक्ति से जन-मुक्ति की ओर अग्रसर होने वाले कवि हैं। वह काव्य को आत्मपरक से लोकपरक होने की सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार करते हैं इसके लिए वह आवश्यक मानते हैं कि कवि जनसाधारण की सक्रिय वेदना की ज्योति प्राप्त करे और इस ज्योति को पाने के लिए उसे उनके उद्धार-लक्ष्यों के साथ एकाकार होना पड़ेगा, उनके उद्धार-उपायों, उनकी मुक्ति के प्रयासों में ही वह व्यक्तित्व का वास्तविक विकास देखते हैं। इस प्रकार मुक्तिबोध आत्म-मुक्ति के मार्ग को जन-मुक्ति के मार्ग के साथ जोड़ते हैं। आत्मपरक से जनपरक होने की इस सांस्कृतिक प्रक्रिया का अत्यंत मार्मिक उद्घाटन उन्होंने अपनी कविता 'जब प्रश्न चिन्ह बौखला उठे' में किया है। इस कविता में उन्होंने अपनी संघर्षमय जीवन-यात्रा के दौरान, जन-उत्पीड़न की वास्तविक पीड़ा का साक्षात्कार किया है और अपनी पीड़ा को जन जीवन की पीड़ा के साथ एकाकार कर दिया है।

१. जीवन के प्रखर.....................................तमतमा उठे ! ! पृष्ठ(१७३)

शब्दार्थ–प्रखर=तीखे, कचोटने वाले। समर्थक-से=जीने की इच्छा, जीवित रहने की अनुकूल परिस्थितियाँ लाने का आग्रह करने वाले। प्रश्न चिन्ह=प्रश्न, शंकाएँ, जिज्ञासा। बौखला उठे=हृदय में मचलने लगे, उसे बेचैन करने लगे। दुर्निवार=जिनको टाला न जा सके, अदम्य, दुर्धर्ष। समुन्दर=तरल भावनाओं वाला हृदय, अंतस। रवि=ज्ञान का सूर्य। उद्भासित=चमकती, दीप्तियुक्त अंगारी। उत्तर=समस्याओं के समाधान जिनके पीछे संघर्ष की ज्वाला है, क्रान्ति की उत्कट भावना है, विध्वंसकार्य।

व्याख्या–कवि ने अपने चारों ओर समाज में शोषण, उत्पीड़न, अत्याचार देखा। उसका हृदय पीड़ा से भर उठा और वह उस दुरवस्था का कारण जानने के लिए बेचैन हो उठा। समाज-व्यवस्था, आर्थिक ढाँचा, राजनीतिक तंत्र को इसके लिए उत्तरदायी मानकर उसके मन में इन सबके प्रति तरह-तरह के प्रश्न, नाना प्रकार की जिज्ञासाएँ, संदेह और संशय उठ खड़े हुए। इन प्रश्नों के

उत्तर खोजने की प्रक्रिया में एक ओर उसका हृदय संवेदनशील हो उठा, उत्पीड़ितों तथा अंयाय पीड़ितों के प्रति सहानुभूति, दया, करुणा आदि कोमल भावों से भर उठा और दूसरी ओर उसे नई जानकारी प्राप्त हुई, शोषण-उत्पीड़न के लिए उत्तरदायी वास्तविक शक्तियों का पता लगा। उसके मन में ज्ञान का सूर्य उदय हुआ और जैसे सूर्योदय होते ही (अंधकार फट जाता है वैसे ही ज्ञान प्राप्त होने का) मोह, भ्रमजाल, अविवेक दूर हो गया। सूर्योदय होने पर समुद्र में उसका आलोक मण्डित बिम्ब पड़कर सम्पूर्ण प्राकृतिक दृश्य को मोहक, रमणीय बना देता है। सूर्य के प्रकाश में सब पदार्थ तेजोमय और भास्वर हो उठते हैं। उसी प्रकार जब कवि के हृदय में ज्ञान का उदय हुआ तो जो जिज्ञासाएँ उठी थीं, जो प्रश्न उसके मन को कुरेद रहे थे, जो शंकाएँ कचोट रही थीं, उन सबका उत्तर उसे मिल गया। पर यह प्रतिक्रिया शान्त, सौम्य, नम्र नहीं थीं। उसने अंयाय, उत्पीड़न, शोषण की शक्तियों को पहचान लिया था, उनके द्वारा फैलाए छल-फरेब के जाल को समझ लिया था, धर्म-नीति-आदर्श के नाम पर जनता को प्रवंचित करने का षड्यंत्र भाँप लिया था। अतः उसका मन आक्रोश से भर उठा, उसके मन में विक्षोभ, वितृष्णा, खीज की चिन्गारियाँ सुलगने लगीं, चटखने लगीं, अपनी ऊष्मा से उसको तिलमिलाती रहीं। जैसे बहुत दिन से सोया ज्वालामुखी जब यकायक जागता है तो पृथ्वी हिलने लगती है, भूचाल आ जाता है, उसी प्रकार कवि का मन दहल उठा, क्रोध वाष्प की तरह फूट पड़ा और वह ध्वंस करने के लिए उतावला हो उठा।

विशेष–(१) चाक्षुष बिम्ब है सूर्य की किरणों के सागर जल पर पड़ने तथा दूर-दूर तक फैली जलराशि को आलोक-मंडित करने का। (२) बौखला, झल्लाता, तमतमा आदि शब्दों के द्वारा मनःस्थिति का चित्रण बड़ा प्रभावशाली बन पड़ा है। (३) भाषा में भाव के अनुरूप तत्सम शब्दावली के साथ बोलचाल की भाषा के शब्द हैं। (४) बाह्य परिवेश और आन्तरिक मनःस्थिति का एकसाथ चित्रण करने की कला में मुक्तिबोध अद्वितीय हैं।

२. संघर्ष विचारों का लोहू ....लागी'। पृष्ठ (१७३)

शब्दार्थ–संघर्ष=आत्म-संघर्ष, अंतर्द्वन्द्व। विचारों का लहू=आत्मसंघर्ष से प्राप्त विचार सक्रिय वेदना जगों में वही कार्य करते हैं जो लहु धमनियों में बहकर उन्हें सक्रिय बनाने का कार्य करता है और जिसके कारण व्यक्ति सचेतन तथा क्रियाशील रहता है। पीड़ित विवेक=विवेक-पीड़ा, सक्रिय वेदना, वह वेदना या पीड़ा जो विवेक जागृत कर व्यक्ति को कर्मशील बनाती है। शिरा-शिरा=धमनियाँ। प्रदीप्त=जागृत, प्रज्वलित। वेदना यथार्थों की=वेदना-मंडित यथार्थ; वास्तविकता, यथार्थ जिसे देखकर पीड़ा उत्पन्न होती है। सुख-दुख के चरणों=दूसरों के सुख-दुख। पालागी=चरण-स्पर्श, अभिवादन।

व्याख्या–कवि आत्म-संघर्ष में लीन होता है, परिस्थितियों को नये सिरे से आँकता है, शोषण-उत्पीड़न देख उसकी पुरानी मान्यताएँ, धारणाएँ बदलती हैं। इससे आत्म-संघर्ष जन्म लेता है। यह आत्म-संघर्ष नए विचारों को जन्म देता है। जनता को पूँजीवादी शोषकों, अंयायी और अत्याचारी राजनेताओं तथा शासकों से संघर्ष करते देख, उन्हें कुचले और उत्पीड़ित होते देख वह दुखी होता है। यह वेदना उसे विवेक प्रदान करती है और यह विवेक उसे कर्मठ, कर्मशील होने को प्रेरित करता है। वह अकर्मण्यता त्याग, धर्म की अफ़ीम के नशे से जाग कुछ करने को तत्पर होता है। जैसे लहू धमनियों में प्रवाहित हो व्यक्ति की ज्ञानेन्द्रियों को कर्मशील बनाता है, उस

रक्त-प्रवाह की सहायता से वह देखता, सुनता, सूँघता, है, उसी प्रकार जब वेदना से विवेक जागृत होता है तो व्यक्ति कर्मशील बनता है, उत्पीड़न, शोषण, अंयाय-अत्याचार को निर्मूल करने के लिए कटिबद्ध होता है, कर्मक्षेत्र में कूद पड़ता है। पर पीड़ा को देख उसका हृदय द्रवित हो उठता है, वह उदार और विशाल हो जाता है। इस विवेक के क्षणों मे वह दूसरों के सुख को अपना सुख और दूसरों के दुःख को अपना दुःख समझने लगता है। उसके अपने सुख-दुःख जन-गण के सुख दुख से एकाकार हो उठते हैं।

विशेष–(१) मन की विशालता, उदारता, पर दुःख कातरता की स्थिति को मुक्तिबोध ने आत्मविगलन या आत्मविस्तार कहा है। यह अत्यन्त मानवीयं दशा है। जिसमें मन द्रवीभूत होकर जन को जन-जन का बना देता है। (२) विचारों··· जागी–रूपक अलंका (३) मेरे सुख ···पालागी–मानवीकरण अलंकार (४) 'पालागी' बोलचाल का शब्द है पर इसके प्रयोग ने अभिव्यक्ति को बहुत ही सशक्त बना दिया है। अंय किसी शब्द के द्वारा यह भाव इतने प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त नहीं हो सकता था। साथ में बिम्ब भी है।

३. कण्ठ में ज्ञान······························ भासमान छाया। पृष्ठ (१७३)

शब्दार्थ–ज्ञान-संवेदना=यथार्थ की जानकारी तथा कटु यथार्थ को जानने के बाद शोषितों, उत्पीड़ितों तथा अत्याचार के शिकार व्यक्तियों के प्रति सहानुभूति, करुणा, सहायता का भाव। काँटा-फँसा=काँटा फँसने पर जैसे गला अवरुद्ध हो जाता है और पीड़ा होती है। आसमान छाया=आकाश की तरह विशाल, व्यापक, उदार दृष्टिकोण। भासमान=चमकता हुआ, दीप्युिक्त।

व्यांख्या–समाज में व्याप्त उत्पीड़न, शोषण और अत्याचार देख तथा उस सब के लिए उत्तरदायी शक्तियों–सामन्तों, पूँजीपतियों, उद्योगपतियों शासकों को पहचानने के उपरान्त कवि को एक ओर कटु यथार्थ का ज्ञान होता है, सत्य से साक्षात्कार होता है, भ्रम टूटता है, भ्रान्त धारणाएँ नष्ट होती हैं और दूसरी और शोषितों, उत्पीड़ितों, सर्वहारा के प्रति दया, करुणा, सहानुभूति, उनके कष्ट दूर करने की इच्छा, उनके लिए कुछ करने की तमन्ना जागती है। इसका परिणाम होता है एक ओर मर्मान्तक पीड़ा जिसके फलस्वरूप वह स्वयं को कुछ कहने में असमर्थ पाता है, अश्रुविगलित हो उठता, दिल पिघलने लगता है, आँसू बहने लगते हैं। दूसरी ओर उसकी संकीर्णता, स्व-लीनता, आत्मकेन्द्रित भाव, स्वार्थ लुप्त होने लगता है। वह विशाल हृदय, उदार, सहानुभूतिप्रवण, संवेदनशील और पर दुःखकातर हो उठता है। वह स्वयं को जन-जन की पीड़ा से क्षुब्ध एवं त्रस्त अनुभव करता है। उसे ऐसा लगता है कि पर पीड़ा की अनुभूति ने उसके हृदय को आकाश की तरह विशाल और व्यापक बना दिया है और उसके हृदयाकाश में ज्ञान का सूरज उग आया है, वह सबको अपना आत्मीय मानता है, उसके हृदय से स्नेह का सोता फूटकर सबको स्नेहासिक्त कर देता है। वह सबमें अपने को और अपने में सबको देखता है। अपने-पराये का भेद मिट जाता है, स्व-पर के बंधन टूट जाते हैं, वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना जन्म लेती है। पीड़ा, स्वार्थपरता, क्षोभ, निराशा का अंधकार फट जाता है, आशा, उल्लास एवं सहृदयता का सूरज उगता है और प्राण-पक्षी चहचहाने लगते हैं, वातावरण संगीतमय हो उठता है। उषा सुनहले तरि बरसाती जय लक्ष्मी से प्रकट होकर सबको हर्षमग्न कर देती है।

विशेष–(१) कण्ठ..फंसा=रूपक अलंकार

(२) मुक्तिबोध के काव्य में सूरज, चमकीले पत्थर, दीप्तिमय मार्ग ज्ञानात्मक संवेदन के प्रतीक हैं।

४. झुरमुट-झुरमुट वह नीम...............दिल में फूल हुए। पृष्ट (१७३-१७४)

शब्दार्थ–निहार=देखकर। ज्वालाओं=जन-संघर्ष के पथ पर चलते हुए जो कष्ट सहे, जो पीड़ा झेली। निर्धरिणी=झरने। छन्द=गीत, हृदय का संगीत, हृदय का हर्षोल्लास। पावन=पवित्र। धूल=चरण-धूलि। तुलसी=तुलसी का पौधा जो पवित्र माना जाता है। सरसायी=प्रवाहित की।

व्याख्या–आत्म-द्रवण, स्व के पर में विलय होने, जन-जन के सुख दुःखों से एकाकार होने की इस घड़ी में कवि को जो आह्लाद प्राप्त हुआ, जो मनःस्थिति हुई उसका चित्रण करते हुए कवि लिखता है–

स्व का अंयीकरण या समाजीकरण होने पर, मन के उदार, व्यापक और विशाल होने पर, जन जीवन के व्यापक स्तर का स्पर्श करने पर, आत्मपक्ष के लोकपक्ष में तल्लीन होने पर कवि के हृदय में जो उल्लास, हर्ष, स्फूर्ति जनम लेते हैं उसके कारण उसे ऐसा लगता है जैसे प्रकृति मुस्कुरा रही है, वृक्ष, लताएँ, वल्लरियाँ अपना हर्ष प्रकट करने के लिए झूम रही हैं, नृत्य कर रही हैं–नीम हँस रहा है, मुस्करा रहा है, पक्षी कलरव कर रहे हैं, एक डाल से दूसरी डाल पर फुदकते हैं। परिवार, पुरजन, परिजन के साथ सौहार्द्र अनुभव होता है, मानवी-सामाजिक सम्बंधों में विस्तार होता है। उस सदाशयता के क्षण में, 'जन' की भावनाओं के कोमल की स्थिति में सब लोग अपने लगने लगते हैं, भाषा, धर्म, सम्प्रदाय की दीवारें टूटने लगती हैं। जो प्रसन्नता विदेश में मातृभाषा बोलने वाले को देख-सुन होती है वैसी ही अनुभूति होने लगती है। बहुओं की चूड़ियों की खनक, कंगन के संगीतपूर्ण स्वर घर-आंगन में उत्सव का माहौल पैदा करते हैं, उन्हें सुन घर-भर में हर्षोल्लास, समारोह-उत्सव की चहल-पहल की अनुभूति होती है, वैसी ही अनुभूति आत्म-विस्तार के क्षणों में व्यक्ति को होती है।

अपने संकीर्ण विचारों को त्याग, आत्मकेंद्रित खोल से निकलकर जब व्यक्ति खुले में साँस लेता है, पर दुख को अपनी पीड़ा समझता है तो वह जन-संघर्ष में कूद पड़ता है, क्रान्ति के पथ पर चल पड़ता है, उस मार्ग की लपटें, ज्वालाएँ, कष्ट उसे घेर लेते हैं पर वह उनकी चिन्ता न कर जूझता है, शोषकों तथा उत्पीड़कों से लोहा लेता है। उसके त्याग, बलिदान और संघर्ष से शोषकों की शक्ति क्षीण होती है, शोषितों का हौंसला बढ़ता है, सामान्य उत्पीड़ित घर-गृहस्थों में नई आशा की किरण उगती है, माँए, बहिनें अत्याचारमुक्त होती हैं, अपना सुहाग सुरक्षित देख वे मुस्कुराती हैं, सजती-सजाती हैं और इस प्रकार अपना हर्ष प्रकट करती हैं। क्रान्तिकारी भी इन माँ-बहनों को सुखी देख मन ही मन हर्षित-उल्लसित होता है। जैसे निर्झरों, नदियों का जल प्यासों की तृषा बुझाता है, प्यासे, सूखे खेतों को जल से प्लावित कर अंन-वनस्पतियों से प्रदेश को हरा-भरा कर देता है और इस प्रकार सबको सुखी करता है। इसी प्रकार शोषण-उत्पीड़न समाप्त होने पर, सर्वहारा के अधिकार पाने और आजीविका के साधन उपलब्ध होने पर घरों में लक्ष्मी बरसती है, अभाव दूर होते हैं, समृद्धि आती है और घर-परिवार के सब सदस्य भरे पेट, ढके तन तथा स्वच्छ आवासों में रह अपना हर्ष प्रकट करते हैं।

कवि के संवेदनशील प्राण, हृदय की करुणा, आसुँओं से भीगी आँखें गीत लिखते हैं। इन गीतों में कोमल भाव होते हैं, बड़ों के प्रति सम्मान, आदर, मुद्रा, आत्मीयता के भाव होते हैं। अतः इन गीतों में पढ़ने-सुनने वाले के कलुषित भावों को दूर कर उन्हें पवित्र बनाने की शक्ति होती है। जैसे कोई बूढ़े पिता के चरणों की पावन धूलि सिर पर लगा पवित्र हो उठता है, उसी प्रकार ये संवेदनप्रवण गीत पावक-श्रोता को पवित्र भावों से अभिमंडित कर देते है। जैसे तुलसी की मंजरी अपनी सुगंधी से चारों ओर के परिवेश को सुरभित कर देती है, उसकी महक नथुनों में भर मन-प्राणों को प्रमुदित कर देती है, उसी प्रकार ये गीत भी सबको अपना पिता, अपनी बहिन, अपना भाई मानकर उनसे आत्मीयता जोड़ने की प्रेरणा देते हैं संसार के सभी व्यक्तियों से भाई-बहिन का संबंध स्थापित करने का भाव पैदा करते हैं —सबको हर्षित करते हैं। समाज में एक-दूसरे के प्रति सद्भाव जगों, रुझान करने, स्नेह लुटाने और संकीर्णता त्याग व्यापक दृष्टि अपनाने का आह्वान करते हैं।

विशेष–(१) स्व के अंयीकरण या समाजीकरण की स्थिति को मुक्तिबोध ने 'सहानुभूतिशील कल्पना और कल्पनाशील अनुभूति' कहा है। यह प्रसरणशील कल्पना एक नया जीवन-विधान करती हैं, जीवन की पुनर्रचना करती है।

(२) माँ-बाप, भाई-बहन, साथी-संगी, पुरजन-परिजन के बीच संबंध ही मानवी-सामाजिक संबंधों के मानवीय आशय और महत्त्व के ज्ञान की दीक्षा देते हैं, संस्कार प्रदान करते हैं। इनसे विच्छिन्न होकर व्यक्ति अलगाव, परायापन, व्यर्थता, हताशा का अनुभव करता है और भटक जाता है।

५. अपने समुन्दरों के .... हिय में सरसायी। पृष्ठ १७४

शब्दार्थ–विभोर=हर्षमग्न। जन-संघर्षों=अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए जनता द्वारा किए गये संघर्ष।

व्याख्या–जब भारत की जनता ने अपने अधिकार पाने, शोषण और उत्पीड़न समाप्त करने के लिए संघर्ष किया तो जनता के उस संघर्ष का अभिनन्दन करने के लिए, उसे और अधिक प्रेरणा तथा स्फूर्ति प्रदान करने के लिए प्रकृति ने भी उसमें सहयोग दिया।

भारत के समुद्रों ने अपनी उत्ताल लहरों के गंभीर घोष द्वारा अपनी प्रसन्नता प्रकट की। उसके संगीत स्वरों के माध्यम से मानों भारत ही अपना हर्ष प्रकट कर रहा था। अपना उल्लास और उन्माद अभिव्यक्त कर रहा था। घरों, खेतों की भेड़ों और चौपालों में लगे नीम के पेड़ क्रान्तिकारियों के स्वागत में सोंधी-सोंधी सुगन्ध वाली मंजरियाँ बरसाने लगें, नीम की निबोरियाँ बरसने लगीं, वातावरण स्वच्छ, स्वस्थ और सुरभिपूर्ण हो उठा। आकाश में चमकती बिजली की चमक, कौंध और प्रकाश भी संघर्षरत प्राणियों को उसी प्रकार शक्ति, साहस और प्रेरणा देने लगे जैसे वीर क्षत्राणियाँ अपने भाइयों को युद्धक्षेत्र में प्रयाण करने से पूर्व उनका मंगल-तिलक कर उन्हें जूझ मरने को प्रोत्साहित करती थीं, उनकी विजय की शुभ कामनाएँ करती थीं और इस प्रकार उनमें नवस्फूर्ति भर देती थीं। सारांश यह कि इन संघर्ष करने वाले लोगों को संघर्ष के लिए तत्पर देख प्रकृति और देशवासी सभी हर्षित हो उठे, सबने उनका अभिनन्दन किया सभी उनके हृदय में स्फूर्ति का संचार किया।

विशेष–(१) मानवीकरण अलंकार। प्रकृति के पदार्थों को मानव की तरह आचरण करते

दिखाया है।

(२) मुक्तिबोध शब्दों के चयन में केवल एक बात का ध्यान रखते हैं कि शब्द में भाव को संप्रेषित करने की शक्ति हो फिर चाहे वह उर्दू का, मराठी का या ग्रामीण बोली का ही शब्द क्यों न हो।

६. घर घर .... मुझ पर बरसाया। पृष्ठ (१७४)

शब्दार्थ–सजल अंधेरा=झीना अंधकार, घटाटोप अंधकार नहीं, तरल अंधकार।

व्याख्या–संघर्षरत शोषितों तथा उत्पीड़ितों की कोमल भावनाओं, तरल संवेदनाओं से राजनीतिक-आर्थिक-सामाजिक क्षेत्र को ही कोमल नहीं बनाया, उसमें व ल तथा पावन भावों को अंकुरित नहीं किया; उनकी फसल नहीं उगायी, अपितु प्रकृति को भी प्रभावित किया। प्रकृति भी अपना उग्र, रौद्र एवं विनाशकारी स्वरूप तथा कार्यकलाप त्याग कर कोमल एव मंगलमय कार्यों में संलग्न हो गयी। मेघ आकाश में छाये पर उन्होंने न तो घटाटोप अंधकार फैलाकर यात्रियों को असुविधा और कष्ट दिये और न मूसलाधार वर्षा से खेतों, खलिहानों, घर-गृहस्थीवालों के लिए विनाशलीला उत्पन्न की। इसके विपरीत संघर्ष के मार्ग पर चलनेवालों की यात्रा को, संघर्ष को सुविधापूर्ण, सुखद बनाने के लिए उनकी हल्की फुहारों ने, प्राणदायक, शीतल पवन के झौकों ने उनमें साहस, स्फूर्ति और नये उत्साह का संचार किया। इन संघर्ष करने वालों का मार्ग सुगम-सुखद हो गया, युग-चेतना उत्पन्न हुई, युग-बोध जागा और जीवन का एक नया अध्याय आरंभ हुआ। कवियों तथा साहित्यकारों के हृदय भी संवेदनशील हो उठे। जैसे आँसू भरा चुम्बन का स्पर्श पाकर व्यक्ति कोमल हो उठता है, उसके मन में करुणा एवं प्रेम के भाव एकसाथ उमड़ते हैं, इसी प्रकार क्रान्तिकारियों, संघर्षरत सर्वहारा के सद्भावों, त्याग, बलिदान के कृत्यों तथा कोमल संवदेनशील प्राणों की ऊर्जा को देख सर्जक साहित्यकार के मन में भी नए भाव, नई शक्ति तथा नयी कार्य-प्रेरणा जागी। कवियों का व्यक्तित्वान्तरण होने लगा।

विशेष–(१) यहाँ क्रम उलट गया है, प्रकृति से उपदेश ग्रहण करने तथा प्रेरणा पाने की बजाय प्रकृति स्वयं उपेदश ग्रहण करती दिखायी गयी है। (२) आँसु से भरा चुम्बन–करुणा और स्नेह का सम्मिलित भाव।

७. जिन्दगी नशा .... मेरे भीतर। पृष्ठ (१७५)

शब्दार्थ–नववधुका=नव विवाहिता दुल्हन। हृदय-दान=दूसरों के प्रति संवेदनशील होना।

व्याख्या–विश्व मानवता या व्यापक जनजीवन के साथ अपने को तदाकार करने की स्थिति में, व्यक्ति का मन अपार उल्लास और हर्ष से भर उठता है। वह आत्मविभोर हो उठता है उसे सब कुछ अपना लगता है, वह सबके हित में अपना हित देखता है, सबकी खुशी में उसे खुशी होती है। उसे जिन्दगी नववधू जैसी आकर्षक, मोहक और लुभावनी प्रतीत होती है उसे जिन्दगी से लगाव हो जाता है। वह जीवन का स्वागत उसी उत्साह एवं उमंग से करता है जैसे नववधू का किया जाता है। उसे प्रत्येक अनुभूति मादक और मोहमयी प्रतीत होती है, जीवन का प्रत्येक क्षण सुन्दर लगता है। काम करने की धुन, विश्व का कल्याण करने की लगन, मानवता को उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित करने की लौ के कारण वह हर समय काम में डूबा रहता है, एकाग्र चित्त हो उपने लक्ष्य की ओर बढ़ता है। लगता है उस पर काम का नशा छा गया है। जिन्दगी में यह रुचि,

जिन्दगी के प्रति यह लगाव कवि को उन लोगों के जीवन से जोड़ देता है, उनके घनिष्ठ संपर्क में ला बिठाता है, उनकी जिन्दगी की ओर ले जाता है जो मानवजाति के उत्थान के लिए उसके मानवी-सामाजिक विकास के लिए कार्य करते हैं, मानव मंगल के कार्यों का नेतृत्व करते हैं, मानव जीवन की नौका के खिवैया होते हैं। ऐसे लोग अगरबत्ती की तरह स्वयं को जलाते हैं, मानव मात्र की व्यथा में घुलते हैं और स्वयं अपना सर्वस्व न्यौछावर कर, आत्म-त्याग और उत्सर्ग द्वारा मानव मात्र का कल्याण करते हैं, इस दुनिया को विकास के मार्ग पर अग्रसर करते हैं, इस संसार को पहले से अधिक रहने योग्य बनाते हैं। उनके ऐसे उदात्त, परहित और कल्याण-कार्यों को देख कवि उल्लास से भर उठता है, आनन्द विभोर हो उठता है, मस्ती में डूबने लगता है। अपने जन-सेवा कार्यों को करने के लिए उसका उत्साह पहले से भी अधिक बढ़ जाता है, वह आकुल-व्याकुल रहता है कि कब कोई अवसर मिले और वह आत्मदान कर जनता का कल्याण करे, उनका दुःख-दर्द दूर करे। ऐसे क्षण को, इस अनुभूति की मंगलमयी बेला को, इस शुभ मुहूर्त को कवि हृदय-दान की बेला कहता है।

विशेष–(१) कवि का स्पष्ट मत है कि जो मानवहित और कल्याण कार्यों से अपने को नहीं जोड़ता, वह भले ही उदात्त विचारों वाला महान दार्शनिक और चिन्तक हो वस्तुत अलगाव, व्यर्थता, हताशा, ग्लानी आदि विकृतियों के थूहर-जंगल में भटक जाता है, संस्कृति-शून्य बन जाता है, झूठी कास्योपालिटन भावधारा को विकसित करता है। (२) अपनी पुस्तक नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र में मुक्तिबोध लिखते हैं, "असलियत तो यह है कि जिस मन की अंतर्मुखता जन-मन की भावनाओं में भीगी हुई है, उसके क्षोभों और दोहों में सबल हुई है, पीड़ित मानवता का मर्मज्ञ वह हृदय जनता से छिटककर 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य' और 'अहं' के काफे-हाउस में यूरोपीय और भारतीय संस्कृति की गप्प नहीं लड़ा सकता··· हमारे गरीब मध्यवर्गीय युवक को इन नखरों से सावधान रहना होगा। अपनी कविता की पुष्टि के लिए उसे अपने मूल उद्वेगों के स्थिति-परिस्थिति गत स्रोतों का पता लगाा होगा और परिस्थितियों को दूर करने के लिए, उसे सही और निर्णयात्मक कदम बढ़ाने होंगे, उसे अपने माता-पिता की याद करनी होगी जिन्होंने शक्ति दी, किन्तु सुख नहीं दिया। अपने कष्ट ग्रस्त माता-पिता, भाई-बहनों, संगी-साथियों के सजल आन्तरिक आशीर्वाद से पुष्ट इस गरीब मध्यवर्गीय कविता का प्रधान सेंटीमेंट जनतांत्रिक ही रहेगा, चाहे उसका विषय शृंगार ही क्यों न हो . . . उसकी करुणा, दया, प्रेम में यही सार्वजनिक मानवीयता काम करेगी।"

८. जिनके स्वभाव के गंगा जल ························ मेरे भीतर। पृष्ठ (१७५)

शब्दार्थ–पूत=पवित्र। कल्याण-व्यथा=कल्याण के कार्य करते हुए, जनता का हित करते हुए उनका कष्ट सहना, पीड़ा भोगना। दुर्दान्त=असीम वेग वाला, अदम्य।

व्याख्या–जनता के लिए मर मिटने वालों, जन हित के कार्यों में व्यस्त रहनेवालों का चरित्र और आचरण गंगा जल की तरह पावन होता है, अधर्मी और पापी भी उनके भाव, विचार, कार्य, आदर्श देख सन्मार्ग पर चलने की, पुण्य कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त करते हैं। ऐसे लोग एक युग में नहीं प्रत्येक युग में होते हैं और अपने सद्कर्मों से केवल अपने युग के समाज का ही उद्धार नहीं करते, आगे आंने वाले युगों के लिए भी मशाल का काम करते हैं, मार्गदर्शन कर इतिहास में अमर हो जाते हैं। भारत ऐसे महापुरुषों को जन्म देता रहा है। इतिहास और पुराण ग्रन्थ इन

महापुरुषों से भरे पड़े हैं। जनश्रुतियों में ऐसे अनेक नाम पाये जाते हैं। ऐसे महापुरुषों के कारण ही भारत का इतिहास उज्ज्वल है और भारतवासी उस पर गर्व करते हैं, उसे प्यार करते हैं। ये लोग पर-पीड़ा से दुःखी होते हुए, उनके हित की चिन्ता में घुलते रहे, उनको सुखी बनाने के लिए इन्होंने अपार कष्ट झेले, सारी जिन्दगी चौपट की और परिश्रम, त्याग, बलिदान कर अपने कर्मठ चरित्र द्वारा संसार का बेड़ा पार किया, लोगों को कष्ट-मुक्त किया। ये लोग प्रातः स्मरणीय हैं, उनके पावन चरणों की धूलि मस्तक पर लगाा परम सौभाग्य है, उनके सम्पर्क में रहने से पापियों का पाप धुल जाता है, दुष्ट सुधर जाते हैं अतः पावन चरणों में अपनी सौ-सौ जिन्दगियों को उल्लसित मन से न्यौछावर किया जा सकता है। यह स्थिति व्यक्ति की वास्तविक मुक्ति की स्थिति है, यही उसका व्यक्तित्वान्तरण है। इस मनः स्थिति में कवि अनुभव करता है कि जनता की शक्ति उसमें सिमट कर आ गयी है और वह उस जनशक्ति के सहारे दुर्गम पथ पर चल सकता है, कठिन से कठिन अग्नि परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकता है और संसार के लिए मर-मिट सकता है।

विशेष–यही मनोदशा है जिसे मुक्तिबोध व्यक्ति की वास्तविक मुक्ति का प्रस्थान-बिन्दु कहते हैं। हम मुक्ति के संबंध में वह 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अंय निबंध' में लिखते हैं, "मेरा अपना ख्याल है प्रत्येक आत्मचेतस्र व्यक्ति को अपनी मुक्ति की खोज होती है और वह किसी व्यापकतर सत्ता में विलीन होने में ही अपनी सार्थकता समझता है। किन्तु आज की दुनिया में यह व्यापकतर सत्ता विश्व मानवता तथा तत्संबंधी मूर्तिमान समस्याएँ और प्रश्न ही हो सकते हैं। अतएव प्रत्येक लेखक, एक विशेष अर्थ में इसी उच्चतर सत्ता में केवल विलीन ही नहीं होता, वरन वहाँ विलीन होकर क्रियाशील हो उठता है—तत्स्थानीय, तत्क्षेत्रीय सारे भूगोल इतिहास का आकलन करके। संक्षेप में, मुक्ति व्यापक तथा व्यापकतर क्रियाशीलता का दूसरा नाम है।

९. उनकी वाहों को .... अपने भीतर। (पृष्ठ १७५)

व्याख्या–जब कवि विश्व मानवता या व्यापक जन जीवन के साथ स्वयं को एकाकार अनुभव करता है तो उसे लगता है लाखों-करोड़ों श्रमजीवियों, संघर्षरत उत्पीड़ितों की भुजाओं का बल उसके साथ है, वह अकेला नहीं है। वह उनका स्वागत करता है, उन्हें अपना आत्मीय मानता है, उनकी भुजाएँ उसे वरमाला की सुखानुभूति प्रदान करती हैं। वह उनकी शक्ति, उनका धैर्य, उनकी हिम्मत, उनका पुरुषार्थ अपनी संघर्ष-शक्ति का ही अंग मानकर दुगने-चौगुने उत्साह से संघर्ष में जुट जाता है।

१०. कल्याणमयी करुणाओं .... उनके ही तो। (पृष्ठ १७६)

शब्दार्थ–सहजोत्सर्गमर्या=सहज ही बलिदान करने को तत्पर।

व्याख्या–व्यापक जनजीवन के साथ स्वयं को एकाकार अनुभव करने की मनोदशा में कवि को लगता है जैसे किसी ने उसके हृदय-पटल पर सैकड़ों-हजारों दुःखी जनों, उत्पीड़ितों एवं शोषितों की करुण जीवन गाथा, उनके द्वारा सहे गये कष्टों के विभिन्न चित्र अंकित कर दिये हों। साथ ही वह प्रभावित हुआ है उन शोषितों के हृदय-स्थित सद्भावों, कोमल संवेदनों तथा पर हित की कामनाओं से, उनकी त्याग और बलिदान के लिए तत्परता से। उनकी ये कोमल मूर्तियाँ, मंगलमय चित्र, मानवतावादी भाव उसके चित्त पर स्थायी रूप से अंकित हो गये और वह अब सदा उनके हीं विषय में सोचता रहता है, स्वयं को उनसे अलग करने में असमर्थ पाता है। जैसे मांस-पेशी

में विंधा काँटा भीतर तक घुसने के बाद सहज ही नहीं निकल पाता, वैसे ही इन उत्पीड़ितों की संवेदनशील छवि कवि के मन-मुकुर में भीतर तक घुस गयी है, लाख उपाय करने पर भी नहीं निकल पाती।

विशेष–जो बात कविवर रत्नाकर की गोपियाँ कृष्ण की मूर्ति के विषय में कहती हैं, वही बात मुक्तिबोध उत्पीड़ितों और व्यापक जन चेतना वाले संघर्षरत व्यक्तियों के विषय में कहते हैं। एक सगुण भक्त कवि है दूसरा जनता को जनार्दन मानकर उसी को अपना सर्वस्व मानता है।

११. यादें उनकी .... लाल कन्देर खिली। (पृष्ठ १७६)

शब्दार्थ–रूधिराक्त प्राण=शोषण के तीरों से विंधे लहु-लुहान प्राण। दुर्दान्त=भयानक, अत्यन्त कष्ट दायक। लाल=क्रान्ति का प्रतीक रंग। अलकों=केशों।

व्याख्या–व्यक्तित्वान्तर होने के उपरान्त, व्यापक जन-चेतना से एकाकार होने के बाद, जनता-जनार्दन की सेवा में तत्पर होने का संकल्प लेने के पश्चात् कवि को उत्पीड़ितों और शोषितों पर ढाये गये जुल्मों की अनेक कहानियाँ याद आती हैं, उनके ऊपर होने वाले अत्याचारों के विभिन्न लोमहर्षक दृश्य उसके नेत्रों में उमड़ने-घुमड़ने लगते हैं। कभी उनका लोहु-लुहान शरीर कौंधता है, कभी संध्या के समय होने वाले उत्पीड़न का दृश्य याद आता है, कभी पल-पल कष्ट में बीतती लंबी रात में सुनाई देने वाली कराहें, आर्तनाद एवं रूदन के दर्दभरे स्वर याद आते हैं। ये करुणाभरी स्मृतियाँ उसके हृदय को बेचैन कर देती हैं और फिर जब यह बेचैनी असह्य हो उठती है तो गीतों में फूट पड़ती है, कविता का जन्म होता है और अपनी व्यथा को काव्य में अभिव्यक्त करने में उसे राहत मिलती है, हृदय का बोझ हल्का हो जाता है। जैसे बहुत दिन से बिछुड़े व्यक्ति के घर लौटने का समाचार पाकर (भले ही वह देर से आये) हृदय की कली खिल उठती है, उसी प्रकार कवि शोषितों-उत्पीड़ितों की व्यथा-कथा कहकर कुछ राहत पाता है, उमड़ता-घुमड़ता उसका भाव-वाष्प बाहर निकल कर उसे बेचैन कर देता है। जनवादी चेतना जिसका आधार, स्वरूप और मूल प्रकृति वामपंथी वर्ग-चेतना है, जो लाल क्रान्ति से जुड़ी है, जो संघर्ष में रक्तपात को बुरा नहीं मानती, कवि के मन में उफनती है, उबलती है। जैसे सुन्दरी की काली-श्यामल अलकों में बंधी कनेर की लाल कली उनकी शोभा बढ़ाती है इसी प्रकार क्रान्ति के विचारों की लहर ने समाज को एक नयी दीप्ति प्रदान की है और कवि उसका बड़े हर्ष एवं उत्साह से स्वागत करता है।

विशेष–(१) भावों के उमड़ने-घुमड़ने पर ही कविता जन्म लेती है, इस बात को प्रसाद ने भी 'आंसू' काव्य के आरंभ में कहा है–जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृतिं सी छाई, दुर्दिन में आंसू बनकर वह आज बरसने आयी।

(२) क्रान्ति''खिली–चाक्षुष बिम्ब है।

१२. भूखे चूल्हे .... प्रातःकालीन हवाओं पे। (पृष्ठ १७६-१७७)

शब्दार्थ–विलय=समा जाना, रम जाना। दुर्दम=जिसे रोका न जा सके। चम्पा=कोमल संवेदनाएँ। गदरायी=पुष्ट हुई। खण्डहर मकान=धूल-धूसरित, भग्न, टूटे, निराशापूर्ण हृदय। फूल=कोमल भाव।

व्याख्या–वर्गीय विषमता से ग्रस्त समाज में यह वर्ग चेतना कवि को वास्तविक जन-गण के निकट ले जाती है। जनता से एकात्म करते हुए उसे यह समझ, यह विवेक देती है कि जनता

ही उसकी शक्ति है। जनता की जिन्दगी, उसकी भूख-प्यास, आशा-आकांक्षा आदि मात्र उसके लेखन का विषय ही नहीं है वरन् वही उसकी अपनी वास्तविक आशा-आकांक्षा भी है। एक ओर वह भूखे-प्यासे लोगों के कष्टों से द्रवित होता है, दूसरी ओर उन्हें रोटी पकाते-खाते देख हर्षित हो उठता है। स्वातंत्र्य प्राप्ति तथा शोषण-उत्पीड़न को समाप्त करने में तत्पर संघर्षरत जनता और उस संघर्ष में प्राणों की बलि चढ़ाने वाले शहीदों के अन्तिम शब्दों में डूब कर वह उनकी भावनाओं से इतना तद्रूप हो उठता है कि उसकी लेखनी चल पड़ती है और वह जनता का साहित्य लिखता है, क्रान्ति का आह्वान करने वाले गति फूट पड़ते हैं और इस उद्बोधन भरे साहित्य का प्रभाव पड़ता है, समाज जागता है, लम्बी नींद टूटती है और कर्मक्षेत्र सक्रिय हो उठता है। जो जन-चेतना दुर्बल थी, पंगु थी, मूक थी वह सशक्त हो उठती है, वाचाल हो उठती है। लोगों को क्रान्ति के नारे सुनाई देते हैं, उनका साहस-हिम्मत बढ़ती है। वे कुछ करने के लिए उतावले हो उठते हैं। संघर्ष उन्हें नई शक्ति और स्फूर्ति प्रदान करता है। जो हृदय अभी तक निराश, हताश थे ; भाग्यवाद ने जिन चिन्गारियों को भड़कने-प्रज्वलित होने से दबा रखा था, वे हृदय खिल उठे, वे सुषुप्त चिन्गारियाँ सुलग उठीं। सर्वत्र एक नई आशा, नया उत्साह, नयी स्फूर्त्ति दिखाई देने लगी आभिजात्य साहित्य ही नहीं लोक साहित्य विशेषतः लोक गीत—चक्की के गीत, पनघट के गीत, झूले के गीत सभी में क्रान्ति के स्वर सुनाई देने लगे ; बच्चे, स्त्रियाँ युवक सभी जीवन-संघर्ष में कूदने का आह्वान देने लगे। जिन्होंने देश के मंगल और कल्याण के सुनहरी सपने देखे थे, आशा बाँधी थी उन्हें लगा कि अब वे सपने शीघ्र ही साकार होंगे, आशा पूरी होगी, उत्पीड़न-शोषण समाप्त होगा। वर्गहीन समाज की स्थापना होगी—सभी प्रकार के भेद-भाव समाप्त होंगे। प्रातःकाल पनघट पर एकत्र स्त्रियों ने जब चक्की के गीत सुने तो उनके हृदय भी उत्फुल्ल हो उठे, उनके चित्त में भी एक नई लहर दौड़ी। इस प्रकार चक्की से लेकर पनघट तक के गीतों में क्रान्ति के स्वर भर उठे और उन सजीले, सुन्दर, कोमल गीतों ने सबको हर्षोल्लास से भर दिया।

विशेष–(१) मुक्तिबोध के काव्य में प्रकृति का सौन्दर्य तो है पर वह अभिजात्य, उदात्त सौन्दर्य न होकर सामान्य प्रकृति का—खेत-खलिहान, चक्की, पनघट प्रातःकाल की स्वच्छ, स्वस्थ हवा का सौन्दर्य है, अतः उसमें कालिदास के प्रकृति-चित्रण की भव्यता भले ही न हो सामान्य जन को मुग्ध करने की शक्ति अवश्य है क्योंकि वह उनकी अपनी जानी-पहचनी देखी-सुनी प्रकृति है।

१३. सूरज का लाल-लाल .... वे हैं पीछे। (पृष्ठ १७७)

शब्दार्थ–आसक्ति-भरा=प्रेम भरा। मेधा=प्रतिभा, बुद्धि। दावाग्नि=जंगल की आग। विश्वजीत=संसार को जीतने वाली।

व्याख्या–क्रान्ति का सूर्य उदय हुआ। उसकी तेजोमयी, दीप्तियुक्त किरणों से अग-जग भर उठा। पृथ्वी पर सर्वत्र क्रान्ति की लपटें फैलने लगीं। उस क्रान्ति ने सब लोगों को मुग्ध कर लिया क्योंकि वे जानते थे कि इस क्रान्ति के प्रारंभिक रक्त-पात के बाद सुख-शान्ति की वर्षा होगी, वर्गहीन समाज में जाति-धर्म-अर्थ-ऊँच-नीच के आधार पर वैषम्य नहीं होगा। जैसे जंगल में आग लगने पर उसकी लपटें चारों ओर फैलने लगती हैं, सारा जंगल उसकी लपेट में आकर धू-धू जलने लगता है वैसे ही जब क्रान्ति के विचार फैले, क्रान्ति ने जन्म लिया, शोषकों और अत्याचारियों के विरुद्ध संघर्ष होने लगा तो वह क्रान्ति विश्व-भर में फैल गयी। संसार को कोई भी देश, कोई

भी जन-समूह उसकी लपटों से अप्रभावित नहीं रहा। गरीब और अमीर, शक्ति-सम्पन्न और दुर्बल, पूँजीपति और वामपंथी सभी देश, सभी जन-समूह उस क्रान्ति से प्रभावित हुए। पुराने, सड़े-गले, रूढ़िग्रस्त दकियानूसी विचार ध्वस्त हुए, प्राचीन जीवन-पद्धति बदलने लगी और नयी विचारधारा, नई जीवन-दृष्टि ने सब कुछ पुराना, अनुपयोगी, भ्रष्ट और प्रतिगामी नष्ट कर डाला। जिन नवयुवकों ने पहल की, वामपंथी या मार्क्सवादी विचारधारा फैलायी, क्रान्ति के अगुआ बने और इस रूस में जन्मी क्रान्ति को विश्वव्यापी बना दिया, उन्हें इतिहास सदा स्मरण रखेगा, उन्हें नया इतिहास बनाने वालों के रूप में याद किया जाएगा। वे चिन्तक, नयी विचारधारा को जन्म देने वाले, मेघावी तथा अपार शक्ति के भंडार कहे जायेंगे। सदा सोचने-विचारने, गंभीर चिन्तन-मनन करने के कारण उनकी भौंहें झुकी होंगी, माथे पर वक्र लकीरें होंगी और उनके चरणों में तीव्र गति होगी, आंधी-प्रलय का वेग होगा और उनके क्रान्तिधर्मी कार्यों से उथल-पुथल मच जाएगी, नया युग आयेगा। वे वात्याचक्र के समान पृथ्वी पर छा जाएंगे। हर घटना उनके विचारों और कार्यों के कारण जन्म लेगी। उन नवयुवक क्रान्तिकारी नेताओं के साथ जन-शक्ति होगी और इसी जन शक्ति का सबल प्राप्त कर वह विप्लव लाएँगे, नई दुनिया बसाएँगे, प्राचीन सड़ा-गला, अंयाय और शोषण युक्त जीवन समाप्त होगा।

विशेष–(१) सूरज . . . वह—चाक्षुष बिम्ब। प्रकृति का मोहक चित्र नहीं, क्रान्तिपूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है। कोमलता के स्थान पर कठोरता की अनुभूति जगाता है पर उसका भी अपना सौन्दर्य है। (२) मध्यप्रदेश के निवासी होने के कारण मुक्तिबोध के काव्य में प्रकृति के दुर्घर्ष, कठोर, ऊबढ़-खाबड़ चित्र अधिक हैं पर विषय को देखते हुए वे ही कथ्य के संप्रेषण के लिए उपयोगी हैं।

१४. अगजाजी खोहों और .... आला प्रतिभाशाली। (पृष्ठ १७७-७८)

शब्दार्थ–जवान सरिता=कामल भावनाएँ। जलते फूलोंवाली=क्रान्ति की आग समेटे।

प्रसंग–मुक्तिबोध का मत है कि सामान्य जन के अवचेतन में सत्य, जीवन के शाश्वत एवं कल्याणकारी मूल्य छिपे रहते हैं और समय पाकर वे प्रकट होते हैं। जब वे प्रकट होकर शक्ति पाते हैं तो बड़ी से बड़ी शोषणकारी तथा अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित शक्ति भी उसे विद्रोह करने से नहीं रोक पाती।

व्याख्या–जैसे भूमि के गहन गर्तों में, खोहों, गह्वरों की तलहटी में खदानों की नीची पर्तों के नीचे मणि, रत्न, बहुमूल्य, जगमग करते हीरे पड़े रहते हैं और अपने चतुर्दिक परिवेश को आलोकित करते रहते हैं उसी प्रकार सामान्य जनों के अवचेतन मन में, जिसे मनोवैज्ञानिकों ने अंधकार पूर्ण, ऊबड़-खाबड़ तथा अज्ञात, रहस्यमय कहा है, जीवन के उदात्त सिद्धान्त, आदर्श, सत्य, महान जीवन-मूल्य छिपे रहते हैं। जब ज्ञान, संवेदना और यथार्थ की कटु अनुभूति उन्हें जाग्रत करती है, व्यक्तित्वान्तरण होता है, क्रान्ति भावना जन्म लेती है तो समाज में विद्रोह और विप्लव होता है। क्रान्ति की लपटें दावाग्नि की तरह बड़े बेग, शक्ति और त्वरित गति से सम्पूर्ण समाज को चारों ओर से घेर लेती हैं और समाज की सड़ी-गली रूढ़ियाँ, सामन्ती एवं पूंजीवादी व्यवस्था उसमें जल कर राख होने लगती हैं। जैसे ज्वालामुखी फूटने पर या जंगल में आग लगने पर आग, लावा, गंधक की भीषण धारा सब कुछ को विनष्ट करती आगे बढ़ती ही चली जाती है, उसी प्रकार क्रान्ति की लपटें भी फैलती हैं। पर इन युवकों में जहाँ एक ओर क्रान्ति, हिंसा, विनाश, क्रोध के भाव

होते हैं वहाँ दूसरी ओर उनके हृदय में शोषितों, उत्पीड़ितों तथा दबे-कुचले लोगों के प्रति संवेदना, करुणा, सहानुभूति के तरल, कोमल भाव भी होते हैं क्योंकि उनका स्वयं का जीवन कष्टों एवं यातनाओं से आक्रान्त रहा है, उन्होंने स्वयं पीड़ा झेली है, अंयाय-अत्याचार सहे हैं, शोषण की चक्की में स्वयं पिसे हैं, उनके ये कोमल भाव दुःखी सन्तप्त लोगों को उसी प्रकार राहत पहुँचाते हैं, उनके कष्ट दूर करते हैं जैसे सरिता का शीतल जल ग्रीष्मातप से झुलसे, प्यासे, संतप्त, व्यक्तियों को।

विशेष–सरिता . . . कूलोंवाली=विरोधाभास है–सरिता और जलते तट। पर यहाँ कवि कहना चाहता है कि क्रान्तिकारी युवकों के मन में करुणा की धार प्रवाहित होती रहती है जबकि वे बाहर से हिंसा तोड़-फोड़, विनाश के कार्य करते हैं।

१५. अपने भीतर प्रतिबिम्बित .... पारदर्शी उर में। (पृष्ठ १७८)

शब्दार्थ–जीवन चित्रावली=सुखी, शन्तिपूर्ण एवं सुन्दर जीवन के सपने। नूतन झरने=युवकों के संवेदनशील तथा तरल भावों वाले हृदय। अंगार की धाराओं=क्रान्ति, क्रोध, विक्षोभ से युक्त। लहरों की ग्रीवा=कोमल, तरल भावनाएँ संवेदना। सूरज=क्रान्ति, ज्ञान।

व्याख्या–क्रान्ति करनेवाले ये युवक अपने बाह्य कर्मों–हिंसा, विनाश, तोड़-फोड़, क्रान्ति से भीषण, विकराल, दुर्धर्ष लगते हैं। परन्तु उनके हृदय में मानवता के गंगाजल या दूध की धारा बहती रहती है जो संतप्त प्राणियों, शोषितों के लिए शीतल है, पौष्टिक है और उन्हें शक्तिप्रदान करती है। ये क्रान्तिकारी युवक अपने हृदय में भविष्य के सुन्दर सपने सँजोये रहते हैं, उनका यूटोपिया सुख और शान्ति से अभिमंडित होता है और उसी यूटोपिया को साकार करने के निमित्त वे उसी उत्साह, उमंग तथा वेग से अपने पथ पर अग्रसर होते हैं जिस वेग से पहाड़ी झरना बहता है। उनमें सब कुछ पुरातन और जर्जर को उलट-पुलट कर, विध्वंस और विनाश कर नया निर्माण करने की साध होती है। उनके हृदय में विक्षोभ और आक्रोश होता है उन ताकतों के प्रति जिन्होंने शोषण-उत्पीड़न की नीति अपनाकर समाज को इस दुरवस्था में डाल दिया है। वे संघर्ष के लिए उतावले होते हैं। जब तक क्रान्ति नहीं होती तब तक उन्हें चैन नहीं पड़ता और वे बाह्य तथा आन्तरिक द्वन्द्वों की पीड़ा सहते रहते हैं। बाह्य जगत में शोषकों के हाथों यातना सहते हैं और स्वयं भीतर ही भीतर अंतर्द्वन्द्व की पीड़ा सहते हैं। जैसे जल की लहरों में सूर्य प्रतिबिम्बित होकर वातावरण की सुन्दरता बढ़ाता है उसी प्रकार संवेदना और ज्ञान मिलकर व्यक्तित्व को निखारते हैं। संवेदनात्मक ज्ञान या ज्ञानात्मक संवेदन से अभिमंडित व्यक्तित्व दीप्तिमय होता है, आलोक वलित होकर दूसरों को प्रकाश देता है। जैसे जलाशय की तलहटी में जल के नीचे पत्थर-शिलाएँ होती हैं और उन्हीं पत्थरों, चट्टानों के बीच से जल की धारा फूटती है, जलाशय का निर्माण होता है उसी प्रकार इन नवयुवकों ने अपने जीवन में जो कष्ट सहे, यातनाएँ झेलीं उन्हीं के फलस्वरूप उनके हृदय संवेदनशील हो उठे, उनमें पर दुखकातरता और करुणा की भावधारा प्रस्फुटित हुई और इस करुणा की तरल धारा ने संसार को शीतलता प्रदान की। जैसे जलाशय के पारदर्शी जल में तलहटी की चट्टानें दिखाई देती हैं उसी प्रकार इन के हृदय में करुणा का अजस्र स्रोत प्रवाहित होता रहता है, इनके हृदय करुणा-सरोवर होते हैं पर इस करुणा का वास्तविक मूल कारण वे दुःख ही हैं जो इन्होंने अपने जीवन में सहे और भोगे हैं।

विशेष–जलाशय, झरने, सरिता के बिम्बों द्वारा कवि अपने सूझ, तरल तथा जटिल भावों

को समझाने में सफल रहा है।

१६. सम्पूर्ण मानवी की .... तुममें भी है। (पृष्ठ १७८)

शब्दार्थ–पीड़ित छवियाँ=पीड़ित व्यक्तियों के चित्र, उनके दुःख दर्द की तस्वीरें। जन-जन के पुत्र=जनता, सामान्य जन। मानव युग के झरने=मानवता, उदात्त जीवन-मूल्यों आदर्शों के चित्र। रवि-रंजित नभ=ज्ञान के सूर्य से आलोकित महान आदर्श, मानव भविष्य के सुनहरे स्वप्न जिनमें मानवता को दानवता पर, सत्य को झूठ पर, न्याय को अंयाय पर विजय पाते चित्रित किया गया हो।

व्याख्या–जब क्रान्तिदर्शी युवकों ने, व्यक्तित्वान्तरण हुए साहित्यकारों कलाकारों ने अपने चतुर्दिक जीवन में शोषण, उत्पीड़न, अंयाय, अनीति के कारण सम्पूर्ण मानव जाति को दुःखी, त्रस्त और पीड़ा से झुलसते देखा तो उनके हृदय में संवेदना के उत्स फूट पड़े, करुणा की अजस्र धारा प्रवाहित होने लगी युग-बोध होने पर, जन-चेतना को आत्मसात करने पर वे करुणा, दया, सहानुभूति से भर उठे। उनका दृष्टिकोण, जीवन दृष्टि संकीर्ण, वर्गवादी, सीमित न रहकर व्यापक बन गयी। वह सम्पूर्ण मानव जाति के मंगल और कल्याण को दृष्टि में रखकर सोचने-विचारने लगे। इन क्रान्तिकारी युवकों, व्यक्तित्वान्तरण हुए साहित्यकारों, कलाकारों के प्रयासों के परणामस्वरूप इस जगत् के, इस पृथ्वी के सामान्य जन भी प्रभावित हुए। वे भी संवेदनशील हो उठे, अपने अधिकारों के प्रति जागरूक तथा अपने दायित्वों के प्रति सचेष्ट जनसाधारण को बहुत-सी नयी बातें पता लगीं, उनके अज्ञान का अंधकार मिट गया, ज्ञान का सूर्य उदय हुआ और उस ज्ञान के आलोक से जगमगाते दिव्य स्वप्न, महान आदर्श, उदात्त जीवनं-मूल्य, मानवतावादी दृष्टि उनके निकट आए, उन्होंने इन सब बहुमूल्य रत्न-मणियों को कसकर दबा लिया ताकि वे फिसल कर पुनः उनके हाथों से न छूट जाएँ। अपनी इन तरल, कोमल संवेदनाओं के आलोक में उन्होंने यह भी पहचान लिया कि अपने भविष्य के सुनहरे सपनों को साकार करने के लिए, मानवतावाद का झंडा लहराने के लिए मानवता को विजयनि बनाने के लिए संघर्ष करना पड़ेगा। वर्तमान का संघर्ष ही भविष्य की विजय बनेगा। संघर्ष और क्रान्ति के दुर्गम पथ पर चलकर ही विजय प्राप्त होगी। कलाकारों और साहित्यकारों ने पहचान लिया कि इस मार्ग पर चलने की पहल उन्हीं को करनी होगी, नेतृत्व उन्हें करना पड़ेगा, अभियान की शुरुआत उन्हीं के द्वारा होगी, तभी जनता जागेगी। उनका उद्‌बोधन ही उसे प्रेरणा देगा, उनकी दिखायी मशाल की रोशनी, में ही वह अंधकार, पीड़ा और संघर्ष का मार्ग तय करेगी। भविष्य के स्वप्न का कलाकार, मनीषी, क्रान्तिदर्शी साहित्यकार देखतें हैं। अतः जनता को सुनहरे सपने दिखाने और उसे उन्हें साकार करने के लिए प्रेरणा देने –दोनों का कार्य कलाकारों-साहित्यकारों तथा नई पीढ़ी के युवकों को करना होगा।

विशेष–मुक्तिबोध के काव्य में सरिता, सरोवर, झरनों का जल संवेदना का प्रतीक है और उस पारदर्शी जल में चमकते हुए रत्न-मणि ज्ञानालोकित विचारों के।

१७. मानव दिगन्त के.......... मैंने भी तुमको पहचाना। पृष्ठ १७८-१७९

प्रसंग–जब कवि का मन अत्यंत मानवीय बनकर जन-जन का हो जाता है तब कवि-व्यक्तित्व और कवि-चरित्र का विकास होता है। इस प्रकार के मानव व्यक्तित्व को प्राप्त करने की विधि और उसकी बनावट-बुनवाट के संबंध में मुक्तिबोध यहाँ बताते हैं।

व्याख्या–मानव-व्यक्तित्व एक सरोवर है। जन-जन के संघर्ष से प्राप्त अनुभवों से उसने जो विवेक पाया है, जो सद्बुद्धि उसमें जागी है, वह विवेक इस व्यक्तित्व रूपी सरोवर का जल है। उस सरोवर में खिलने वाले फूल जनता के प्रति संवेदना, सहानुभूति, उनके दुख-दर्द से एकात्म होने की चेतना है। इन फूलों की दीप्ति, आभा, शोभा वे लक्ष्य हैं जिनको प्राप्त कर भविष्य सुनहरा हो जायेगा, विश्व सुख-शान्ति का नीड़ बन जायेगा और इस विश्व के प्राणी सुख-चैन से उस नीड़ में बसेरा करेंगे। पर इन लक्ष्यों को पाने के लिए रक्त-क्रान्ति करनी होगी अतः इन फूलों को बुनने, उन्हें आकार देने के लिए हिंसा, तोड़-फोड़ विध्वंस का मार्ग अपनाना होगा, समझौतावादी नीति से काम नहीं चलेगा। जिसका व्यक्तित्वान्तरण हो चुका है,उस कवि की चेतना इसी फूल की तरह है अर्थात् वह भविष्य के स्वप्न सँजोता है और उन्हें पाने के लिए क्रान्ति करता है, दूसरों को भी क्रान्ति करने का उद्बोधन देता है। वह तब तक चैन से नहीं बैठता जब तक जन-जन में क्रान्ति की भावना पैदा नहीं कर लेता। उसकी व्याकुलता तभी समाप्त होती है जब वह यह चेतना जगा लेता है। ऐसा कवि सब को अपना भाई-बंधु, आत्मीय समझता है। सारा देश उसे अपनी जन्मभूमि लगता है। देश का प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक स्थान, प्रत्येक पदार्थ चाहे वह सुन्दर हो या कुरूप, शोभनीय हो या अशोभन उसे प्रिय लगते हैं। देश की पृथ्वी और आकाश, बंजर जमीन, खण्डहर, बरगद-पीपल के वृक्ष, गलियाँ, राहें, वीथियाँ, राजमार्ग, झोंपड़े, महल, पथरीली भूमि, कण्टकाकीर्ण जंगल—सब उसे प्रिय लगते हैं, सबके प्रति वह आत्मीयता का अनुभव करता है। कवि के इस आचरण, व्यवहार, जीवन दृष्टि और व्यापक-विशाल-उदार हृदय को देखकर वह कवि किसी विशेष भाषा, देश या सम्प्रदाय का न रहकर विश्व-कवि बन जाता है। जन-जन का कवि हो उठता है, सब उसे अपना मानते हैं क्योंकि वह सबकी आशा-आकांक्षा को वाणी देता है, उनकी भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसे कवि को ही 'कास्यापोलिटन कवि' कहा जाता है।

१८. मानव दिगन्त के''मानव-व्यक्तित्व सरोवर में। (पृष्ठ १७९,)

शब्दार्थ–आलोक वलय=प्रकाश पुंज, प्रकाश का घेरा। नीरोज्ज्वल=जल की तरह शुभ्र।

व्याख्या–मानव व्यक्तित्व के सरोवर में संघर्ष से प्राप्त अनुभवों के आधार पर विवेक की सहायता से चेतना का फूल खिलता है। इस फूल की पंखुड़ियाँ कोमल, चमकीली किरणों से बनी हैं अर्थात् वह चेतना कोमल संवेदनाओं से आर्द्र तथा ज्ञान से दीप्त है और उसके निर्माण में वह आक्रोश, क्षोभ, वेदना रहे हैं जो संघर्ष, क्रान्ति, विद्रोह करते हुए जन-जन ने झेले हैं, सहे हैं। इसी संघर्ष और संघर्ष-जन्य चेतना ने हजारों-लाखों व्यक्तियों का व्यक्तित्वान्तरण किया है, उन्हें संकुचित-संकीर्ण स्व से पर की ओर उन्मुख किया है, उनके निजी मन को जन-जन का मन बनाया है। ये नया व्यक्तित्व पाने वाले, जन-चेतना से सम्पन्न व्यक्ति सहस्रदल वाले कमलों की तरह दमकते हैं, आया और सुगंध विकीर्ण करते हैं। वे अपने देश और अपने युग के आदर्श व्यक्ति कहलाते हैं क्योंकि उनमें युग-बोध होता है, युग-चेतना होती है, वे अपने युग की आशा-आकांक्षाओं के प्रतिनिधि होते हैं, उन्हें वाणी देते हैं, नूतन नैतिकता, नयीं जीवन दृष्टि तथा युगीन चेतना से सम्पन्न ये रूपान्तरित व्यक्तित्व वाले व्यक्ति अपने कार्यों तथा नए विचारों से दिग्दिगन्त को सुरक्षित करते रहते हैं। लक्ष्योन्मुख निष्कर्षों तक पहुँचने के लिए परिष्कृत आत्मा की आवश्यकता है और आत्मा का संस्कार-परिष्कार तब होता है जब व्यक्ति शोषण तथा उत्पीड़न के विरुद्ध बहुसंख्यक

जन को संघर्ष करते देखता है, उस संघर्ष के अनुभवों से कुछ सीखता है, उस संघर्ष की गरिमा को समझता है, उससे ज्ञान, सद्विवेक पाता है, उसके हृदय में क्षमा, दया, करुणा और सबके प्रति सहानुभूति जागती है, वह सम्वेदनशील होकर सबकी पीड़ा को अपनी पीड़ा समझकर उसे दूर करने के लिए प्रयत्नशील बनता है, उसकी चेतना और लेखनी कबीर की तरह सूक्ष्म तथा प्रखर बनकर आत्मालोचन तथा दूसरों की समीक्षा में लग जाती है। यह संघर्ष एक ओर मानव के सामाजिक-ऐतिहासिक विकास मार्ग को प्रशस्त करता है और दूसरी ओर जागरूक साहित्यकारों के मन में ज्ञानात्मक संवेदन जगाता है। अतः समाज और व्यक्ति दोनों के लिए जन-संघर्ष उपयोगी ही नहीं अनिवार्य है।

१९. उस स्वर्ण-सरोवर का जल..................मेरा ही मन। (पृष्ठ १७९-१८०)

व्याख्या–व्यक्तित्वान्तरण होने पर, मानवतावादी बनने पर, स्व-पर का भेद मिटने पर, जन-पीड़ा को अपनी ही पीड़ा समझने की मनोदशा प्राप्त हो जाने पर आत्म-विकास होता है, वह सबमें स्वयं को तथा स्वयं में सबको देखने लगता है। चेतना का यह विस्तार, सहानुभूति और समानुभूति की यह स्थिति व्यापक होती जाती है। चेतना के दूर-दूर तक विस्तृत हो जाने पर सर्वत्र सुख, शान्ति, सद्भाव छा जाते हैं। संसार में इस छोर से उस छोर तक सात्विक वृत्तियों के मेघ छा जाते हैं और घनीभूत होने पर ऐसे मंगल की वर्षा होती है कि सबके हृदय, सबकी चेतना परिष्कृत होकर सुसंस्कृत होकर क्षितिज पर चमकते सूर्य की तरह अपनी आभा विकीर्ण करती है और उस ज्ञान के आलोक में सारी तामसिक वृत्तियाँ, अज्ञान, अविवेक विलुप्त हो जाते हैं।

जिस दिन इस व्यापक मानवता का, मानवीय चेतना का, संवेदनशीलता का प्रसार जन-जन में हो जाता है, सभी उससे अभिभूत हो ज्ञान और संवेदनशीलता धारण करने लगते हैं उस दिन लगता है पृथ्वी पर मोद की वर्षा हो रही है, सूर्य का आलोक घर-आँगन में फैल रहा है, संकुचित वृत्तियों, संकीर्ण मनोभावों का अँधेरा सिमट कर लुप्त हो रहा है अथवा जैसे चाँदनी का प्रसार अधिकाधिक होने पर घर-चौपाल, ग़ली-राहें, वन-कुंज शुभ और शीतल ज्योत्सना में नहा उठते हैं और वातावरण शीतल तथा सुरभित हो उठता है वैसे ही इस मानवीय चेतना के अवतरित और प्रसूत होने पर जीवन में मधु की वर्षा होने लगती हैं, सर्वत्र आह्लाद और हर्ष छा जाता है। वस्तुतः व्यक्तित्वान्तरण होने पर सब कुछ बदल जाता है क्योंकि देखनेवालों का दृष्टिकोण ही परिवर्तित हो जाता है। शेक्सपियर ने कहा था कि दुनिया में अच्छा-बुरा कुछ नहीं है, यह हमारा सोच है, दृष्टि है जो पदार्थ को अच्छा या बुरा बना देती है। व्यक्तित्व के व्यापक तथा दृष्टि के उदार होने पर शत्रु भी मित्र लगता है, पीड़ा भी मधुमय हो जाती है। मन चंगा है तो कठौती में गंगा जल की अनुभूति होती है, सर्वत्र हर्षोल्लास का अनुभव होता है। अतः असली चीज है मन, व्यक्ति का दृष्टिकोण, उसकी भावना, उसकी चेतना। बाह्य संस्कार महत्वपूर्ण नहीं है। अतः हमें अपनी चित्तवृत्ति का परिष्कार करना चाहिए, अपने विचारों को उदात्त बनाना चाहिए, स्व का विस्तार करना चाहिए।

विशेष–स्थूल दृष्टि से देखने पर लगता है मुक्तिबोध अध्यात्म की बात कह रहे हैं, प्राचीन भारतीय दर्शन बघार रहे हैं पर वस्तुतः जब वह स्व और पर का भेद मिटाने या चेतना के विस्तार की बात कहते हैं तो उनकी दृष्टि में व्यक्ति की मोक्ष नहीं, समाज की शोषण-उत्पीड़न से मुक्ति का प्रश्न होता है। अतः भाषा भले ही आध्यात्मिक हो, विचार मार्क्सवादी ही हैं।

२०. वे कहने लगे .... झलमला उठी। (पृष्ठ १८०)

शब्दार्थ–झाईं=प्रतिबिम्ब, प्रतिरूप।

व्याख्या–व्यक्ति का मन जब जन-मन होता है, वह अपने संकुचित स्वार्थ की कारा से मुक्त हो जाता है तब संवेदनात्मक ज्ञान का उदय होता है। वह सामान्य जन की तरह सोचता है, उनके सुख-दुःख उसे अपने प्रतीत होते हैं। उसके इस चरित्र-परिवर्तन और व्यक्तित्व के रूपान्तरण को देख लोग कहने लगते हैं कि इस व्यक्ति ने दिव्य भावों, उदात्त विचारों को अपना सहचर-संगी बना लिया है। वे इसके स्वभाव में पूरी तरह घुल-मिल गये हैं, उसके जीवन के उसी प्रकार सहज अंग हो गये हैं जैसे उसके मकान का कमरा, बैठक, आंगन आदि। ये दिव्य भाव, पर-सेवा और पर-हित के विचार अचानक ही उदय होते हैं और स्वयं व्यक्ति आश्चर्य करता है, मन-ही-मन विस्मयविमुग्ध हो उठता है कि अंततः वे भाव कब और कैसे उसके मन में अवतरित हो गये, कैसे उसने अपरिचितों, अनजान और पराये समझे जाने वाले व्यक्तियों को अपना समझ लिया, उनके साथ, मित्रता, साहचर्य और संबंधियों जैसे स्नेह और आत्मीयता के नाते-रिश्ते जोड़ लिये। उसे सारी धरित्री, सारा जग, सारा समाज एक बड़ा परिवार दिखने लगा। उसे पृथ्वी के प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक स्थल से प्यार हो उठा। सर्वत्र उसे जनता के गुण दिखाई दिये। मैदान, जंगल, वन-वाटिका, धूप, झरने, नदी-नाले, सागर, पोखर सब उसे जनता की संपत्ति नजर आने लगे। उसका दृष्टिकोण व्यापक, उदार और जनतांत्रिक होने पर विश्वबंधुत्व की भावना, वसुधैव कुटुम्बकम् का विचार जड़ जमाने लगे। यह सब कवि के व्यक्तित्वांतरण का ही सुपरिणाम था। अपने इस रूपान्तरण को देख, अपने को स्वार्थमुक्त पा, अपने को जनता के प्रति पूर्ण समर्पित अनुभव कर कवि की छाती गर्व से फूल उठी, वह स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करने लगा। अब समदृष्टि और उदार हृदय होने के कारण वह संदर्भ, संबंध, पूर्वाग्रह, स्व-पर के भाव से ऊपर उठ कर सबको परामर्श, उपदेश, उद्बोधन देने की स्थिति में आ गया, उसका जीवनानुभव 'भव्य संवेदन' या 'ज्ञान संवेदन', बन गया है। उसकी रचनाओं में ज्ञानात्मक संवेदन के स्वर गूँजने लगे। इस ज्ञानात्मक संवेदन ने उसे पर-पीड़ा से परिचित कराया, पर-पीड़ा, शोषण उत्पीड़न देख वह तिलमिला उठा। उस पीड़ा ने काव्य में अभिव्यक्ति पायी क्योंकि वह पीड़ा दुर्दम्य थी, असह्य थी और उस पीड़ा को अभिव्यक्त किये बिना वह चैन से नहीं बैठ सकता था। वेदना का जल पीकर जो काव्य लिखा गया वही उत्तम काव्य है, शिव और सत्य से जुड़ा काव्य है। मुक्तिबोध व्यक्ति या व्यक्ति-समूह से संबद्ध घटना को उसके निजी संदर्भ से काट कर देखना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी मानते हैं।

विशेष–इन पंक्तियों से कवि की रचना-प्रक्रिया पर, उसके काव्य की मूल प्रेरणा पर प्रकाश पड़ता है और पाठक कवि तथा उसके कृतित्व को समझ सकता है।

२१. ईमानदार संस्कारमयी .... सौ-सौ आँखें पायीं। (पृष्ठ १८०-८१)

व्याख्या–जनता के संघर्ष को देख, उससे कुछ सीख कर, विवेक प्राप्त कर जब कवि क्षमा, दया, करुणा, सहानुभूति आदि कोमल भावों को धारण करता है तो उसकी आत्मा का परिष्कार संस्कार होता है, उसकी गहरी विवेक चेतना जिसे हम अपनी भाषा में 'अंतरात्मा' तथा अंग्रेजी में 'कान्शैंस' कह सकते हैं ईमानदार और संतुलित हो जाती है। ऐसी सुसंस्कृत, परिष्कृत विवेक चेतना मूलभूत निष्कर्षों तक पहुँचने में समर्थ होती है। इस स्थिति में व्यक्ति विशेषतः जनता के प्रति संवेदनशील कवि उन निष्कर्षों तक पहुँचता है जो अनुभव-प्रसूत होने के कारण सच्चे, वास्तविक

और उपयोगी होते हैं। इन निष्कर्षों से वह एक सिद्धान्त व्यवस्था तैयार करता है, विचारधारा को जन्म देता है। यह सिद्धान्त-व्यवस्था या विचारधारा जब जड़ जमा लेता है, जन-जन में व्याप्त हो जाती है तो विरोधी शक्तियों-उत्पीड़कों, शोषकों, अंयायी शासकों और सत्ताधारियों के विरुद्ध संघर्ष होता है, उनके दुर्गों की अखण्ड सत्ता पर प्रहार होता है और वे दुर्ग टूटने लगते हैं, उनका एकाधिकार, उनकी शोषण-शक्ति विनष्ट होने लगती है। इस प्रकार जनता समाज के शोषकों, उत्पीड़कों के सत्ता-महलों को उसी प्रकार ध्वस्त कर देती है जैसे सेना अपने अस्त्र-शस्त्रों से शत्रु के दुर्गों को नष्ट कर देती है।

ऐसी विवेक-चेतना से सम्पन्न सिद्धान्त बनाने वालों विचारकों, मनीषियों, तत्त्व-चिन्तकों के अंतःकरण की गरिमा, सद्भावना, महदुद्देश्य से जब कवि प्रभावित होता है, तब कवि के अनुभव ज्ञान में परिवर्तित होने लगते हैं। वह अखबार नवीस से साहित्यकार बन जाता है। अखबारनवीस तथ्यों का संकलन करता है, निरपेक्ष रहता है, वह तटस्थ दृष्टा मात्र होता है जबकि कवि संवेदनशील होता है, सत्य के साथ-साथ शिव का उपासक होता है और जनता के सुख-दुःख का सहभागी होकर कुरूप को सुन्दर बनाने, अशिव को शिव में बदलने के लिए आतुर होकर प्रयत्नशील बनता है। अतः विवेक-चेतना से संपन्न व्यक्ति संकल्पधर्मी, कर्मठ और संघर्षशील होता है। उसको सूझ दृष्टि प्राप्त होती है, वह सहस्राक्षों से देखता है, उससे कोई चीज, कोई रहस्य छिप नहीं पाता। वह सर्वज्ञाता, घट-घट की जाननेवाला तथा सबके प्रति सहानुभूतिप्रवण हो जाता है।

२२. कागज की भूरी छाती...रवि का। पृष्ठ १८१

व्याख्या–गहरी विवेचक चेतना से सम्पन्न, अनुभव-प्रसूत निष्कर्षों को प्राप्त करनेवाला, संकल्पधर्माचेतना या संवेदनात्मक उद्देश्य को वहन करनेवाला, अपने लक्ष्यों के प्रति असीम स्नेह के साथ पूर्णतः समर्पित यह कवि जब काव्य रचना करता है, सफेद-भूरे कागज पर नीली स्याही से लिखता है तो उसकी रचनाएँ ऊपर से साधारण, जन-सामान्य के जीवन की सामान्य-साधारण घटनाओं से जुड़ी होकर भी एक ज्वलंत चेतना, ज्ञान का एक दिव्य आलोक, एक ज्योतिर्मय आलोक-बिन्दु को धारण किये रहती है। उन्हें पढ़कर पाठकों को यथार्थ का ज्ञान होता है, कटु सत्य का पता चलता है, वह संवेदनशील हो जनता का पक्षधर हो जाता है। जैसे छप्पर के छेदों में से आकाश की ओर देखनेवाले व्यक्ति को नीला आकाश और उसमें चमकता प्रखर आलोक बिखेरता सूर्य दिखता है और वह उस प्राकृतिक शोभा पर मुग्ध हो उठता है, उसी प्रकार विवेक-चेतना से संपन्न, संवेदनात्मक ज्ञान से आलुप्त कवि की सामान्य भाषा में सामान्य विषयों पर लिखी गई काव्य-रचनाओं को पढ़ने वाले को उन रचनाओं के माध्यम से दिव्य ज्ञान की प्राप्ति होती है और उसे प्राप्त कर उसकी हृदय-कली खिल उठती है, सत्य का साक्षात्कार उसे हर्षोल्लास से भर देता है, वह विहंस उठता है, प्रमुदित होता है, उसकी आत्मा का कमल उस ज्ञान के आलोक से उसी प्रकार खिल उठता है जैसे सूर्य की किरणों का स्पर्श पा सरोवर का कमल।

२३. शब्दों-शब्दों में...तुम भी तो हो। पृष्ठ १८१

व्याख्या–गहरी विवेचन-चेतना से संपन्न, संवेदनात्मक उद्देश्य वाला कवि जब जन-मानस में पैठकर, युग की विकराल समस्याओं का साक्षात्कार कर, संघर्ष के अनुभवों से सम्पन्न हो काव्य-रचना करता है तो उसके प्रत्येक शब्द में, प्रत्येक वाक्य में, प्रत्येक प्रोक्ति में मानव-मंगल, जन-हित सदाशय

का अभिप्राय होता है। जैसे सूर्य की किरण सूर्य-मंडल से निकल प्रकाश, ऊष्मा विकीर्ण करती है, उसी प्रकार जिस कवि के हृदयाकाश में संवदेनात्मक ज्ञान का सूर्य उगता है,उसकी प्रत्येक कविता में जन हित के प्रति उसकी व्याकुलता, विश्व-शांति और मानवता की सुरक्षा के प्रति उसकी चिंता झलकती है। वह चाहता है कि उसकी कविता सौमनष्य, मैत्री, विश्वबंधुत्व और सदाशयता का संदेश लेकर प्रत्येक मानव को अनुप्रमाणित करे। यह कविता संसार के प्राणियों को पुनः सोचने के लिए प्रेरित करती है, आत्म-निरीक्षण और आत्मालोचन के लिए बाध्य करती है। इस कविता में भावों का सौंदर्य होता है, कवि-हृदय की मधुरता का स्रोत प्रवाहित होता रहता है। इस माधुर्य का पान कर पाठक-श्रोता भाव-विह्वल ही नहीं सोचने-विचारने और कुछ करने की प्रेरणा पाते हैं। यह काव्य विषय और अभिव्यक्ति दोनों की दृष्टि से जनता का काव्य होता है। उसकी वाणी आत्मीयजनों की वाणी और उसका स्वर जाना-पहचाना, स्नेहिल, अपनत्व भरा और मोहक होता है। ऐसी ही कविता आज के युग में सार्थक है।

विशेष–मुक्तिबोध एक प्रकार से अपनी कविता और काव्य-रचना की बनावट-बुनावट पर प्रकाश डाल रहे हैं और बता रहे हैं कि उनकी कविता उद्‌बोधक है, जनमन की भावनाओं को स्वर देती है और युगीन आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।

२४. **बीरान में टूटे···तुम भी तो हो।** (पृष्ठ १८१-१८२)

प्रसंग–मध्यप्रदेश का रहनेवाला कवि वहाँ की ऊबड़-खाबड़, झाड़-झंखाड़ों से भरी, पथरीली जमीन, टौरियों तथा जंगली वनस्पति से परिचित है अतः उसकी कविता में प्रायः इसी प्रकृति से सम्बद्ध रूक्ष बिम्ब हैं। यहाँ कवि एक ओर अपने कटु-तिक्त-विषाक्त अनुभवों को तथा दूसरी ओर अपने हृदय की कोमल संवेदना को व्यक्त करने के लिए एक साथ ऊबड़-खाबड़ और मधुर-कोमल प्रकृति से गृहीत बिम्बों का उपयोग कर रहा है।

व्याख्या–वीरान, उजड़े, सुनसान प्रदेश में विशाल पुल टूट कर खण्डहर हो गया है। उन खण्डहरों में आक के पौधे और उन पौधों पर नीले छोटे-छोटे फूल उग आये हैं। जो तारों की तरह चमकते हैं। दूसरी ओर पास ही कहीं चम्पा में फूल खिल आये हैं। उनकी मधु गंध वातावरण को मादक सुरभि से भर रही है। जिस प्रकार चम्पा के मधुगंध भरे फूल तथा आक के नीले गन्धहीन फूल एक साथ उगते हैं और अपने विरोधाभास से विचित्र-सी अनुभूति जगाते हैं उसी प्रकार जागृत विवेक वाला कवि अपनी कविता में एक ओर अपने जीवन के कटु, तीखे तथा क्षोभकारी अनुभवों को पिरोता है, उनसे प्राप्त तिक्त, अनुभूति को व्यक्त करता है और कविता का वह अंश पाठकों में कठोर, क्षोभकारी तथा तिक्त अनुभूति जगाता है। दूसरी ओर जन-जन की पीड़ा के प्रति संवेदनशील कवि-हृदय करुणा, सहानुभूति, आत्मीयता के भाव व्यक्त करता है। कविता का यह अंश कोमल-मधुर होता है। अतः उसकी काव्य-रचना में एक-साथ दो परस्पर विरोधी तत्व दृष्टिगत होते हैं–एक ओर जीवन के कटु, विषाक्त और जहरीले अनुभव तथा दूसरी ओर कोमल तथा संवेदनशील हृदय की मधुर भाव-सरिता जो अमृत के समान मधुर तथा संजीवनीशक्ति से पूर्ण है। जनता के सुख-दुःखों के साथ तादात्म्य स्थापित करने वाले मुक्तिबोध जैसे जागृत विवेक संपन्न कवियों के काव्य में उनकी बहुमुखी प्रतिभा, संवेदनशील हृदय, संघर्ष की अदम्य शक्ति तथा उत्पीड़न को विनष्ट करने की आतुरता के परिणामस्वरूप ऐसी ही मिली जुली अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं और वे पाठकों में

भी जागृति तथा संवेदनशीलता उत्पन्न करती हैं।

२५. अपने संघर्ष के कड़ुए.......................................मुख बिम्ब निहारो तुम। (पृष्ठ १८२)

प्रसंग–मुक्तिबोध ने आत्म-मुक्ति के मार्ग को जन-मुक्ति के मार्ग से जोड़ा है। आत्मपरक से जनपरक होने की सांस्कृतिक प्रक्रिया का मार्मिक वर्णन करने के लिए यहाँ इन्होंने एक अनूठे बिम्ब की सृष्टि की है। अपनी पीड़ा को जन की पीड़ा के साथ जोड़ते हुए वह कहते हैं–

व्याख्या–जनता को सम्बोधित करते हुए वह लिखते हैं–तुमने अपने जीवन में अनेक संघर्ष किये हैं। उन संघर्षों के दौरान तुम्हें अनेक कटु अनुभव हुए हैं, अपार पीड़ा झेली है, उन अनुभवों और उनसे प्राप्त पीड़ा का इतिहास तुम्हारे वक्ष-पटल पर अमिट अक्षरों में लिखा जा चुका है। उसकी स्मृति तुम्हारे मन को उसी प्रकार मलती रहती है जैसे जल की भंवर जलाशय या नदी के वक्ष को। मैंने तुम्हारे संघर्ष को, तुम्हारी पीड़ा को, उस पीड़ा से होनेवाले अंतर्मंथन को देखा है और मुझे लगा है कि तुम्हारा जीवन, तुम्हारे संघर्ष, तुम्हारी पीड़ा, तुम्हारा अंतर्मंथन मेरे ही जीवन, संघर्ष, पीड़ा और अंतर्द्वन्द्वों का प्रतिरूप है। अतः मैं तुमसे एकाकार हो गया, मैंने अपने मन को जन-मन, तथा स्व-पीड़ा को जन-पीड़ा के साथ एकाकार कर दिया। व्यक्ति-मन जन-मन में परिणत हो गया। जनता की वेदना कवि की वेदना में आकर उसी प्रकार घुल-मिल गयी जैसे निर्झर का पानी बहता-बहता सरोवर या नदी के जल में आकर मिल जाता है, उसमें समा जाता है, उससे एकरूप हो जाता है। जैसे कोई व्यक्ति जल-धारा के तट पर आ कर खड़ा हो जाय और जलधारा का स्वामी उसे उस जल में मुख धोने, स्नान करने, जल पीने और अपना बिम्ब जल में देखने के लिए आमंत्रित करे। उसी प्रकार जब कवि ने जन-मुक्ति के लिए अपनी काव्य-रचना करने का संकल्प लिया और उसकी काव्य-धारा में जनता की पीड़ा, आशा-आकांक्षा, संघर्ष, अंतर्मंथन सब प्रतिबिम्बित हो उठे तो उसका काव्य जनता का काव्य हो उठा जो जन-जन की मुक्ति के प्रति प्रतिबद्ध है, पूर्णतः समर्पित है।

२६. जब मेरे मन.......................................भावातिरेक तुम दरसाओ। (पृष्ठ १८२)

प्रसंग–प्राकृतिक बिम्ब की सहायता से कवि यहाँ भी व्यक्ति मन के जन-जन में परिणत होने और अपनी कविता के जन-पीड़ा तथा जन-मुक्ति के लिए समर्पित होने की प्रक्रिया बता रहा है–

व्याख्या–कवि के हृदय में जब संवेदनशीलता अंकुरित हुई, उसमें कोमल भावनाएँ उमड़ने लगीं, पर-पीड़ा से द्रवित हो वह शोषित जन के साथ एकात्म हो गया तो उसके पाषाण जैसे कठोर हृदय में कोमल भावनाएँ उसी प्रकार उमड़ने-घुमड़ने लगीं जैसे पथरीली भूमि पर बहने वाले झरने की शीतल जल धारा के तट पर मेघ-खण्ड घटाएं उमड़ने-घुमड़ने लगती हैं। वह सबके प्रति आत्मीयता, अपनापन, घनिष्ट संबंधों का रिश्ता-नाता अनुभव करने लगा। जैसे घने बादल उमड़ कर बरसते हैं और अपनें जल से ग्रीष्मातप से तप्त भूमि को आर्द्र कर देते हैं, उसमें अंकुर फूट पड़ते हैं, उसी प्रकार कवि पर-पीड़ा, जन-जन के कठोर संघर्ष को देख कोमलमना हो उठा, उसके मन में सद्भावों, उच्चाशयों के अंकुर फूट पड़े। जैसे वर्षा होने, वनस्पति उगने पर चारों ओर सौंधी सुगंध फैल जाती है, वातावरण सुरभित और मोहक हो उठता है, उसी प्रकार जीवन में मानवता, विश्बन्धुत्व, शांति का वातावरण छा जाता है, सब लोग सुखी हो जाते हैं, जीवन में मधु की वर्षा होने लगती है, कटुता, संघर्ष, द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। दूसरी ओर अत्याचारी, अंयायी शोषकों और उत्पीड़कों

के प्रति रोष, विक्षोभ, आक्रोश के भाव भी उमड़ने लगते हैं, उन्हें विनष्ट करने की तीव्र भावना कौंधती है। कवि के मन में तूफानी शक्ति और विद्युत ज्वाला जागती है। जैसे तूफान और बिजली मन में आशंका, भय और खतरे की भावना पैदा करते हैं उसी प्रकार साधारण जन तथा उनके अगुआ साहित्यकारों-कलाकारों को अपने प्रति क्षुब्ध, क्रुद्ध तथा आक्रोशयुक्त पा उत्पीड़कों-शोषकों के मन सिहर जाते हैं, वे भयाक्रान्त हो उठते हैं तथा उन्हें अपना अस्तित्व खतरे में पड़ा लगता है। कवि की जब ऐसी मनःस्थिति होती है, वह ज्ञानात्मक संवेदन से अभिभूत हो काव्य-रचना करता है, तो वह पाठकों से अनुरोध करता है, उन्हें प्रेरणा देता है कि वे भी शोषितों के प्रति कोमल भाव धारण करें तथा उत्पीड़कों-शोषकों के प्रति मन में घृणा, क्रोध, आक्रोश धारण कर कुछ ऐसा कार्य करें जिससे उत्पीड़न-शोषण सदा के लिए समाप्त हो जाए।

२७. जब आसमान से धरती.............................प्राकार वना जाओ। (पृष्ठ १८२-१८३)

शब्दार्थ–विलोल=चंचल।

प्रसंग–जब कवि के मन में ज्ञानात्मक संवेदन जागता है तो वह ऐसा काव्य लिखने की प्रेरणा, उत्साह और आतुरता अनुभव करता है जिसका आधार और मुख्य कथ्य ही ज्ञानात्मक संवेदन होता है। इसी काव्य-रचना की प्रक्रिया को बिम्ब की सहायता से बताते हुए कवि कह रहा है–

व्याख्या–जैसे निर्झर-तट पर आसमान से उतर कर एक प्रकाश-स्तंभ, एक आलोक-रेखा पृथ्वी तक फैल जाय और दिग्दिगन्त को आलोकित कर दे उसी प्रकार जन-पीड़ा से एकात्म होने पर, स्व-पर का भेद समाप्त होने पर कवि के चित्त में संवेदनात्मक ज्ञान का आलोक उतरता है और उसके हृदय का ओर-छोर इस प्रकाश से भर उठता है। उसकी काव्य-चेतना जाग उठती है, काव्य-सर्जन की प्रतिभा उल्लसित हो काव्य-रचना के लिए आतुर हो उठती है। सर्जना के उस क्षण में वह विद्युत की सी तीव्रता और आँधी तूफान का वेग अनुभव करता है। वह अपने मन में भावों, क्रान्तिकारी विचारों का तीव्र तूफान उमड़ता अनुभव करता है और उन विचारों को व्यक्त करने के लिए बेचैन हो उठता है। वह अपने काव्य को संवेदनात्मक ज्ञान की प्रतिमा बनाना चाहता है, उसे मूर्तिमान करना चाहता है, उसके स्वरों को प्रखर वाणी देना चाहता है ताकि उसके काव्य को पढ़कर पाठकों का भी व्यक्तित्वान्तर हो सके, वे भी जन-जन के प्रति सहानुभूति अनुभव करें और शोषण-उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष में महत्वपूर्ण भूमिका निभायें। वह अपनी काव्य-शक्ति का आह्वान करता है कि वह ऐसा काव्य लिखने में उसे सफल बनाए और वह कृतकार्य अनुभव करे।

विशेष–(१) विलोल लता-सी=उपमा अलंकार।

(२) तुम बन जाअ...–मानवीकरण अलंकार।

(३) मन-निर्झर तट–रूपक अलंकार।

२८. लेकिन संघर्ष के पथ पर.............................बौखला रहे हों दुर्निवार। (पृष्ठ १८३)

प्रसंग–जब जीवन की समस्याएँ, जन-साधारण के कष्ट, अंयाय, अत्याचार और उत्पीड़न से उत्पन्न भयावह, विषम परिस्थितियाँ कवि को बेचैन करने लगती हैं, उसके मन में ऊहापोह होने लगता है, विचारों का बवंडर दौड़ने लगता है और वह महसूस करता है कि अब स्थिति इतनी भयावह हो उठी है कि वह मौन नहीं रह सकता और विप्लवकारी काव्य लिखने लगता है।

व्याख्या–जब कवि संघर्ष के पथ पर अग्रसर होता है, फल की पीड़ा को देखता है, उसके

मन में अनेक प्रश्न उठते हैं, अनेक शंकाएं उत्पन्न होती हैं और वह उनके प्रश्नों के उत्तर पाने तथा शंकाओं के समाधान खोजने में लग जाता है। अपेन निष्कर्षों, विचारों तथा ज्वलनशील उद्‌गारों को व्यक्त करते समय उसे अनेक संगी-साथी, सहचर, कार्यकर्ता, समान दृष्टिकोण वाले व्यक्ति मिलते हैं। उसका चित्त ज्ञान के आलोक से उसी प्रकार परिपूर्ण हो जाता है, जैसे मध्याह्न के सूर्य के प्रखर आलोक से आकाश। जैसे-जैसे यह ज्ञान का आलोक उसके मन के अज्ञानान्धकार को, मोह-जाल तथा भ्रम की पर्तों को उघाड़ता चलता है, त्यों-त्यों वह सत्य का साक्षात्कार कर, समस्या के मूल को समझकर, रहस्य को जानकर, अनीति-अंयाय के स्रोत का पता पाकर उद्वेलित हो काव्य लिखना शुरू कर देता है। अतः उसका साहित्य 'युग का इस्पाती दस्तावेज' बन जाता है जिसे पढ़कर नई पीढ़ी के युवाजन क्रान्ति करने के लिए आतुर हो उठते हैं।

२९. कोई स्वर ऊँचा उठता.................................रोती चली गई ! ! (पृष्ठ १८३,)

शब्दार्थ–रन्ध्रिल=छेद द्वार, कोमल।

प्रसंग–जनता के दुःख-दर्द, रोने-कलपने, आक्रोश-संघर्ष के स्वरों को कवि बहुत दिन तक अनसुना नहीं कर सका। जब ये आर्त स्वर उसके कानों में पड़े तो वह विचलित हो गया। उस स्थिति का वर्णन करते हुए कवि कहता है–

व्याख्या–एक ओर शोषित-उत्पीड़ित जनता की चीख-चिल्लाहट रुदन, क्रंदन उसके कानों में पड़ उसके हृदय को चीर रही थी, उन आर्त स्वरों को सुन उसका हृदय भी चीत्कार कर उठा था और उसकी जड़ता, उदासीनता, तटस्थता धीरे-धीरे समाप्त हो रही थी। दूसरी ओर वह अपनी आत्मा की वाणी, अंतस का विद्रोह, शोषकों-उत्पीड़ितों के प्रति आक्रोश भी दबा नहीं पा रहा था। जनता की चीख-पुकार तथा कवि का क्षोभ तथा विद्रोह का स्वर धीरे-धीरे तीव्र होता गया और उसके हृदय को मथने लगा। जैसे नुकीले औजार की नोंक पत्थर, काष्ठ, धातु की सतह को भेद उसमें सुराख करती है, उसी प्रकार यह वाणी कवि के हृदय की जड़ता तथा उदासीनता की सतहों को, पर्त के बाद पर्त को भेदती चली गयी, उसकी जड़ता टूटने लगी, वह निरपेक्ष न रह सका। उसका हृदय संवेदना से आर्द्र हो उठा उसमें करुणा का स्रोत फूट पड़ा और अंत में जैसे ज्वालामुखी के मुख से जमीन के नीचे वर्षों से सुलगते, उफनते गंधक, आग और लावा के समूह फूट पड़ते हैं, लपटें और अंगारे ज्वालाएं और अग्नि शिखाएं चारों ओर के वातावरण को दीप्तिमान तथा विस्फोटक पदार्थों से भस्मीभूत कर देते हैं, उसी प्रकार कवि के हृदय का विद्रोह, आक्रोश, क्षोभ, शत-सहस्र ज्वालाओं में फूट पड़ा। वह शोषण, उत्पीड़न, अंयाय और अत्याचार को समाप्त करने के लिए ज्वलन-पिंड सा जलने लगा। उसमें क्रान्ति, विद्रोह, विप्लव के भाव-विचार जागे। इस क्रान्ति की भावना ने, नए प्राप्त विवेक के जाज्वल्यमान मणियों ने उसके हृदय की जड़ता, अविवेक और अज्ञान के अंधकार को नष्ट कर डाला। उसका हृदय इस नयी चेतना के मणि-दीपों से, क्रान्ति की अग्निशिखाओं से आलोकित हो उठा। वह इस क्रान्ति भावना को, विवेक-मणियों को संभाले कर्म-पथ पर अग्रसर होने, क्रान्ति का मार्ग अपनाने के लिए तत्पर होता है। तभी उसे गरीब, दरिद्र, शोषित, सताये लोगों की बस्ती में, वहाँ की सुनसान, अंधेरी गलियों में किसी दुबले-पतले बालक की क्षीण काया की परछाईं दिखती है और उसे उस बालक के रोने-कलपने-सिसकने हिचकियाँ भरने का करुण स्वर भी सुनाई पड़ता है। उसे लगता है कि वह बालक असहाय है, भूखा है, पीड़ित

है और इसी कारण रो रहा है। उसका यह असहाय रुदन सुन वह द्रवित हो उठता है, उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व हिल उठता है और वह इस स्थिति को समाप्त करने के लिए बेचैन हो जाता है। यह असहाय बालक वस्तुतः उत्पीड़ित असहाय जनता है और उसका रुदन-क्रन्दन पीड़ित, दुःखी जनता की आर्त वाणी, दीनताभरी पुकार, सहायता के लिए याचना ही है जिसे अनसुना करना कवि के लिए संभव नहीं है। अतः एक ओर वह ऐसा साहित्य लिखता है जो जनता में जागरण का शंख फूंक सके और दूसरी ओर कर्मपथ पर चलने को तत्पर होता है।

विशेष–'अंधेरे में' कविता में भी 'शिशु' का उल्लेख है। वहाँ उसका अर्थ है नव-प्राप्त स्वतंत्रता जो अंग्रेजों के १९४७ में जाने के बाद भारत को प्राप्त हुई। उसका दूसरा अर्थ था जनता के प्रति दायित्व का भाव।

३०. दुनिया के खड़े टूह..अस्थिर हूँ। (पृष्ठ १८३-८४)

प्रसंग–संसार में व्याप्त शोषण का परिणाम है गरीबी, भुखमरी, जीवन की सामान्य आवश्यकताओं तक का पूरा न होना। कवि जब इस दर्दनाक स्थिति को देखता है तो उसे मर्मान्तक पीड़ा होती है, वह उद्विग्न हो उठता है, अस्थिर हो उठता है और उसका सुख-चैन नष्ट हो जाता है, वह सुविधा का जीवन त्यागने और खतरे मोल लेकर भी इस स्थिति से मुक्त होने का प्रयास करता है।

व्याख्या–शोषण और उत्पीड़न ने, वर्ग-स्वार्थों तथा सत्ता से चिपके लोगों ने संसार को वीरान बना दिया है, उसकी सारी श्री-शोभा, सम्पदा कुछ लोगों के हाथों में उनकी तिजोरियों में सिमट कर रह गयी है। शेष जनता अभावग्रस्त है, भूखी-नंगी है, आवास-विहीन है। एक ओर आलीशन इमारते हैं और दूसरी ओर झुग्गी-झोंपड़ी जिनमें नित्य-प्रति आग लगती है, लोगों का सब कुछ अग्नि की लपटों में स्वाहा हो जाता है। अधिकांश लाग खंडहरों जैसे टूटे मकानों में रहते हैं। उनके कपड़े फट कर चीथड़े रह गये हैं। छत न होने के कारण चिलचिलाती धूप में रहना पड़ता है। कठिन परिस्थितियों में काम करने के कारण उनके कपड़े तार-तार हो जाते हैं, शरीर अधनंगा रहता है। स्त्रियां अपनी फंटी साड़ी तथा बुर्कों में लाज भी नहीं ढक पातीं। कवि इन फटेहाल लोगों को देखता रह जाता है, शर्म से उसकी गर्दन झुक जाती है। तभी वह देखता है कि टूटे-फूटे मकानों, झाड़-झंखाड़ से भरी बस्तियों में से, जहाँ वीरान-आवारा हवाएं चलती रहती हैं, गर्मियों में लू की लपटें तथा सर्दियों में ठंडी हवाएं जीवन दुर्भर बना देती हैं, एक नारी आकृति निकलकर जा रही है। उसका मुख पीला पड़ा है, वह उदास है उसके मस्तक पर चिंता की गहरी रेखाएँ अंकित हैं। दुर्बलता के कारण वह नारी न लगकर नारी की छाया मात्र लग रही है। और उसकी अंगुली पकड़कर कोई बालक चल रहा है। वह भी इतना क्षीण-काय तथा दुर्बल शरीर है कि लगता है जैसे वह शिशु न होकर शिशु की छाया मात्र है, परछाईं हैं। इस करुण दृश्य को देखकर, जीवन की इस कुरूपता का साक्षात्कार होने पर कवि बेचैन हो उठता है, वह चिंताओं से घिर जाता है, मस्तिष्क में विचारों का चक्र चलने लगता है, मन अंतर्द्वन्द्व में फंस जाता है। अतः वह स्थिर नहीं रह पाता और उस भयावह स्थिति से मुक्त होने के उपायों पर विचार करने लगता है।

३१. जब इसी गली के..वेदना यथार्थों की जागी। (पृष्ठ १८४)

प्रसंग–आत्म-संघर्ष को जन-संघर्ष और आत्म-स्थिति को जन-स्थिति के आमने-सामने रखकर

देखने पर कवि को कटु यथार्थ एवं वास्तविक समस्याओं का पता लगता है। उन वास्तविकताओं से प्रेरित होकर वह कुछ लक्ष्य निर्धारित करता है, कुछ उद्देश्यों को प्राथमिकता देता है और तब भव्य प्रेरणाएं जन्म लेती हैं। इसी वास्तविकता के विषय में कवि यहाँ बता रहा है।

व्याख्या–कवि देखता है कि लोग भूख से तड़प रहे हैं, बच्चे दम तोड़ रहे हैं, उन्हें पेय जल तक उपलब्ध नहीं है, रात-दिन हाड़तोड़ परिश्रम करने के बाद भी रोटी के साथ मात्र नमक पाने की लालसा भी पूरी नहीं होती। सामान्य जन प्रायः निस्वार्थी होते हैं, उनके निहित स्वार्थ नहीं होते। जीवन-भर जीवन और मौत के बीच संघर्ष चलता रहता है, जैसे-तैसे करके जीते हैं। कवि उनकी इस दर्दनाक पीड़ा और जीवन-संघर्ष को देख उस दुर्दशा के कारणों का पता लगों के लिए इन शोषित, उत्पीड़ित और अभावग्रस्त लोगों से सम्पर्क स्थापित करता है, उनकी समस्याएँ तथा उनके मूल कारणों को जानना चाहता है, वर्तमान शोषण की मूल कारक शक्तियों की तह में जाना चाहता है। जब वह आर्थिक-सामाजिक शोषण की मूल समस्या के मूलभूत कारणों का पता लगों में प्रयासरत होता है तो जन-शक्ति जनता के शोषण-युक्त होने की अदम्य कामना और उसके लिए उसके द्वारा किये गये प्रयत्नों, लोगों विचारधारा आदि देखकर वह उत्साहित होता है। उसमें आशा जागती है क्योंकि वह अनुभव करता है कि जनता आर्थिक शोषण तथा पूंजीपतियों के चंगुल से मुक्त होने के लिए सक्रिय है। वह स्थिति का विश्लेषण करता है, जागृत जन-शक्ति से उत्साहित होता है। इस विश्लेषण-संश्लेषण में, क्रिया-प्रतिक्रिया से कवि के हृदय में ज्ञानात्मक संवेदन या संवेदनात्मक ज्ञान उदय होता है। वह यथार्थ वेदना का साक्षात्कार करता है, जिससे उसके मस्तिष्क में हलचल होने लगती है, हृदय द्रवित हो उठता है। उसे लगता है उसके हृदय में बिजली की शक्ति और पैरों में बिजली की गति आ गई है। सिर से पैर तक वह एक नयी शक्ति का अनुभव करता है। उसका तन, मन, प्राण सभी जादुई शक्ति से भर उठते हैं वह अपने में उद्दाम उमंग, अपार उत्साह और कुछ करने की तीव्र लालसा अनुभव करता है। कवि के हृदय में ज्ञान-संवेदन और मस्तिष्क में यथार्थ वेदना का उदय देख कुछ को आश्चर्य हो सकता है क्योंकि वेदना हृदय का विषय है और ज्ञान बुद्धि का। परंतु मुक्तिबोध के यहाँ हृदय और बुद्धि का कोई विभाजन नहीं है। हृदय के बुद्धि-जागृत नेत्रों को वे ज्ञानात्मक संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान या बोधयुक्त बौद्धिकता कहते हैं जिसमें हृदय और बुद्धि का पृथक -पृथक अस्तित्व नहीं होता, दोनों मिलकर एक हो जाते हैं, अंतरात्मा बन जाते हैं।

३२. यद्यपि दिन है.................................वेदना यथार्थों की जागी। (पृष्ठ १८४-८५)

व्याख्या–हृदय और बुद्धि, संवेदन और ज्ञान कवि का उद्देश्य निर्धारित करते हैं। कवि इनकी सहायता से अपने जीवन का लक्ष्य, साहित्य-रचना का उद्देश्य निर्धारित करता है। वह सक्रिय हो उठता है, स्वयं में शक्ति के स्फुलिंग अनुभव करता है। इस सक्रियता में सबसे पहले द्वन्द्व में फंसी आत्मा का उदात्तीकरण होता है। इसके फलस्वरूप वह आत्मबद्धता के संकीर्ण घेरे से निकल कर उदारमना तथा व्यापक दृष्टिकोण वाला बन जाता है। जैसे रेगिस्तान में गरम-गरम नमकीन धूल के बबूले उठते हैं ओर फिर वे बवंडर बन जाते हैं इसी प्रकार कवि के हृदय में क्रान्ति के प्रज्वलनशील विचार उमड़ते-घुमड़ते हैं और फिर वे जनता में व्याप्त हो जाते हैं। उनका देश-काल में प्रचार-प्रसार होता है, जनता उन विचारों से प्रेरणा और उत्साह पाती है। क्रान्ति की लहर दौड़ती

है और अंततः जनता क्रान्ति करती है। कवि की अंतरात्मा उत्पीड़ित जन-गण के सम्मुख नतमस्तक होती है, उसके प्रति श्रद्धा तथा आदर भाव धारण करती है। अंतरात्मा के आलोक में कवि अपना मार्ग सुनिश्चित करता है, ज्ञानात्मक संवेदन उसका मार्ग-निर्देश करता है। 'जीवन के रज-घूसर पद पर आँखें बन कर बैठने' से तात्पर्य है कि व्यक्ति-जीवन सम्पूर्णतः आत्मा के अनुशासन से परिचालित होता है। इसी को मुक्तिबोध ने आन्तरिक अनुरोध या 'आभ्यन्तर जगत् में अकस्मात् उठ खड़ी हुई आँखें' कहा है। यह सुविधा-भोग, सांसारिक सफलता, भौतिक सुखों को पाने के लिए किये गये गलत समझौतों से रोकती है।

३३. वह सड़क के बीच.......................................होने की बेचैनी। (पृष्ठ १८५)

प्रसंग–बाह्य की यथार्थ वेदना किस प्रकार व्यक्ति की आत्मा का परिष्कार करती है, उसे उदार, व्यापक तथा विस्तरणशील बनाती है और तब उसकी मनः स्थिति कैसी होती है इसका वर्णन कवि यहाँ कर रहा है।

व्याख्या–परिष्कृत तथा प्रसरणशील अंतरात्मा की स्थिति में व्यक्ति अपने को जनसामान्य में से एक समझता है, उसके और दूसरों के बीच की दूरी समाप्त हो जाती है। वह अपने को सड़क का आम आदमी समझता है और संसार के सामान्य जनों, गरीबों, उत्पीड़ितों को अपना सहयोगी, सहकर्मी, सहयात्री मानता है। वह उनको अपना आत्मीय मान उनके दुःख दर्द, आशा-आकांक्षा को अपना ही दुःख-दर्द और आशा-आकांक्षा मानता है। वह उनसे एकात्म हो जाता है। वह सोचता है कि सब अपने हैं, सबके पास उसे कुछ देने, सत्य का साक्षात्कार कराने के लिए कुछ-न-कुछ महत्वपूर्ण है अतः वह सबसे मिलता है, सबसे आत्मीय संबंध स्थापित करता है, सबसे उनका सुख-दुःख पूछता है, उनकी समस्याओं से परिचित होता है। वह नत होकर, विनम्र बनकर, स्वयं को तुच्छ तथा अंय को महान मानकर उनसे कुछ सीखने की जिज्ञासा लिए रहता है। इससे वह नत होकर भी उन्नत होता है। विनम्रता, उदारता, परदुखकातरता उसे उदात्त बनाती है। आत्मबद्धता, आत्मकेन्द्रित होने के भाव का संकीर्णता का परिहार होता है। वह 'स्व' से ऊपर उठ कर विश्व-कल्याण की बाता सोचता है, जनता को जनार्दन मानकर उसकी उपासना करता है।

विशेष–अपनी पुस्तक 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' में ये ही विचार इस प्रकार व्यक्त किये गये हैं– स्व से ऊपर उठना, खुद की घेरेबन्दी को तोड़कर, कल्पना-सज्जित सहानुभूति के द्वारा अंय के गर्भ में प्रवेश करना मुनष्यता का सबसे बड़ा लक्षण है। इस प्रकार की व्यापक और उदार सहानुभूति–कल्पनाशील सहानुभूति मानवता के पिछले इतिहास ने, साहत्य और धर्म ने, कला और संस्कृति ने, संस्कार रूप में हमें प्रदान की है। यही नहीं, बुद्धि स्वयं अनुभूत विशिष्टों का सामान्यीकरण करती हुई हमें जो ज्ञान प्रस्तुत करती है, उस ज्ञान में निबद्ध 'स्व' से ऊपर उठने, अपने से तटस्थ रहने, जो है उसे अनुमान के आधार पर विस्तृत करने की प्रवृत्ति होती है। सहानुभूतिशील कल्पना और कल्पनाशील सहानुभूति हमें आत्म-विस्तार के लिए उद्यत कर देती है संक्षेप में बाह्य और अंतर का भेद उस समय मिट जाता है।

भूल-ग़लती

मुक्तिबोध की चिन्ता का मुख्य विषय रहा है 'जन-जन कैसे शोषण-मुक्त होगा।' शोषण करने वाली शक्तियाँ हैं–साम्राज्यवादी, पूंजीवादी व्यवस्था। अतः वे सत्ता में आती हैं जनता के अविवेक, जागरूक न होने के फलस्वरूप। या तो जनता आलस्य, प्रमाद अथवा अविवेक के कारण इन शक्तियों को पहचानती नहीं, उनके षड्यंत्रों से अनभिज्ञ और अपरिचित रहती है। इसे हम 'भूल' कह सकते हैं। अथवा हम इन शोषक शक्तियों का विरोध करते समय ग़लती कर बैठते हैं। ठीक कदम नहीं उठा पाते, अपनी शक्ति का, अपने साधनों का उचित समय पर उचित प्रयोग नहीं कर पाते। इसे हम 'ग़लती' कह सकते हैं। हमारी इस भूल ग़लती का परिणाम होता है शोषकों का सत्ता में आना और सत्तारूढ़ होने पर जनता का शोषण करना, अत्याचार करना और ऐसी व्यवस्था करना कि वे पुनः सिर न उठा सकें, अपनी मुक्ति के लिए कोई उपाय न कर सकें। पर क्या वे सफल हो सकते हैं, मुक्तिबोध अन्य मार्क्सवादियों के समान विश्वास करते हैं कि वे कार्य सफल नहीं होंगे। एक न एक दिन सर्वहारा वर्ग की बुर्जुवा वर्ग पर विजय होगी, वर्गहीन समाज की स्थापना होगी, ऊँच-नीच, गरीब-अमीर शोषक-शोषित का भेद समाप्त हो जायेगा।

इसी बात को उन्होंने अपनी कथा-शैली में व्यक्त किया है और निरंकुश, अत्याचारी शासक के दरबार का बिम्ब प्रस्तुत किया है।

व्याख्या

(१) भूल-ग़लती..दरबारे आम में (पृ. २६)

प्रसंग–ये पंक्तियाँ मुक्तिबोध की कविता 'भूल-ग़लती' से उद्धृत की गयी हैं। कविता के आरंभ में ही कवि सत्ता को एक निरंकुश साम्राज्ञी के रूप में चित्रित करता है।

शब्दार्थ–जिरहबस्तर=कवच, युद्ध के समय शरीर को शत्रु के प्रहारों आघातों से बचाने के लिए शरीर के ऊपरी भाग (गर्दन से लेकर कटिप्रदेश तक) में पहने जानेवाला धातु का बना अंगरखा जैसा पहनावा। तख्त=सिंहासन। चिलकती=चमकती, कतारें=पंक्तियाँ। बेजुवां=मौन, बिना एक शब्द भी बोले, चुपचाप, शांत। सलाम में=आदर प्रकट करने के लिए प्रणाम करने की मुद्रा में, कोर्निश करते हुए। मेहराब=द्वारा आदि के ऊपर की अर्धमंडलाकर रचना।

व्याख्या–जनता के अविवेक, जागरूक न रहने तथा प्रमाद के कारण निरंकुश, अत्याचारी, शोषक शासक सत्ता में आ गया है। वह अपना दरबार लगाये बैठा है। उसके दरबार का वर्णन करते हुए कहा गया है–दरबारे-आम लगा हुआ है और वहाँ अपराधी को लाया गया है ताकि उस पर अभियोग चलाया जावे और सिंहासन पर बैठा शासक न्याय का नाटक रचकर उस अभियोग का फैसला कर अपराधी को दंड दे सके। मुग़ल शासकों अथवा स्वतंत्रता-पूर्व की देशी रियासतों के समान दरबार की शान-शौकत निराली है। वह भवन जहाँ दरबार लगा है ऐश्वर्यपूर्ण है। उसमें अनगिनती खम्भे तथा मेहराब हैं। उनके पास दरबार में भाग लेने के लिए आए असंख्य मुसाहिब, दरबारी, सामंत, शासक की कृपादृष्टि के आकांक्षी लोग उपस्थित हैं। सब विनय की मुद्रा में पंक्तिबद्ध खड़े हैं। उनकी गर्दनें झुकी हैं। कोर्निश की मुद्रा में वे

सावधान खड़े हैं–बाइज़्ज़त बामुलाहज़ा सावधान होकर। उनमें कुछ कहने की, आपस में बात कहने का भी साहस नहीं है क्योंकि कड़ा अनुशासन है। ऐसे मूक, सलाम की मुद्रा में खड़े आतंकित भयभीत दरबारियों के मध्य सिंहासन पर बैठा है शासक, सम्राट या साम्राज्ञी (आज के युग में शोषक समाज व्यवस्था)। उसने विद्रोहियों, क्रांतिकारियों, विरोध करने वाली शक्तियों (यहाँ सर्वहारा वर्ग जो शोषण से मुक्त होने के लिये संघर्षरत है) से स्वयं की रक्षा के लिए अनेक उपाय किये हैं–पुलिस, सेना, न्यायालय, कानून का आश्रय लिया है और वह समझता है कि अब वह पूर्ण सुरक्षित है, कोई उसका बाल-बांका भी नहीं कर सकेगा। वह उसी प्रकार स्वयं को सुरक्षित समझता है जैसे मध्यकालीन शासक जिरहबख्तर पहन कर सिंहासन पर बैठनेवाला स्वयं को सुरक्षित समझता था। उसके हथियारबंद, नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों के सुसज्जित सैनिक भी दूर-दूर तक उसकी सुरक्षा के लिए चारों ओर तैनात हैं। इस प्रकार व्यूह बनाकर उसने अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध और भी मजबूत कर लिया है और समझता है कि अब चिड़िया तक पर न मार सकेगी। उसका हृदय पत्थर की तरह कठोर है, उसने अपनी समस्त कोमल भावनाओं, संवेदनों तथा मानवीय भावों को कुचल दिया है। अब वह निर्भय, निर्दय कठोर शासन करने के लिए पूरी तरह तैयार है–सामरिक दृष्टि से भी और मन में भी। उसके नेत्रों में न दया है, करुणा है, न अनुकंपा है। उसके नेत्रों में जो चमक है उसमें भावों की पवित्रता, या उदात्त विचारों की दीप्ति न होकर पाशविक वृत्ति, निष्ठुर हृदय की कठोरता और नृशंस आचरण करने की उमंग से उद्भूत पत्थर सा नुकीलापन है। जिन पर दृष्टि पड़ती है उसके हृदय को छीलती चली जाती है, वह आतंकित हो उठता हे, भय से सिहर उठता है।

विशेष–(१) मध्यकालीन दरबार का बिम्ब बड़ी सशक्त भाषा में प्रयोग किया गया है। (२) उर्दू शब्दों के प्रयोग से यह बिम्ब और भी प्रभावशाली बन गया है क्योंकि यह मध्यकाल के दरबार का चित्र है। (३) मानवीकरण अलंकार है। भूल-ग़लती को शासक के रूप में चित्रित किया गया है। (४) 'चिलकती' देशज शब्द है पर अर्थ-सम्प्रेषण की क्षमता जितनी इस शब्द में है उतनी संस्कृत के किसी तत्सम से नहीं आ पाती। (५) मुक्तिबोध के पिता उज्जैन पुलिस थाने के भीतर दूसरी-तीसरी मंजिल पर रहते थे। अतः मुक्तिबोध ने थाने का दृश्य देखा होगा, दरबार का वर्णन सुना होगा और उसी के आधार पर यह बिम्ब-सृष्टि की है।

(२) सामने, बेचैन घावों..खामोश (पृ. २६)

प्रसंग–मुक्तिबोध अपनी कविता 'भूल-ग़लती' में पहले सिंहासन पर बैठे निरंकुश शासक के दरबार का वर्णन करते हैं तथा उस वर्णन के द्वारा शासक के आतंक, रौब-दौब, शान-शौकत का संकेत करते हैं। फिर उसके दरबार में पेश किये गये अभियुक्त का वर्णन करते हैं। यहाँ अभियुक्त को दी गयी शारीरिक यातना पर उस यातना से अकंपित, अप्रभावित, साहसी, सिद्धान्तों के प्रति पूर्णतः समर्पित क्रान्तिकारी, विद्रोही का चित्र उपस्थित किया गया है।

शब्दार्थ–बेचैन....कटा=शारीरिक यातना देने वालों ने अभियुक्त को इतना मारा-पीटा है कि उसके शरीर पर जगह-जगह घाव हो गये हैं, कोड़ों, लाठियों, चाबुक की मार से जगह-जगह आड़ी तिरछी लकीरें उभर आयी हैं जिन्हें देखकर देखनेवाला का दिल बेचैन हो उठता है। लत्तर=फटे वस्त्र। ईमान=वह व्यक्ति जिसे अभियुक्त बनाकर पेश किया गया है सच्चे अर्थों में धार्मिक है, अपने सिद्धान्तों के प्रति पूर्णतः समर्पित, प्रतिबद्ध और उनके लिए सब कुछ बलिदान, उत्सर्ग करने के लिए तत्पर! सुलतानी=सुलतान, शासक की कठोर, रौबदार, आतंक पैदा करने वाली। बेखौफ=निर्भय, निडर, नीली बिजलियों= उसके नेत्रों से निकलनेवाली दृष्टि में बिजली की तरह चमक, दूसरों को भयभीत तथा प्रभावित करने वाली अजीब शक्ति है।

व्याख्या–अभियुक्त को दरबार में पेश किया जा रहा है। वह सिंहासन पर बैठे शासक

के ठीक सामने खड़ा किया गया है। उसे इतनी शारीरिक यातना दी गयी है, चाबुक, कोड़ों, लाठियों से पीटा गया है कि शरीर पर जगह-जगह घाव हो गये हैं, चमड़ी उधर गयी है, त्वचा पर खून के सूखने पर आड़ी-तिरछी लकीरें पड़ गयी हैं। उन घावों, उधड़ी चमड़ी, सूखे खून की लकीरों को देखकर एक ओर उस तीव्र पीड़ा का अनुमान लगता है जो उसने भोगी होगी और दूसरी देखने वाला उसकी दुर्दशा को देख स्वयं बेचैन हो उठता है। करुणा और भय से सिहर उठता है, करुणा अभियुक्त के प्रति और भय तथा आशंका अपने लिये कि कहीं ऐसा दुर्व्यवहार उसके साथ भी न हो। पर अभियुक्त की मुख-मुद्रा को देख लगता है कि वह उस यातना को सहने के बाद भी अडिग है, दृढ़ है, निष्कंप है। उसके दिल में जो विद्रोह, घृणा, क्रान्ति के भाव उमड़ रहे हैं, उनकी छाया उसके चेहरे पर दिखाई देती है। अतः उसका मुख दृढ़ निश्चय और अडिग संकल्प के कारण, शासक के प्रति घृणा और अवमानना के कारण पत्थर जैसा कठोर हो गया है। उसके हाथों में हथकड़ियों, पैरों में बेड़ियाँ पड़ी हैं। उसका लम्बा डील-डौल है, काठी चौड़ी है, कद ऊँचा है। पर उसके वस्त्र फटे हुए हैं, अतः फटे वस्त्रों के बीच-बीच में उसका बलिष्ठ शरीर झांक रहा है। मार-पीट के समय उसके शरीर के विभिन्न भागों से रक्त बहा होगा पर अब वह रक्त की धारा सूख गयी है अतः केवल सूखे रक्त की धाराएं, गहरे घाव और मारपीट के निशान दिखाई दे रहे हैं। यह व्यक्ति सच्चा था, ईमानदार था, कर्त्तव्य परायण था, अपने सिद्धान्तों और मान्यताओं के प्रति पूर्ण समर्पित एवं प्रतिबद्ध था अतः उसने शोषण, अत्याचार, अन्याय का विरोध किया। इस विरोध के कारण ही उस पर झूठा अभियोग चलाया गया, उस पर सत्ता के विरुद्ध खड़ा होकर जनता को बर्गलाने का अभियोग लगाया गया, बंदी बनाया गया, बंदी-गृह में तरह-तरह की यातनाएँ दी गयीं और अब न्याय का नाटक खेलने के लिए शासक के दरबार में पेश किया जा रहा है ताकि प्रजा की आंखों में धूल झोंककर यह कहा जा सके कि वस्तुतः उसने कानून तोड़ा था अपराध किया था और कानून के मुताबिक, समाज में शांति और सुरक्षा के लिए, अमन-चैन की खातिर उसे दंड दिया जा रहा है।

बन्दी बने अभियुक्त को पता है कि दरबार का निर्णय क्या होगा–लम्बा कारावास या मृत्यु-दंड। पर उसके मन में न डर है, न चिंता और न द्विविधा। अतः वह शासक की आंखों में आंखें डालकर अपनी निरशंक, निर्भय निगाहों से उसे देखता है मानो चुनौती दे रहा है शासक को, उसकी शासन व्यवस्था को, उसके कानून को, उसकी दंड-प्रणाली को। उसकी इस चितवन में बिजली की चमक है, क्रान्ति की ज्वाला है, आग की लपटें हैं। उसके नेत्रों में भय, विनय, गिड़गिड़ाहट और दैत्य का भाव न देखकर, उनके स्थान पर ज्वाला और चुनौती का संकेत पाकर दरबार के लोग आश्चर्यचकित हैं, उन्हें धक्का-सा लगता है और वे स्तब्ध रह जाते हैं। ठगे-से रह जाते हैं। अतः सर्वत्र खामोशी है।

विशेष–(१) चाक्षुष बिम्ब है, लगता है अभियुक्त हमारे सामने खड़ा है। (२) 'बेचैन घाव' विशेषण-विपर्यय अलंकार है घाव बेचैन नहीं होता या तो घाव सहने वाला या उसे देखनेवाला बेचैन होता है। (३) दिल की माप लक्षणा है अतः अर्थ होगा दिल में कसमसाने, भाप की तरह उमड़ते भाव। (४) लत्तर बोलचाल का देशज शब्द है। (५) उर्दू शब्दों के प्रयोग से अभिव्यक्ति प्रभावशाली बन गयी है। (६) सुलतानी निगाहें में मध्यकालीन शासकों-सुल्तानों की कठोर निगाहों का बिम्ब उतारा गया है। (७) निगाहों में निगाहें डालना मुहावरा है। (८) आग का रंग नीला तब होता है जब सबसे अधिक ताप होता है।

(३) सब ख़ामोश..हैं ख़ामोश (पृ. २९-३०)

प्रसंग–दरबार और दरबार में न्याय के लिए पेश किए गये अभियुक्त का चित्र उपस्थित

करने के उपरान्त मुक्तिबोध अपनी कविता 'भूल-ग़लती' में दरबार के विशिष्ट सदस्यों का चित्रण करते हैं जो विद्वान हैं, बुद्धिजीवी हैं जिनकी प्रजा में प्रतिष्ठा है, सम्मान है पर जो या तो शासक के भय से अथवा सुविधाभोगी होने के कारण जानते-समझते हुए भी शासक के अन्याय-अनीति का विरोध नहीं करते।

शब्दार्थ–मनसबदार=मुगल-काल में बादशाह अपने दरबारियों को पद-ओहदे देता है और बड़े-छोटे, अधिक अधिकार प्राप्त तथा कम अधिकार प्राप्त अधिकारियों की पहचान इस बात पर निर्भर करती थी कि उसे कितने क्षेत्र की, कितने गाँवों की मनसबदारी (अधिकार) दिया गया है। शाइर=शायर, कवि। सूफी=सूफी मत मानने वाले सन्त, दार्शनिक, कवि। अलग जाली, इबने सिन्ना। अलबरूनी=मध्यकाल, यवन शासन के प्रतिष्ठित विद्वान, दार्शनिक, अरबी-फारसी-संस्कृत जानने वाले साहित्यकार। आलिफे फाज़िल =प्रकांड पंडित, बहुज्ञानी, विद्वान।

व्याख्या–दरबार लगा हुआ है। सब दरबारी अपनी-अपनी जगह बैठे हैं। इन दरबारियों में पर्याप्त अधिकार प्राप्त सामंत हैं, सूबेदार हैं जिन्हें अपने क्षेत्र में शासन का, कर वसूल करने का पूरा अधिकार है। सेनापति हैं, विद्वान और ज्ञानी हैं, प्रकांड पंडित तथा अपनी-अपनी विद्या में ख्याति प्राप्त लोग हैं, कवि हैं, संत हैं, दार्शनिक हैं। अलबरूनी जैसे विद्वान, जो मुँहफट ग़जनवी के साथ भारत आया था और जो फारसी-संस्कृत का विद्वान ही नहीं यहाँ की नक्षत्रविद्या से परिचित था और जिसने पुस्तकें लिखीं थीं, उस दरबार की शोभा बढ़ा रहे थे। पर सब चुप थे। किसी में कुछ कहने का साहस नहीं था। सब स्वतंत्र राय देने की बजाय सिंहासन पर बैठे शासक का मुँह जोह रहे थे कि उसके मुख से जो भी शब्द निकलें, वे उसके समर्थन में कहें या गर्दन हिलाकर उसके आदेश की ताईद करें। किसी में इतना नैतिक बल और साहस नहीं था कि सच्ची बात कहें, अपनी आत्मा की वाणी का स्वर सुनकर न्यायसंगत बात कहें, शासक को उचित परामर्श दें। शासक के भय, आतंक, रौब-दौब के कारण वे मौन थे। खतरा उठाने तथा सुविधा का जीवन छोड़ने की हिम्मत उनमें नहीं थी। अतः जब अभियुक्त शासक की आँखों में आँखें डालकर, निर्भय होकर उसे चुनौती सी दे रहा था, तब इन लोगों ने कुछ भी कहने की हिम्मत नहीं की। चारों ओर चुप्पी छायी थी, वातावरण स्तब्ध था।

विशेष–(१) कवि मध्यकालीन दरबार के दृश्य द्वारा आधुनिक बुद्धिजीवियों, चिन्तकों तथा साहित्यकारों पर व्यंग्य कर रहा है जो मध्यकालीन सामन्तों की तरह अन्याय को देखकर भी उसकी ओर से आँखें मूंद लेते हैं और चन्द चाँदी के टुकड़ों या सुविधाओं के लिए अपना जमीर, अपनी आत्मा बेचकर शासन का अंधा समर्थन करते हैं। (२) मध्यकालीन दरबार का चित्र है अतः कवि ने प्रचलित उर्दू शब्दों का तथा मध्यकालीन विद्वानों अलग जाली, इबने सिन्ना, अलबरूनी का प्रयोग किया है। (३) इस 'अवतरण' के आरम्भ में 'सब खामोश' और अन्त में भी 'है खामोश' वातावरण की चुप्पी और स्तब्धता को गहरा देते हैं।

(४) नामंजूर..सिर्फ सन्नाटा (पृ. ३०)

प्रसंग–मुक्तिबोध की कविता 'भूल ग़लती' से उद्धृत इन पंक्तियों में निरंकुश शासक के दरबार में उपस्थित अभियुक्त के निर्भीक आचरण तथा मौत के आगे न झुकने के संकल्प का संकेत देते हुए शासक तथा शासित, बुर्जुआ वर्ग तथा सर्वहारा, शोषक शोषित के बीच की खाई, वैषम्य और स्थिति के विषय में कहता है।

व्याख्या–शर्म की सी शर्त–अभियुक्त के सामने उसे छोड़ने, मुक्त करने अर्थात् दंडित न करने के बदले जो कुछ करने और कहने के लिए कहा गया, जो शर्तें रखी गयीं वे किसी भी स्वाभिमानी और सिद्धान्तवादी व्यक्ति को स्वीकार्य नहीं हो सकतीं। उन्हें स्वीकार करना उसके लिए शर्म तथा लज्जा की बात होती और सम्मानित व्यक्ति के लिए वह मृत्यु से भी अधिक

त्रासदायक होता है। अतः जब वे शर्तें अभियुक्त के सामने रखी गयीं तो उसने उन्हें मानने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। उसने अपना पक्का इरादा, दृढ़ संकल्प तथा अन्तिम निर्णय बताने के लिए बड़ी दर्पपूर्ण मुद्रा में अपनी गर्दन हिलाकर उस शर्त को नामंजूर कर दिया। उसका सिर तन गया, उसकी गर्दन सीधी तन गयी और उसकी इस भाव भंगिमा से स्पष्ट हो गया है कि वह किसी के रौब-दौब में, आतंक में, खुशामद में, प्रलोभन में आकर अपना निर्णय नहीं बदल सकता क्योंकि वह अपना स्वामी स्वयं है, आत्म-निर्भर है, उसे न प्रलोभन डिगा सकता है और न भय। वह स्थितप्रज्ञ हो गया है जो सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण से ऊपर उठ गया है। उसकी इस दर्पपूर्ण, स्वाभिमानी, निर्भय तथा महान शक्ति को भी चुनौती दे सकने का साहस दिखानेवाली मुद्रा को देखकर कोई भी दूरदर्शी, समय की नब्ज को पहचानने वाला, विवेकसम्पन्न व्यक्ति अनुमान लगा सकता था कि भविष्य में क्या होने वाला है। उसे स्पष्ट लगता कि सल्तनत पर, शासन करने वालों पर विपत्ति, आपदा, खतरे के घने काले बादल छा रहे हैं, और वे किसी भी क्षण बरस कर सिंहासन को अपने जल की बाढ़ में, तरंगों के आवर्त में डुबा सकते हैं। सत्ता ने अपनी सुरक्षा के लिए जो सुरक्षा-प्रबेन्ध कर रखे हैं, सेना तथा पुलिस का पहरा बिठा रखा है वे उतने ही शक्तिहीन, दुर्बल एवं अक्षय सिद्ध होंगे जैसे कोई धातु के स्थान पर मिट्टी का बना क़वच पहन कर समझे कि वह पूर्णतः सुरक्षित है और शत्रु के पहले ही प्रहार-आघात से क्षत-विक्षत हो गयी जमीन की धूल चाटने लगे और विपक्ष के समक्ष आत्म-समर्पण के लिए विवश हो जाय। सत्ताधारी शासक स्वयं मिट्टी की प्रतिमा सिद्ध हो, रेत के ढेर की तरह पहले ही पदाघात में बिखर जाय। अतः जो आतंक है, शाही रौब-दौब है, धाक है, वह अस्थायी है। सत्ता गिरेगी, सिंहासन लुढ़केगा और उस पर बैठा शाहंशाह धूल चाटेगा।

विशेष–(१) कवि विद्रोही अभिव्यक्त की निर्भय मुद्रा तथा उसके निर्भीक आचरण का संकेत दे बताना चाहता है कि यदि सर्वहारा वर्ग के युवक इसी प्रकार निर्भीक, दृढ़ संकल्प वाले तथा बुर्जुआ वर्ग की सत्ता को चुनौती देने लगें, तो वर्गहीन समाज की स्थापना में, शोषण के समाप्त होने में विलम्ब नहीं होगा। (२) गीता में भी लिखा है–संभावितस्य चाकीर्ति मरणादतिरिच्यते अर्थात् समाज में प्रतिष्ठाप्राप्त व्यक्ति की निन्दा या अपकीति उसके लिए मृत्यु से भी अधिक कष्टप्रद होती है। (३) उर्दू शब्दावली का प्रयोग एक ओर मध्यकालीन दरबार के वातावरण को साकार कर देता है तो दूसरी ओर अभिव्यक्ति को प्रभावशाली बनाता है।

(५) लेकिन, ना..शाही मुकाम में (पृ. ३०)

प्रसंग–ये पंक्तियाँ मुक्तिबोध की कविता 'भूल-ग़लती' से उद्धृत की गयी हैं। शोषकों के विरुद्ध विद्रोह करने वाले युवकों का आह्वान करने, उन्हें निर्भीक, साहसी तथा अपने संकल्प में अडिग रहने का उद्‌बोधन देने के उपरान्त वह समाज की कटु, भयानक पर यथार्थ सचाई की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है।

शब्दार्थ–सांप का काटा=सांप द्वारा काटने पर व्यक्ति को नींद, बेहोशी घेर लेती है और वह चेतना खोकर कुछ नहीं कर पाता, इसी प्रकार समाज शोषण, अत्याचार से त्रस्त तथा धर्म की अफ़ीम खाकर अपनी चेतना, अपना विवेक तथा अपनी कर्म क्षमता ही नहीं कर्म करने की प्रवृत्ति तक गँवा बैठा है। आलमगरि=दुनिया का बादशाह, औरंगजेब के लिए यह शब्द प्रयोग किया जाता था। आलीजाह=उच्चपदस्थ, महान शक्तिसम्पन्न अधिकारी, बादशाह के लिए प्रमुख सम्बोधन। मुकाम=जगह, महल, किला।

व्याख्या–इतिहास में एक दौर आता है जब लगता है कि विद्रोही, विप्लवकारी, शोषण का विरोध करने वाली शक्तियाँ एक जुट हो गयी हैं और सबकी सम्मिलित, सामूहिक शक्ति

शोषकों, पूंजीपतियों तथा निरंकुश शासकों का अस्तित्व मिटा देगी। पर यह स्थिति अधिक देर नहीं टिक पाती। सत्ता धारी कर्म, धर्म, कभी जाति और कभी समुदाय के नाम पर जनता को बर्गलाते हैं, उनमें फूट डालते हैं और अपने षड्यंत्र में सफल हो जाते हैं। जनता अकर्मण्य बन जाती है, विद्रोह की भावना पनपते-पनपते शिथिल पड़ जाती है और निरंकुश, शोषक सत्ताधारी सत्ता को और अधिक अपने कब्जे में कर पुनः सिंहासनरूढ़ होकर जनता को दुर्बल बनाने में प्रयत्नों में संलग्न हो जाते हैं, जनता की दशा सर्पदंश से प्रभावित व्यक्ति की तरह हो जाती है। जैसे सांप द्वारा काटे जाने पर व्यक्ति सोता रहता है, उसकी चेतना लुप्त हो जाती है, वह कुछ नहीं कर पाता, शिथिल और अकर्मण्य बन जाता है, वैसे ही शोषक शक्तियों के आतंक, धार्मिक प्रचार, यथास्थिति बनाये रखने के हेतु जनता को भ्रम में डाले रखने के लिए किये गये उपायों के फ़लस्वरूप, विद्रोह की चिंगारी बुझ जाती है, विद्रोह करने वाली शक्तियाँ, जन-समूह शिथिल पड़ जाती हैं। जनता की फूट का, उसकी कमजोरियों का, वैचारिक प्राप्ति का, उनकी असमंजस में पड़ी मनःस्थिति का लाभ उठाता है। जनता की ये दुर्बलताएं ही शोषक वर्ग की शक्ति बन जाती हैं। ये कमजोरियाँ ही कवच की तरह उसकी, उसके अस्तित्व की उसकी संत्ता की रक्षा करती हैं, और वह पहले से भी अधिक, दर्प, घमंड, आत्मविश्वास तथा चालाकी से शोषण के कार्य में जुट जाता है। शोषण का चक्र नित्य नये भयंकर रूप धारण कर निरंतर चलता रहता है, जनता उसमें पिसती रहती है, उसकी शक्ति दिन-पर-दिन क्षीण होती जाती है, वह शासक से आतंकित हो कायर बन जाती है। बेरहम, दुर्दान्त और चालाक शासक अपनी कूटनीति से सचाई पर पर्दा डालता है, शोषण को राष्ट्र के विकास का नाम देता है और ऐसी आर्थिक नीतियाँ, पंचवर्षीय योजनाएं बनायी जाती हैं। जो ऊपर से लगती हैं कि जनता का कल्याण करने के लिए बनायी गयी हैं, उनसे गरीबी मिटेगी, देश की आय बढ़ेगी, वह आर्थिक विकास करेगा और सब लोग सम्पन्न तथा सुखी होंगे पर वस्तुतः होता यह है कि ग़रीब और ग़रीब तथा अमीर और अधिक अमीर होते जाते हैं, ग़रीब-अमीर के बीच की खाई बढ़ती जाती है। इस पर कटु यथार्थ को, सचाई को या तो ढक दिया जाता है अथवा उसको पूरी तरह नष्ट कर दिया जाता है। सत्य को पहचानना उसी प्रकार कठिन हो जाता है जैसे आँखें निकाले जाने पर, दृष्टि खोने पर व्यक्ति सामने की वस्तु को भी नहीं देख पाता। भौतिकवादी दृष्टि होने के कारण, सबकी आँखें टके पर टकटकी लगाये रहती हैं। सनातन मानवीय मूल्य धराशायी हो जाते हैं। चित्त की कोमलता नष्ट हो जाती है। कोमल, मृदुल, मधुर भावनाओं को देश निकाला दे दिया जाता हैं अतः कोमलता के स्थान पर कठोरता, मैत्री के स्थान पर शत्रुता, सहृदयता के स्थान पर उदासीनता तथा सद्‌वृत्तियों के स्थान पर दूषित वृत्तियाँ अपनाता हुआ समाज पतन के गर्त की ओर तेजी से बढ़ता चला जाता है। इन चिरंतन, सनातन, मानवीय मूल्यों के धराशायी होने के कारण मानव जाति खोखली, अशक्त, निर्जीव हो जाती है। पुराने ज़ीवन-मूल्यों को त्यागने तथा नए जीवन मूल्य न बन पाने के इस संक्रमण-काल में उसकी स्थिति त्रिशंकु के समान हो जाती है। वह धोबी के उस कुत्ते की तरह हो जाता है जो न घर का रहता है न घाट का। सिद्धान्तों, जीवन मूल्यों और मर्यादाओं से विहीन यह समाज उस भवन की तरह होता है जिसकी नींव ही नहीं है या है तो बहुत कमज़ोर तथा आपदा, संकट का एक झोंका भी वह नहीं सह पाता और ताश के पत्तों से बने महल की तरह चरमरा कर गिर जाता है। शोषक वर्ग का जाल फैलता जाता है, शिकंजा कसता जाता है और जनता उसके आक्टोपस जैसे हाथों में पड़कर अपना स्वत्व, अपना अस्तित्व, अपनी अस्मिता खोती जाती है। उसकी दशा उस कैदी की तरह हो जाती है जो एक आलीशान इमारत में बंदी बनाकर रखा गया है। वह एक ओर उस भव्य भवन के ऐश्वर्य, शान शौकत तामझाम से प्रभावित

होता है, चकाचौंध होता है, आतंकित होता है और दूसरी ओर हाथ-पैरों में पड़ी हथकड़ी-बेड़ियाँ उसे हिलने-डुलने तक नहीं देतीं और कारागार के दमघोंट वातावरण में उसका दम घुटता रहता है। शोषण करने वाले शासक का वातावरण भी इसी प्रकार का होता है। इसमें रहने वाले व्यक्ति को स्वेच्छा से कर्म करने की आजादी नहीं होती और अनेक नियंत्रणों, पाबन्दियों तथा अंकुशों के कारण उसका दम घुटता रहता है।

विशेष–(१) 'ज़माना साँप का काटा' द्वारा चेतनाशून्य अकर्मण्य जनजीवन का बिम्ब अत्यंत मूर्त हो उठा है। (२) उर्दू शब्दावली का प्रयोग आतंकपूर्ण वातावरण को सम्प्रेषित करने में पूर्णतः सक्षम है। (३) 'सचाई की आँखें निकालने' द्वारा दो अर्थों की व्यंजना है–सत्य के मार्ग पर चलनेवालों को यातना देना और सत्य को झुठलाकर जनता को धोखे में डालना, बर्गलाना। (४) 'दिल की बस्तियाँ उजाड़ने' में रूपक है और अर्थ है कोमल भावों का निर्वासन।

(६) इतने में, हमी में से...सहम कर रह गये (पृ. ३०-३१)

प्रसंग–ये पंक्तियां मुक्तिबोध की कविता 'भूल ग़लती' से ली गयी हैं। विद्रोही युवक को शासक के सामने पेश किये जाने, शासक के प्रति उसकी अवमानना तथा उपेक्षा का चित्रण करने के उपरान्त कवि बताता है कि शोषक वर्ग की धूर्तता, कूटनीति तथा हथकण्डों के कारण विप्लव सफल नहीं हो पाता। और जनता बेबसी का जीवन बिताने के लिए मजबूर कर दी जाती है। फिर भी कुछ साहसी युवक शाही शिकंजे से मुक्त होकर भाग निकलता है और शासक के समर्थक दरबारी देखते रह जाते हैं।

शब्दार्थ–खुदगर्ज=स्वार्थी, आत्मकेन्द्रित, केवल अपना हित चाहने वाले दूसरों की व्यथा-वेदना के प्रति उदासीन लोग। बा-हथियार=सशस्त्र, अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित, साधन सम्पन्न। बख्तर बन्द=सब ओर से सुरक्षित। समझौते=समझौतावादी, शोषकों से लेन-देन। सौदेबाजी करनेवाले। वहम=सन्देह, शंका। दिल में जबड़ा=हृदय में दूसरों को चबाने, निगल जाने के कठोर, हिंसक विचार या उद्देश्य। दिल में दाढ़ी=पेट में दाढ़ी का अर्थ होता है बहुत चतुर होना, यहाँ भी अर्थ है कि वह व्यक्ति बड़ा धूर्त, चालाक तथा षड्यंत्र रचने वाला है। दुहमुँहेपन=दोहरी चाल चलना, कपट, छल। संजीदा=गंभीर।

व्याख्या–दरबार भरा था। सब अपने-अपने स्थान पर बैठे थे। सुरक्षा का कड़ा प्रबन्ध था। सैनिक सावधान थे। कड़ा पहरा था ताकि अभियुक्त निकल न भागे। पर इस सब के बावजूद विद्रोही युवक उस पहरे के बीच से चुपचाप खिसक गया, किसी को पता तक न चला। जैसे मनुष्य के कंठ से कराह धीरे से निकल पड़ती है वैसे ही वह क्रान्तिकारी इससे पूर्व कि किसी को पता चलता निकल गया। उसके निकल भागने के बाद जब होश आया, वस्तुस्थिति का पता चला तो लोग सभंल कर बैठ गये। पर अब क्या हो सकता था। शेर जाल से निकल भागा था। दरबार में ऐसे अनेक शासन के समर्थक लोग थे जिन्होंने ईमान बेचकर, दूसरों के कंधे पर बंदूक चलाकर, शासन के साथ मोल-भाव, सौदेबाजी कर, अपने सिद्धांतों के बदले कुछ धन और अधिकार पाकर सुविधा का जीवन पा लिया था। ऐसे साधनसम्पन्न लोग जो स्वयं को हर प्रकार से सुरक्षित समझते थे, आत्मकेन्द्रित थे, निश्चिन्त थे क्रान्तिकारी को भागा पाकर सहम गये, उनके मन में नाना प्रकार के वहम, सन्देह तथा शंकाएं उठने लगीं। अब वे अपने भविष्य के सबंध में भी आशंकित हो उठे। उन्हें चिन्ता होने लगी कि जब उनके अधिपति, उनके सरगना की कैद से छूटकर विद्रोही युवक भाग खड़ा हुआ है और कुछ समय में अपने सहयोगियों का संगठन कर विद्रोह करेगा तो फिर उनकी तो हैसियत ही क्या है। वे भी उस क्रान्ति में अपदस्थ होंगे, उनके हाथों से सत्ता छिन जायेगी और कदाचित् उन्हें भी कारावास में सड़ना पड़े या सूली पर चढ़ना पड़े। ये शासन के समर्थक उन सिपहसालारों, सामन्तों तथा

मनसबदारों की तरह थे जो मध्यकाल में बादशाह के दरबार की शोभा बढ़ाते थे। उनकी चारित्रिक विशेषताएं थीं–उनका घाघपन, उनका दुनिया का तजुर्बा, उनकी दोहरी नीति, कपट, धोखा देने में निपुणता, भीतर ही भीतर षड्यंत्र रचकर विपक्षी को निगल जाने की धूर्तता। उनके हृदय पत्थर की तरह कठोर थे, जबड़े शेर की तरह हड्डियाँ तक को चबाने में सक्षम तथा बुद्धि बड़ी पैनी, नुकीली तथा षड्यंत्र रचने में माहिर। अतः उनकी शक्ति अपार थी। पर भरे दरबार में विद्रोही को सबकी आँखों में धूल झोंककर निकल जाने की घटना से सब स्तब्ध थे, सब घबराये हुए थे, सहमे हुए थे और भविष्य के प्रति सशंक तथा चिंतित थे।

विशेष–(१) इन पंक्तियों में कवि ने भाषा का बड़ा कुशल प्रयोग किया है जिसके परिणाम स्वरूप न केवल बिम्ब उभरता है अपितु कथन में धार तथा पैनापन भी आ गया है। (२) कराह सा=उपमा। पर विशेषता यह है कि स्थूल वस्तु या व्यक्ति की तुलना सूझ अनुभूति या संवेग से की गयी है। (३) समझौते से अभिप्राय है समझौता करने वाले व्यक्ति यहाँ भी शब्द का अभिनव और कुशल प्रयोग है। (४) वहमकर रह गये=नया प्रयोग है अर्थ है वहम, सन्देह, शंका से ग्रस्त हो गये। (५) भाषा में लाक्षणिकता है। दिल में जबड़ा या दाढ़ी होना लाक्षणिक प्रयोग है। बुजुर्गी=बुढ़ापा यहाँ अर्थ है कि दुहरी नीति कपट नीति अपनाते, दूसरों को धोखा देते-देते जिंदगी बीत गयी। (६) दढ़ियल का अर्थ पात्र दाढ़ीवाला नहीं है, उसकी व्यंजना है खुर्राट, धूर्त, तजुर्बेकार कपटी।

(७) लेकिन उधर उस ओर...विकट हो जायेगा !! (पृ. ३१)

प्रसंग–ये पंक्तियां मुक्तिबोध की कविता, 'भूल-ग़लती' से ली गयी हैं। भरे दरबार में, कड़े पहरे के बावजूद क्रान्तिकारी युवक सब की आँखों में धूल झोंक निकल भागता है, दरबार के सब लोग संभ्रम में पड़ जाते हैं, सहम जाते हैं, भविष्य के प्रति सशंक हो उठते हैं। पर वह विद्रोही युवक वहां से भागकर जंगलों-पहाड़ों में जाकर छिप जाता है, अपने सहयोगियों को संगठित करता है अतः आशा बंधती है कि वह जनता के साथ किये गये दुर्व्यवहार का, उनकी दीर्घ शोषण एवं उत्पीड़न का बदला लेने के लिए शीघ्र ही उपस्थित होगा और यह काला शासन समाप्त होगा।

शब्दार्थ–किले आदि की दीवारों में वह ऊपरी भाग जिसमें बैठने के लिए थोड़ी जगह होती थी। दर्रा=दो पहाड़ों के बीच का संकरा रास्ता, घाटी। अक्स=परछाईं, प्रतिबिम्ब, छाया। धुंधलका=हल्का अंधकार। मुहैया करना=जुटाना, एकत्र करना। लश्कर=सेना। संकल्प धर्मा चेतना=क्रांति की चेतना जिसने शोषण और उत्पीड़न को समाप्त करने का दृढ़ संकल्प कर लिया है। रक्तप्लावित=रक्तरंजित, हिंसा, विनाश की भावना से युक्त। स्वर्णाक्षर=सुनहरी अक्षरों में लिखा जाने योग्य संदेश, गूढ़ गंभीर इरादा।

व्याख्या–आज के सामाजिक-राजनीतिक आर्थिक जीवन की विद्रूपता, असंगति, मानव मूल्यों में गिरावट, यंत्र युग और भौतिकवादी दृष्टि से क्षुब्ध हो मुक्तिबोध क्रान्ति का उद्‌बोधन करते हैं, युवको को विप्लव करने का आह्वान देते हैं। उन्हें आशा है कि उनका यह उद्‌बोधन और आह्वान बेकार नहीं जाएगा। अपने इसी आशावादी स्वर की वह प्रस्तुत कविता में बिम्ब के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं–

भरे दरबार से पूर्ण सुरक्षा-प्रबंधों के होते हुए भी वह क्रान्तिकारी युवक निकल भागा है। वहाँ से भागकर वह जंगलों, पठारों, पहाड़ों, घाटियों और दुर्गम स्थानों के बीच सुरक्षित स्थान की शरण लेता है ताकि शोषक वर्ग की सेना-पुलिस वहाँ तक न पहुँच सके। यह स्थान ऐसी घाटियों के बीच है जहाँ दिन में भी अंधेरा रहता है, उसके चारों तरफ गोल-गोल टीले हैं, टौरियां हैं, छोटी-छोटी पहाड़ियाँ हैं। घने पेड़ों के दुर्गम, बीहड़ जंगल हैं जहाँ केवल जंगली

मनुष्य, पक्षी, खूंख्वार पशु विचरण करते हैं। इस अनजान, अपरिचित, बेनाम, दुर्गम, पहाड़ी-जंगली इलाके में जाकर यह क्रान्तिकारी, उत्साही, निर्भय और साहसी युवक छिप जाता है—प्राण बचाने के लिए नहीं, अपितु क्रान्तिकारी सेना का संगठन करने के लिए। वह सत्य, नीति, जनता का सच्चा कल्याण और शाश्वत शांति की स्थापना का उद्देश्य लेकर संघर्ष के मार्ग पर चलने को उद्यत है और अपने संकल्प को पूरा करने के लिए, अपना स्वप्न साकार करने के लिए समधर्मा विचारवाले युवकों को एकत्र कर रहा है। सेना संगठित कर रहा है। कवि को विश्वास है कि जब यह सेना संगठित हो जायेगी, उसे आवश्यक साधन, अस्त्र-शस्त्र उपलब्ध हो जाएंगे तो यह सुसज्जित सेना शोषण और उत्पीड़न के गढ़ पर, सत्ता के केन्द्र पर आक्रमण करेगी। उसका लक्ष्य होगा उन दुर्दान्त, कठोर हृदय, सत्तालोलुप, यथास्थिति को कायम रखने वाले शोषक वर्ग का सर्वनाश जिन्होंने धर्म, कूटनीति तथा साधन सम्पन्नता के बल पर सदियों तक निरीह, भोली-भाली, असहाय, निरवलंब जनता का शोषण कर उनका रक्त चूसा है, उन्हें नाना प्रकार की यातनाएं दी हैं, उनका सब कुछ छीन कर उन्हें दर-दर का भिखारी बना दिया है। क्रान्तिकारी सेना का यह दल रक्तपात से, हिंसा से नहीं डरेगा। वह प्रतिनिधित्व करेगा जन-सामान्य की युग-युगों से उत्पीड़ित तथा शोषित जनता की भावनाओं का, आशा-आशंकाओं का। अतः सब उस दल का स्वागत करेंगे, अभिनंदन करेंगे। उसके आगमन पर शेष जनता भी जो अभी मूक है, मौन है, अत्याचार सहन कर रही है, उस दल के साथ मिल जाएगी, संघर्ष को बल मिलेगा, महान उथल-पुथल होगी। यह संघर्ष, शोषक-शोषित के बीच का यह युद्ध भयानक, विकट रूप धारण करेगा और अंत में विजय होगी सर्वहारा वर्ग की। उत्पीड़न और शोषण सदा के लिए समाप्त हो जायेगा।

विशेष–(१)अपनी एक पुस्तक में मुक्तिबोध ने साहित्यकार को परामर्श देते हुए लिखा था–

"अन्धी दीवार से वे टकराते हैं जिन्हें समर्थन का सामर्थ्य नहीं प्राप्त होता।....बुद्धिमानी इसमें है कि दरारें देखो और चुपचाप रेंग जाओ और रेंगते हुए ऊँची से ऊँची सतह तक पहुँचो। यह है वास्तविक जीवन-कला।" इन पंक्तियों में इसी जीवन-कला को प्रस्तुत किया गया है। क्रान्तिकारी युवक बुर्ज के पास पहुँचता है, सघन जंगलों में छिपकर क्रान्ति सेना संगठित करता है। (२) मुक्तिबोध को मध्यप्रदेश के जंगलों, पठारों, दर्रों, घाटियों का पूर्ण परिचय था और वह उस प्राकृतिक परिवेश पर मुग्ध थे अतः उनकी रचनाओं में बार-बार प्रकृति के ये ऊबड़-खाबड़ दृश्य आते हैं और काव्य-गुण को समृद्ध बनाते हैं। (३) उर्दू के शब्द चित्र को प्रभावशाली बनाने में सहयोग देते हैं। बिम्ब को सजीव बना देते हैं।

लकड़ी का बना रावण

कविता परिचय–मुक्तिबोध प्रतिबद्ध विचारक थे। उनकी ज्ञान दृष्टि समाजवाद के प्रति प्रतिबद्ध थी। मार्क्स मानता था कि समाज में दो ही वर्ग हैं–बुर्जुआ और सर्वहारा। इनके बीच संघर्ष तब तक चलता रहेगा जब तक कि वर्गहीन समाज की स्थापना नहीं हो जाती अर्थात् जन पूंजीवाद, बुर्जुआवर्ग समाप्त होगा तभी यह संघर्ष भी समाप्त होगा। उन्हें विश्वास था कि इस संघर्ष के अन्त में सर्वहारा की विजय होगी और पूंजीवादी व्यवस्था तांश के पत्तों से बने महल की तरह घराधराकर गिर जाएगी।

मुक्तिबोध ने रामलीला देखी होगी, उसमें रावण के लकड़ी, कागज के बने पुतले को जलते

और घराघराकर गिरते देखा होगा। उसी से संकेत गृहण कर उन्होंने यह बिम्ब अपनाया है। इस कविता में बताया गया है कि वर्तमान युग में पूंजीपति, उद्योगपति, सत्ताधारी वर्ग समझता है कि वह अन्य सभी से ऊँचा है क्योंकि उसके पास शक्ति है, सत्ता है, उत्पादन के साधन हैं। यदि वह अपनी शक्ति के दंभ में स्वयं को ब्रह्म समझने लगे, जगत् का कर्ता-धर्ता, नियंत्रक मानने लगे, तो आश्चर्य नहीं। वह ऐसा समझकर समाज के दूसरे वर्ग पर–शोषित सर्वहारा वर्ग पर–अत्याचार भी कर रहा है। पर कवि का विश्वास है कि यह दमन-चक्र अधिक दिन तक नहीं चलेगा, सर्वहारा वर्ग में उत्पीड़न, शोषण, अत्याचार के विरुद्ध चेतना जागेगी, क्रान्ति होगी, विप्लव होगा और इस संघर्ष में सर्वहारा की विजय होगी, बुर्जुआ वर्ग अपदस्थ किया जायेगा। अपने इसी विश्वास को वह फैंटेसी के माध्यम से इस कविता में प्रकट कर रहे हैं और बताते हैं कि जिसे हम सर्वभक्षी, दस मुखों वाला तथा अपार बाहुबल वाला दशकन्धर रावण समझे हुए हैं, वस्तुतः वह अपनी ही दुर्बलताओं के कारण लकड़ी-गत्ते से बना पुतला मात्र है और जैसे रामलीला में रावण का पुतला एक ही आघात से धराशायी हो जलकर राख हो जाता है, उसी प्रकार पूंजीवाद की दानवी शक्तियाँ केवल दिन गिन रही हैं। शीघ्र ही उसका विनाश होनेवाला है क्योंकि सर्वहारा वर्ग जाग पड़ा है, सिर उठा रहा है, क्रान्ति का बिगुल बजाने वाला है।

व्याख्या

(१) दीखता...सभी ओर (पृ. ४६)

प्रसंग–मुक्तिबोध फैंटेसी के कवि हैं। अतः कविता के आरंभ में ही वह एक स्वप्न-दृश्य प्रस्तुत करते हैं। उन्हें अंधेरे से, कुहरे से, शीत से आच्छन्न वातावरण से लगाव है, अतः अपनी अनेक कविताओं की तरह यहाँ भी कुहरे का दृश्य प्रस्तुत किया गया है।

शब्दार्थ–त्रिकोण=तीन कोणों वाला। शिखर=चोटी। अनाम, अरूप, अनाकार=जिसका नाम नहीं है, जिसका सुनिश्चित रूप नहीं है जिसकी लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई नहीं बताया जा सकती अतः जो आकारहीन है। मस्मीला=राख के रंग का, भूरा, मटमैला। कटे-पिटे=ऊबड़-खाबड़, कहीं ऊँचा कहीं नीचा। प्रसार=फैलाव।

व्याख्या–कविता का नायक या प्रधान पात्र एक पर्वत की ऊँची चोटी पर बैठा है। यह पर्वत त्रिशूल की तरह है। वहाँ बैठा हुआ ज़ब वह चारों ओर दृष्टि दौड़ाता है, अपने आस-पास देखता है तो उसे लगता है कि चारों ओर एक गहरी, घनी, काली कुहरे की पर्त सारे पर्वत प्रदेश पर छा रही है और सारा प्रान्त उस कुहरे की चोटी चादर में लिपटा हुआ है। वह कुहरा दूर-दूर तक फ़ैला हुआ है, तरल है अतः न उसका कोई निश्चित आकार है, न निश्चित रूप-रंग है और न उसे कोई नाम ही दिया जा सकता है। उस घने कुहरे के कारण चारों ओर अंधेरा है। इस अंधेरा का रंग काला न होकर राख ज़ैसा है। उसे भूरे रंगवाला कहा जा सकता है। इस प्रकार यह पथरीला, पठारी प्रदेश कुहरे तथा उसके कारण उत्पन्न अंधकार में डूबा हुआ है। हमें प्रदेश के ढलानों पर, पार्श्व भागों पर, चट्टानों और ऊँचे-नीचे, ऊबड़-खाबड़ भूखण्डों पर तथा उनके नीचे स्थित पास के मैदानी, समतल प्रदेश पर भी कुहरे की पर्तें दिखाई देती हैं। दूर से ऐसा लगता है कि पर्वत की ऊंचाई के नीचे तलहटी में बसे मैदानी तक जो कुहरे की पर्तें छायी हैं वे मटमैली लहरे हैं और उन्होंने सारे वन-प्रान्तर को आच्छन्न कर लिया है। सर्वत्र कुहरा है, अन्धेरा है, खामोशी है।

विशेष–(१) मुक्तिबोध बिम्ब-सृष्टि में अत्यंत निपुण हैं। यहाँ भी पहाड़ी और उस पर पाये कुहरे के कारण शान्त, मौन, मनहूस वातावरण साकार हो उठा है। (२) मुक्तिबोध ने अनेक नए शब्द गढ़े हैं, विशेषतः विशेषण यहाँ भी 'मस्मीसा' ऐसा ही शब्द है। (३) उन्होंने प्रकृति के रमणीक, कोमल, सुन्दर चित्र बहुत कम उरेहे हैं। अधिकतर उनके प्रकृति-चित्र या तो बीहड़, ऊबड़-खाबड़ प्रकृति के हैं या भयानक आतंकित करने वाली प्रकृति के। इसका एक कारण तो है उनकी कविता का कथ्य और दूसरा है मध्यप्रदेश, जहाँ उनका अधिकांश जीवन बीता, की प्रकृति-सम्पदा।

(२) लेकिन उस कुहरे..परे तक (पृ. ४६)

प्रसंग–ये पंक्तियाँ मुक्तिबोध की प्रसिद्ध कविता, 'लकड़ी का बना रावण' से उद्धृत की गयी हैं। कविता के आरंभ में कुहरे से आच्छन्न पर्वत-प्रदेश का चित्र अंकित करने के उपरान्त उस कुहरे से बहुत दूर स्थित एक ऊँची चोटी और वहाँ बैठे एक व्यक्ति का चित्र प्रस्तुत करता है।

शब्दार्थ–ऊर्ध्वमुखी=आकाश की ओर बढ़ती, ऊँची, गगन-चुम्बी। नोक=चोटी, नुकीली पर्वत-शिखर। मुक्त=जिसके चारों ओर फैलाव है, कुछ और नहीं है। समुतुंग=ऊँची। द्यौ : पिता=अन्तरिक्ष में रहनेवाला संसार का पिता, स्वामी, परमेश्वर। निःसंग=निर्लिप्त, अकेला, सबसे अलग। सर्व-तन्त्र=सब पर शासन करने वाला, सबको नियंत्रण में रखनेवाला, सर्वेसर्वा। अनाकार=आकार विहीन। सुनील=सुन्दर, नीले रंग का। शून्य=आकाश, अन्तरिक्ष। रवि=सूर्य। द्युति-मण्डल=चमकते नक्षत्र, तारा, ग्रह।

व्याख्या–जिस पर्वत-प्रदेश पर कुहरा छाया था और जो राख के रंग के मटमैले अन्धकार में डूबा था, उससे बहुत दूर एक पर्वत शिखर था। उस पर्वत-शिखर के चारों ओर कुछ नहीं था, केवल आकाश का फैलाव था–न जंगल-मैदान थे, न वृक्ष और पर्वत। वह पर्वत-शिखर बहुत ऊँचा था और लगता था कि आकाश को छूने की स्पर्धा कर रहा है। उस ऊँचे पर्वत-शिखर पर जो आकृति दिख रही थी वह किसी भव्य, दीप्तियुक्त अतिप्राकृत अलौकिक सत्ता की थी। लगता था कि वह अन्तरिक्ष में निवास करने वाला दिव्य पुरुष है, परमात्मा है जो सारे ब्रह्मांड, का स्वामी, कर्ता-धर्ता और नियामक है। वह वहाँ खड़ा हुआ था और उसकी मुद्रा, भाव-भंगिमा तथा स्थिति से लगता था कि वह ध्यान मग्न, समाधि लगाए, एकाग्र चित्त से ध्यान करने वाला, आत्म-चिंतन में डूबा ब्रह्म है जिसे किसी से कुछ लेना-देना नहीं है, वह निर्लिप्त है, इच्छा विहीन है, सुख-दुःख से परे है। कुछ ही देर बाद कवि को लगा कि वह दिव्य पुरुष, भव्य आकृति किसी और की नहीं, वह स्वयं है। कवि का तात्पर्य यह है कि निरंकुश, सर्वशक्तिमान सारीसत्ता हाथ में लिये पूंजीवादी व्यवस्था का संचालक स्वयं को दंभ तथा शक्ति के अभिमान के कारण संसार का धाता-विधाता, नियामक-नियंत्रक, स्वामी-संचालक समझने लगता है और मानता है कि वही सारे जगत् का मालिक है, सर्वत्र उसी का शासन है, आधिपत्य है। वह स्वायत्त है, स्वतंत्र है शेष सब उसके अधीन गुलाम हैं, शासित हैं। जो कुछ वह कहता है वही सत्य है, वही कानून है। चित् केवल वही है, शेष सब जड़ हैं। सोचने विचारने, कार्य करने की शक्ति उसी में है, शेष सब उसकी कठपुतली हैं। अपने को स्वयंभू, सर्वशक्तिमान और सब पर नियंत्रण करने वाला समझने के दंभ में वह ईश्वर को भी कुछ नहीं मानता। वह समझने लगता है कि इस ब्रह्मांड का अस्तित्व उसी के कारण है, प्राकृतिक शक्तियों को उसने अपने वश में कर लिया है–अग्नि, जल, वायु सब उसके अधीन हैं। यह ब्रह्मांड उसी के विराट, चौड़े, सबल कन्धों पर टिका है और यदि चाहे तो अपने एक इशारे से, उसे मिट्टी की कच्ची हांडी की तरह पटककर उसे टुकड़े-टुकड़े कर सकता है। सूर्य, चन्द्र तारें, नक्षत्रों, गृह-पिण्डों से रचित दूर-दूर तक

फैला नीला आकाश ही नहीं, उसके परे भी जो अन्य लोक हैं वे सब उसी के अधीन हैं, उसी पर आश्रित हैं। वह सबका स्वामी है। उसकी सत्ता सार्वभौम है। उसे कोई चुनौती नहीं दे सकता।

विशेष–(१) पूंजीवादी व्यवस्था पर व्यंग्य है कि पूंजीपति, सत्ताधारी अपनी सत्ता के दंभ में, निरंकुश होकर स्वयं को परमेश्वर समझने लगाता है। (२) चाक्षुष बिम्ब की दृष्टि से ये पंक्तियाँ बड़ी सशक्त हैं। (३) निःसंग, ध्यान-मग्न में भी करारा व्यंग्य है। सत्ताधारी निरंकुश शासक दूसरों के सुख-दुःख से निर्लिप्त हो केवल अपने विषय में सोचता है, आत्मकेन्द्रित रहता है। (४) यहाँ सर्व-तन्त्र और स्वतंत्र राजनीति की शब्दावली है, वहाँ सत्-चित् अध्यात्म के शब्द हैं। दोनों का घालमेल कर मुक्तिबोध संकेत करते हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था का संचालक कहे कुछ भी पर वह होता है सत्ता लोलुप और एकाधिकार की कामना करने वाला। (५) भाषा संस्कृत गर्भित है, प्रसंग के अनुरूप है क्योंकि यहाँ वह हिन्दू दर्शन में चित्रित ब्रह्म और ब्रह्मांड का बिम्ब अंकित कर रहा है।

(३) दोनों हम..प्रकार को (पृ. ४६-४७)

प्रसंग–कविता के आरंभ में पर्वत प्रदेश के चारों ओर घिरे कुहरे तथा अन्धकार का चित्र अंकित करने के बाद कवि पुनः यहाँ उसी कुहरीले, अन्धकार युक्त वातावरण का चित्र उपस्थित करता है–

शब्दार्थ–शून्य=आकाश, अन्तरिक्ष। जड़ीभूत=जड़, निष्प्राण, निर्जीव, गतिहीन। लहरीला=लहराता हुआ, कांपता हुआ। प्रसार=फैलाव।

व्याख्या–ऊँचे पर्वत-शिखर पर कवि बैठा है। उसके ऊपर आकाश है जो दूर-दूर तक फैला हुआ है। पर्वत पर बैठा कवि तथा उसके सिर पर ढंका आसमान दोनों अपने चारों ओर दृष्टि दौड़ाते हैं तो दूर-दूर तक उन्हें कोहरा और कोहरे के कारण उत्पन्न अन्धकार ही दिखाई देता है। समय के साथ-साथ कुहरे और अन्धकार दीनों की पर्तें घनी, ठोस और गहरी होती जा रही हैं। इनका रंग मटमैला है और ठोस होने के कारण उनमें किसी प्रकार की गति नहीं है। वह पत्थर की तरह जम गया है। ऐसा लगता है कि चारों ओर के प्रदेश को घने-मोटे कम्बल ने ढंक लिया है अतः प्रदेश के सभी पदार्थ–पर्वत की गुफाएँ, कन्दराएँ, तालाब, वृक्ष, लता आदि अन्धेरे में छिप गये हैं। पता ही नहीं चलता कि कहाँ नदी है, कहाँ तालाब, कहाँ पर्वत शिखर है, और कहाँ चट्टानों के बीच छिपी गुफा; कहाँ खाई है, कहाँ खड्ड। इस प्रकार दूर-दूर मीलों तक बस घटाटोप अन्धकार ही अंधकार है, हाथ को हाथ नहीं सूझता। कभी-कभी जब तेज़ हवा का झोंका आता है, तब ऐसा लगता है कि कुहरा हिल रहा है, अन्धकार के कंबल में सलवटें पड़ रही हैं, वातावरण की जड़ता कुछ कम हो रही है।

विशेष–(१) वातावरण की भयावहता का संकेत करने के लिए अन्यत्र भी मुक्तिबोध ने घने कुहरे तथा मटमैले अन्धकार के बिम्ब अंकित किये हैं। (२) मध्यप्रदेश के निवासी होने के कारण वह यत्र-तत्र कन्दराओं, गुफाओं, बावड़ी, तालाबों, पठारों का चित्र अंकित करते हैं और उनके द्वारा कविता में मूर्तिमान चित्र तथा अवचेतन, मन में छिपे भावों की व्यंजना करते हैं। (३) नये शब्द गढ़ने में भी वह निपुण है–यहाँ 'लहरीला' शब्द उनका अपना गढ़ा है।

(४) अकस्मात् दोनों हम..हाय ! हाय (पृ. ४७)

प्रसंग–मुक्तिबोध के काव्य में कुहरा, अन्धकार, बर्फीली चट्टानें कहीं अवचेतन मन में छाये अज्ञान का, जड़ता का, मोह-क्रान्ति का प्रतीक है तो कहीं जनता की जड़ता, निष्क्रियता, निराशा तथा मोहाच्छन्न मनोदशा का। इससे पूर्व की पंक्तियों में कुहरे तथा अन्धकाराच्छन्न वातावरण

का चित्रण कर वह जनता की इसी निराश जड़, अकर्मण्य स्थिति का संकेत करता है। पर यहाँ वह बता रहा है कि जड़ जड़ता धीरे-धीरे कम हो रही है, जनता के मन में हलचल हो रही है और वह मोह-निद्रा से जाग रही है।

शब्दार्थ–कम्बल=कुहरे का कम्बल, घनी पर्त, जनता की जड़ता, निष्क्रियता। आन्दोलन=जनता द्वारा शोषकों, अत्याचारियों के विरुद्ध चेतना जागृत होने पर क्रान्ति विद्रोह की भावना। लहरीला=लहराता हुआ, गतिमान। असंयम=असन्तोष, क्षोभ के कारण विद्रोह की भावना, हलचल, कुछ करने की बेचैनी।

व्याख्या–उस अन्धकार, कुहरे से आच्छन्न जड़ता और अवसाद भरे वातावरण में चुपचाप रहने और उसे देखते रहने के बाद कवि को लगता है कि कुहरा जड़ नहीं है, उसमें गति हो रही है, वह कांप रहा है, हिल रहा है। इस गति को केवल वहीं नहीं, शून्य आकाश भी जो चारों ओर दूर-दूर तक फैला है अर्थात् सारी दुनिया, संसार के सभी लोग देखते और अनुभव करते हैं। इसी प्रकार जो जनता अभी तक अज्ञान और मोह की नींद में सोई पड़ी थी उसे अपने कष्टों और आपदाओं के मूल कारण की जानकारी नहीं थी और जो अपने भाग्य को, अपने कर्मों को सारी मुसीबत का कारण मानती थी, अब सही कारण जान रही है, उसे पता चल रहा है कि उसकी दुर्वस्था का, उसके शोक-ताप का, उसके कष्टों का कारण आर्थिक व्यवस्था है, उस व्यवस्था को बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील पूंजीपति तथा बुर्जआ वर्ग के लोग हैं। असली कारण जानने के बाद उनमें उस आर्थिक-व्यवस्था को, पूंजीवाद को राजनीतिक सत्ता पर केवल कुछ इने-गिने लोगों के एकाधिकार को समाप्त करने का विचार जागता है। वे एक-दूसरे से विचार-विनिमय करते हैं। समान विचार वाले लोग एकत्र होते हैं, संगठित होते हैं और इस संगठन का परिणाम होता है किसी क्रान्तिकारी दल का गठन और उसके द्वारा न केवल विचारों के क्षेत्र में हलचल अपितु कर्म के क्षेत्र में भी नई गति-विधि। इसी वैचारिक तथा कर्म के क्षेत्र में होनेवाली हलचल को कवि कम्बल में होने वाली हलचल कहता है। कम्बल का हिलना, उसमें सलवटें पड़ना, इस बात का संकेत है कि जो कम्बल के नीचे लेटा है, सो रहा है, वह जाग रहा है, करवट बदल रहा है, उमसें सुगबुगाहट हो रही है। वह जड़ता, निष्क्रियता त्याग कर जागने वाला है। इसी प्रकार जो जनता अब तक मोह और अज्ञान, जड़ता और अकर्मण्यता की नींद सो रही थी उसकी नींद टूट रही है, उसका मोह-भंग हो रहा है, उसमें नई चेतना, नई विचारधारा, कर्म करने की स्फूर्ति पैदा हो रही है, वह कुछ करने को बेचैन है। कवि अनुभव करता है कि यह हलचल, यह नई चेतना, यह मोह-भंग आन्दोलन की सत्ता के विरुद्ध विद्रोह की पहली सीढ़ी है और इस सीढ़ी पर चढ़ने के बाद वह पीछे मुडकर नहीं देखेगी, ऊपर चढ़ती चली जाएगी। क्रान्तिकारी शक्तियाँ संगठित होकर सम्पूर्ण क्रान्ति करेंगी। पर ये शक्तियाँ एक बार सक्रिय तो होती हैं पर शीघ्र ही अनेक कारणों से जिनमें सत्ताधारी शोषकवर्ग की कूटनीति, षड्यंत्र क्रान्तिकारियों का दमन भी सम्मिलित है, ये क्रान्तिकारी लोग चुप होकर बैठ जाते हैं, क्रान्तिकारी दलों की गति-विधि शिथिल पड़ जाती है, उनके कार्यों की गति मन्द पड़ जाती है अतः लगता है कि जो कवि ने सोचा था, अनुमान लगाया था कि क्रान्ति, आन्दोलन होने वाला है, वह ग़लत था, उसका भ्रम मात्र था।

पर वह निश्चय नहीं कर पा रहा कि वस्तुस्थिति क्या है, सच क्या है। कभी लगता है कि आन्दोलन होने वाला है, कभी लगता है कि आन्दोलन की कल्पना, कल्पना मात्र थी, केवल उसका भ्रम था क्योंकि क्रान्ति नहीं हुई, क्रान्ति का कोई ठोस परिणाम नहीं दिखाई दिया। फिर भी अब पहली जैसी जड़ता नहीं है, निष्क्रियता नहीं है, कहीं-न-कहीं कुछ न कुछ सुगबुगाहट

अवश्य है। कुहरा हिल रहा है, कम्बल को हटाने के लिए उसके नीचे लेटा व्यक्ति कुलबुला रहा है, वह उसे हटाकर बाहर आने को बेचैन है। इसी प्रकार जनता में बेचैनी है, अकुलाहट है, वह पहले की तरह संयम, अनुशासन में शान्त नहीं है, वह नियमों को तोड़, कानून को भंग कर अनुशासन की मर्यादा से बाहर आने को बेचैन है और यही बेचैनी भविष्य की घटनाओं का निर्धारण करेगी।

विशेष–(१) कम्बल के नीचे सोये व्यक्ति के बिम्ब द्वारा जनता में हो रही सुगुबुगाहट का, बेचैनी का संकेत दिया गया है। (२) प्रश्नवाचक वाक्य और कहीं-कहीं प्रश्नवाचक एक शब्द द्वारा कवि अपनी अभिव्यक्ति को प्रभावशाली बना देने की कला में निपुण है।

(५) क्या है यह...घटना का मोड़ यह। (पृ. ४७-४८)

प्रसंग–ये पंक्तियाँ मुक्तिबोध रचित 'लकड़ी का बना रावण' से उद्धृत की गयी हैं। कविता के आरंभ में कवि पर्वत-प्रदेश के चारों ओर घने कुहरे तथा अन्धकार फैलने का वर्णन करने के उपरान्त उस कुहरे में सलवटें पड़ने, उसके हिलने की बात कहता है। कुहरा वस्तुतः जनता के मन में छायी जड़ता, निराशा, निष्क्रियता का प्रतीक है। अब उसमें चेतना जाग रही है, इस नई जागृत होती चेतना का आभास तो कवि को होता है, पर वह अनिश्चय की स्थिति में है। उसे आरंभ में लगता है कि वह मात्र उसका भ्रम है। पर धीरे-धीरे उसे स्पष्ट दिखने लगता है कि यह भ्रम नहीं, सत्य है।

शब्दार्थ–उसाँस=दीर्घ निःश्वास, गहरा उच्छ्वास, लम्बी सांस जो चिन्ता, शोक या बेचैनी की मनोदशा में निकलती है। कुहरा=जनता की जड़ मनोदशा। अरूप अनाम=जैसे कुहरे का कोई निश्चित आकार, रूप और नाम नहीं होता। उसी प्रकार उमड़ते हुए, क्रान्ति के लिए तत्पर, भीड़, जन-समूह को कोई रूप, आकार, नाम नहीं होता। मॉब-मैन्टेलिटी अरूप, अनाम होती है, भीड़ का मनोविज्ञान अनिश्चित होता है, वह कब क्या कर बैठे, यह पता नहीं। कई आकृति रूप बनते=इसी भीड़ में से, जन-समूह में से कुछ व्यक्ति अगुआ, नेता बनकर क्रान्तिकारियों को संगठित कर, उनका नेतृत्व कर उन्हें दिशा निर्देश देकर क्रान्ति को ठोस आकार देते हैं। अशंक, असंख्य, उग्र=शेष जनसमूह निर्भय होकर, प्राणों की चिन्ता न कर, उग्र, हिंसक बनकर विद्रोह करता है, सत्ता का तख्ता उलट देता है।

व्याख्या–कवि अब तक अनिर्णय कि स्थिति में था। वह निश्चय नहीं कर पा रहा था कि जनता में क्रान्ति का भाव उमड़ रहा है या वह केवल उसका भ्रम है, उसकी कल्पना, उसके भविष्य संबंधी स्वप्न की ही प्रतिच्छवि है। पर कुछ समय बाद स्थिति स्पष्ट होने लगती है, जिसे वह भ्रम समझे था, वह सत्य होने लगता है तो स्वयं भावविकलता, विचारों की निबिड़ता, आशा और बेचैनी, उत्सुकता और आतुरता के कारण उसके श्वासों की गति तीव्र होने लगती है। नये भाव, नये विचार, नई आशा, स्वप्न को साकार होते देखकर मन की उत्फुल्लता के कारण वह गहरी उसांसें भरने लगता है। उधर वह देखता है कि कुहरे में पड़ी सलवटें, लकीरें, तरंगें गतिशील हो रही हैं, जड़ कुहरे में प्रकम्पन हो रहा है। उनमें से कुछ तरंगें एक दूसरे से जुड़ रही हैं, वे एक दूसरे के पास आकर सघन हो रही हैं। कुछ टकरा रही हैं। इसका अर्थ है कि जनता में चेतना जागृत होने पर, क्रान्ति की भावना का उदय होने पर जनता के विचित्र दल, अब तक अलग-अलग कार्य कर रहे गुट परस्पर सम्पर्क में आते हैं, विचार-विनिमय करते हैं और इस विचार-विनिमय के बाद विचारों, जीवनोद्देश्य, लक्ष्य की समानता देखकर एक हो जाते हैं, संगठित होने लगते हैं। संगठित होने पर उनकी शक्ति दुर्जेय हो जाती है। सत्ताधारियों को, जनता की शक्ति को न पहचान सकनेवालों को यह परिवर्तन, जनता की यह जागृति, उसका यह संगठन पहले मज़ाक लगता है, प्रहसन जैसा लगता है, उन्हें विश्वास ही नहीं होता कि

ऐसा कुछ हो सकता है। भीड़ जिसके अनेक समूह, अनेक गुट जो अलग-अलग नारे लगाते थे, जितनी ढफली उतने राग बजाते थे, जो बिखरे हुए थे, एक जुट हो सकते हैं, महान और अपराजेय शक्ति बन सकते हैं, पर वस्तुस्थिति उनके भ्रम को तोड़ देती है। वे स्वयं देखते हैं कि उस कुहरे में से कुछ आकृतियाँ बन रही हैं, कुछ स्पष्ट रूपाकार उभर रहे हैं, और ठोस चेहरे वाले व्यक्ति सामने आ रहे हैं। तात्पर्य यह है कि भीड़ में से कुछ लोग नेता, अगुआ, मार्गदर्शक बनकर क्रान्ति का मार्ग, विद्रोह का पथ तैयार करते हैं और शेष जनता का मार्ग-दर्शन करते हैं। नेता आगे-आगे चलते हैं और शेष अनगिनत् लोग निःशंक होकर, प्राणों की चिन्ता न कर, उग्र रूप धारण कर हिंसा पर उतारू हो क्रान्ति करते हैं। कभी मूक पशु के समान नतग्रीव, शक्तिहीन, कायर, यथास्थिति बनाये रखने में ही अपनी कुशल समझनेवाली निरीह जनता क्रान्ति करेगी, ऐसी किसी को न आशा थी, न अपेक्षा। अतः इस अप्रत्याशित घटना को देख, परिस्थितियाँ इस प्रकार मोड़ लेंगी इसका स्वप्न में भी विचार न करने वाले हैं। ठगे-से रह गये, आश्चर्य, विमूढ़ हो गये। वस्तुतः यह घटना अभूतपूर्व थी, अजीबोग़रीब थी, सबको आश्चर्य चकित करने वाली थी।

विशेष–(१) कुहरे का प्रतीक रूप में प्रयोग किया गया है (२) बिम्ब और प्रतीक द्वारा अर्थ को स्पष्ट किया गया है। (३) मुड़ रही..........गुंथ रहीं–लयात्मकता है। (४) अरूप, अनाम द्वारा भीड़ के मनोविज्ञान के ओर माँब मैन्टेलिटी की ओर संकेत है। (५) रूस की क्रान्ति विश्व के लिए एक अजीबोगरीब घटना ही थी जो नितांत अप्रत्याशित थी। वह 'न भूतो न भविष्यति' जैसी थी।

(६) अचानक भीतर से..घोरतर (पृ. ४८)

प्रसंग–ये काव्य-पंक्तियाँ मुक्तिबोध की कविता, 'लकड़ी का बना रावण' से उद्धृत की गयी हैं। जनता में क्रान्ति की भावना, शोषकों के प्रति आक्रोश का भाव उमड़ते देख सत्ताधारी पर क्या प्रतिक्रिया होती है, इसका वर्णन इन पंक्तियों में किया गया है।

शब्दार्थ–भीतर के अपने से=सत्ताधारी का आत्मविश्वास, अपनी शक्ति पर भरोसा। खसा=ढीला पड़ा, शिथिल पड़ा। हम सब=शोषक वर्ग, बुर्जुआ वर्ग के लोग। समुत्तुंग शिखरों=सत्ता, शक्ति, साधनों को प्राप्त कर वे लोग स्वयं को सब संकटों, खतरों, विरोधों से सुरक्षित मानते थे। जीवन.......क्रम थे=संसार में उन्हें यश, कीर्ति, सुनाम प्राप्त था। लोग उनकी प्रशंसा करते थे। गुण-गान करते थे। अहं-हुंकृति=अपने अभिमान, दर्प, अहं भाव के कारण उन्होंने अपनी इच्छा को ही कानून बना डाला था और जनता को वही कानून मानना पड़ता था। दुःसह=असह्य, बर्दाश्त के बाहर, कष्टकर। लभ=लाखों, असंख्य। घोरतर=भयंकर, डरावने।

व्याख्या–जनता में विद्रोह और क्रान्ति के भाव उमड़ते देख उन्हें क्रान्ति के लिए उद्यत पाकर सत्ताधारी वर्ग, पूंजीपति व्यवस्था के संचालक, साधन सम्पन्न बुर्जुआ वर्ग के लोग घबरा गये, उनमें आतंक की लहर फैल गयी; वे आशंकित हो उठे कि अब उनके अस्तित्व को ख़तरा पैदा हो रहा है। उनका आत्म-विश्वास, अपनी शक्ति पर भरोसा, सुरक्षा की भावना शिथिल होने लगे और संदेह, आशंका तथा भय ने उन्हें धर दबोचा। उनका रक्तचाप बढ़ने लगा, नसें ढीली पड़ने लगीं, वे शारीरिक दुर्बलता महसूस करने लगे। उनके हाथ-पैर कांपने लगे, श्वास-प्रश्वास की गति तीव्र हो उठी। सर्वत्र भय, आतंक और संकट का भय छा गया। अब तक वे लोग स्वयं को पूर्णतः समझते थे, उन्हें किसी भी दिशा से ख़तरे की संभावना नहीं थी, वे पूर्णतः आश्वस्त थे कि वे चिरकाल तक सत्तारूढ़ रहेंगे, उनकी सत्ता को कोई चुनौती तक न देगा। उनका यश और कीर्ति चारों ओर फैली थी। उनका भय था, रौब था, दबदबा था।

सब लोग नतमस्तक होकर उनके आदेशों का पालन करते थे; कवि, साहित्यकार, भाट-चारण सब उनकी प्रशंसा में कविता-पाठ करते थे, स्तुति करते थे। उनकी इच्छा ही कानून था, उनके संकेत से ही सारा राज्य-कार्य चलता था। पर अचानक स्थिति बदल गयी। जनता में चेतना जागी, उन्हें अपने अधिकारों का ज्ञान तथा सत्ताधारी पूंजीवादी शोषक व्यवस्था की अनीति का पता चला। रहस्य खुलते ही वे आपे से बाहर हो उठे, हज़ारों वर्षों से दबी चिन्गारी सुलग उठी, सोया हुआ ज्वालामुखी जाग पड़ा और लगा कि अब विस्फोट होने में देर नहीं और विस्फोट होते ही सारा दृश्य, सारी स्थिति, सम्पूर्ण व्यवस्था बदल जायेगी। सत्ताधारी को सिंहासन छोड़ना पड़ेगा और उसका स्थान लेगी जनता या जनता के प्रतिनिधि। इस परिवर्तन की आशंका ने ही सत्तारूढ़ लोगों के दिलों को दहला दिया। उनके लिए यह परिवर्तन अप्रत्याशित था। असह्य था। उन्हें लगा कि कुहरे में से लाखों दैत्याकार आकृतियाँ प्रकट होकर उनकी ओर बढ़ रही हैं। उनके लाखों विकराल मुख, पुष्ट वक्ष, लम्बी बांहें इन शोषकों पर झपट रहे हैं और वे उनका सामना नहीं कर पाएंगे, उनके विकराल मुखों नें, समा जाएंगे, उनकी दाढ़ों के बीच उनके सिर चूर-चूर हो जाएंगे, उनका अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। इस भयानक लोमहर्षक दृश्य को देखते ही वे संज्ञाशून्य होने लगते हैं, भय से कांपने लगते हैं।

विशेष–(१) दैत्याकार आकृतियाँ क्रान्तिकारियों की हैं जो अब तक भीड़ के अरूप, अनाम और व्यक्तिहीन अंश थे पर अब क्रान्ति की चेतना जागने पर, अपनी शक्ति पहचानने पर विकराल, उग्र एवं हिंसक बन गये हैं। (२) लेखक बताना चाहता है कि पूंजीपति, बुर्जुआ तथा स्वयं को अभिजात वर्ग कहनेवाले लोग वस्तुतः बड़े कायर होते हैं, रामलीला में बने लकड़ी-गत्ते के बने रावण के पुतले होते हैं जिनमें एक आघात सहने की शक्ति भी नहीं होती। (३) अपनी बात को रेखांकित करने के लिए कवि पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करता है–गिरा कुछ, खसा कुछ। (४) नये शब्द गढ़ने में भी कवि निपुण है। अहं-हुंकृति ऐसा ही शब्द है।

(७) जी नहीं वे सिर्फ..मुख वे (पृ. ४८-४६)

प्रसंग–ये पंक्तियाँ मुक्तिबोध की कविता, 'लकड़ी का बना रावण' से उद्धृत की गयी हैं। शोषक वर्ग के अत्याचारों से उत्तेजित हो जनता में क्रान्ति की लहर दौड़ती है। उस क्रान्ति का पूर्वाभास होने पर बुर्जुआ लोग पहले उसे भ्रम समझते हैं पर धीरे-धीरे उन्हें सचाई का पता चलता है कि जिसे वे भ्रम समझे थे वह सच्चाई है, वस्तुतः जनता विद्रोह करने पर उतारू है।

शब्दार्थ–घनीभूत= ज़मी हुई, ठोस। प्रतिमा=मूर्ति, आकृति।

व्याख्या–जिन विद्रोहियों, क्रान्तिकारियों को मैं ठोस व्यक्तित्व वाला व्यक्ति न समझकर लुंजपुंज, शक्तिहीन, मूसे की मूर्ति या कुहरे की बनी आकृति समझ रहा था, वस्तुतः वह मेरा भ्रम था। सचाई तो यह है कि वे सुदृढ़ व्यक्तित्व वाले दृढ़ निश्चय तथा पूर्ण संकल्प के साथ क्रान्ति करने के लिए कटिबद्ध उग्र विप्लवकारी थे। उनके शरीर, उनका व्यक्तित्व सुदृढ़ था। उनकी शरीराकृति देखकर, उनकी पुष्ट भुजाओं और चौड़े वक्ष को देखकर लगता था कि वे मोम के पुतले न होकर लोहे या पत्थर के बने हैं और उनमें प्रतिपक्षी को पराजित करने की अपार शक्ति है, दृढ़ निश्चय है। मैं उन्हें कुहरे की बनी आकृति मानकर स्वयं को धोखा दे रहा था, वह केवल आत्म-प्रवंचना थी। उनके हृष्टपुष्ट शरीर, आजानुबाहु, चौड़े वक्ष उनकी शारीरिक शक्ति का संकेत देते हैं और उनका मनोबल भी बहुत ऊँचा है। वे कोई ख़तरा उठाने, कोई भी चुनौती स्वीकार करने के लिए तैयार हैं। अतः ये क्रान्तिकारी सत्ताधारी, शोषक वर्ग तथा मठाधीशों के लिए ख़तरा बन गये हैं। उन्होंने इन यथास्थिति बनाये रखने वालों को ललकारा है, उनको समाप्त करने की मुहिम छेड़ दी है अतः शोषक बुर्जुआ वर्ग घबरा रहा है, आतंकित है। इस क्रान्तिदल में कुछ लोग ऐसे भी हैं जिन्हें सत्ताधारियों ने पहले भी सुगबुगाहट करने,

अपने विरुद्ध गुपचुप बातें करने, क्रान्ति की बातें करते देखा-सुना था। वे नितान्त अपरिचित नहीं हैं।

विशेष–(१) लेखक ने बुर्जुआ वर्ग के मनोविज्ञान की ओर संकेत किया है कि वे अपनी सत्ता के मद में चूर बहुत समय तक क्रान्तिकारी शक्तियों की सुगबुगाहट देखकर भी अनदेखा करते रहते हैं। अपने बनाये स्वप्न लोक में डूबे रहते हैं।

(८) डरता हूं..यह कुहरा ? (पृ. ४६)

प्रसंग–क्रान्ति की लपटों को निकट आते देख पूंजीपति, सत्ताधारी वर्ग आतंकित हो उठता है। उसे लगता है कि अब ये विद्रोही ताकतें रोके नहीं रुकेंगी।

शब्दार्थ–उत्तुंग=ऊँचा। शिखर=चोटी, सत्ता का सिंहासन, सत्ताधारी का एकाधिकार। पत्थर.........कुहरा=जिन्हें नगण्य या तुच्छ समझा था वे शक्तिशाली क्रान्ति के दूत।

व्याख्या–सिंहासन पर बैठा सम्राट, सत्ता पर पूर्ण एकाधिकार करने वाले शासक, आर्थिक क्षेत्र में सबकुछ हथियाने वाले तथा अर्थ-तंत्र को अपने अधिकार में समेटे ये धनवान, शोषक लोग क्रान्तिकारियों के उमड़ते, आगे बढ़ते दल को देखकर भयाक्रान्त हो उठते हैं। उन्हें लगता है कि यह दल उन्हीं की ओर बढ़ रहा है और शीघ्र ही उन पर आक्रमण करेगा। इस आक्रमण में उनकी पराजय होगी, वे अपदस्थ किये जाएंगे, उस सिंहासन पर जिस पर वे हजारों वर्षों से बैठे, रौब से शासन कर रहे थे, निरीह प्रजा का शोषण कर रहे थे, इन क्रान्तिकारियों का अधिकार हो जायेगा, उन्हें सिंहासन से ढकेल कर वे स्वयं उस पर बैठेंगे। सम्राटों, एकाधिकार प्राप्त निरंकुश शासकों का पूंजीपति बुर्जुआ वर्ग के एकाधिपत्य का अन्त होगा। सर्वहारा वर्ग की विजय होगी। वर्गहीन समाज की स्थापना होगी। शोषण-मुक्त समाज प्रगति करेगा। सब जगह सुख-चैन होगा।

(६) बढ़ न जायँ..छू न जायँ (पृ. ४६)

प्रसंग–ये पंक्तियाँ मुक्तिबोध रचित कविता 'लकड़ी का बना रावण' से उद्धृत की गयी हैं। क्रान्तिकारियों के दल को उग्र मुद्रा में तथा हिंसा वृत्ति से उत्प्रेरित देखता है तो सत्ताधारी का मन अनेक आशंकाओं से घिर उठता है। उसी आशंका और भय से आक्रान्त मनःस्थिति का चित्रण कवि यहाँ कर रहा है।

शब्दार्थ–स्वर्णाभ=सुनहरे रंग के, ऐश्वर्य तथा वैभव से दमकते हुए। जनतंत्री=जन-तंत्र में विश्वास करने वाले, राजतंत्र, साम्राज्यवाद के शत्रु, विप्लव करने के लिए उतारू। वानर=बन्दर, जिनको पूंजीपतियों ने असभ्य, पशु मानकर सदा तिरस्कृत किया था, मानव होने के नाते सम्मान का अधिकारी स्वीकार न किया था। मूढ़ों=मूर्ख, बर्गलाये, बहकाये गये, भ्रष्ट बुद्धि। प्रसार=फैलाव, कुहरे के बादल। शिखरस्थ=चोटी पर, सत्ता के सिंहासन पर बैठे।

व्याख्या–सत्ता के सिंहासन पर बैठा शासक, अर्थ-व्यवस्था का संचालन करने वाला पूंजीपति-उद्योगपति, यथास्थिति को बनाए रखने के लिए आतुर नेता सभी को क्रान्ति करने वालों, सत्ता को उखाड़ फेंक कर प्रजातंत्र या जनतंत्र की स्थापना करने के लिए प्रयत्नशील युवकों से भय है। उन्हें पल-पल यह चिन्ता जलाती रहती है कि कहीं ये संगठित होकर उन पर आक्रमण न कर दें, उनसे सत्ता छीनने का संघर्ष शुरू न कर दें और एक के बाद एक प्रतिरोध को हटाकर, मार्ग की बाधाओं और अड़चनों पर विजय प्राप्त कर उनकी सत्ता के गढ़ पर, उनके मठ पर, उनके एकाधिपत्य पर आक्रमण न कर दें और उनका वह रत्नजटित, स्वर्णखचित सिंहासन उनसे छिन न जाय। सत्ता के इन अधिपतियों को लगता है जिन्हें वे कुहरे से बनी आकृतियाँ (जो पल भर दिखकर फिर अदृश्य हो जाती हैं) समझे थे, जिनका या तो

अस्तित्व स्वीकार ही न करते थे अथवा जिन्हें क्षणभंगुर मानते थे, वस्तुतः वे ठोस आकृति वाले स्थायी शक्ति सम्पन्न, जीते-जागते, दानव के समान भयानक, उग्र, हिंसक क्रान्तिकारी हैं तो उनके पैरों तले जमीन खिसकने लगती है। जिन्हें उन्होंने पशु, असभ्य, अशिष्ट एवं गँवार समझ कर तिरष्कृत किया था, जिनसे पशुओं की तरह काम लिया था। अब वे मनुष्य नजर आते हैं। अब उनकी समझ में आता है कि उनका व्यवहार इन लोगों के प्रति अनुचित था। वे अब तक उन्हें एक भीड़, मॉब अनुशासित तथा असंगठित जनसमूह माना था जिनका कोई सुनिश्चित चरित्र नहीं होता, अपना कोई व्यक्तित्व नहीं होता और जो भड़काये जाने पर, उत्तेजित होने पर कुछ भी कर बैठती है। उसका कोई निश्चित लक्ष्य होता है और न कोई सुनिश्चित, सुनिर्धारित नीतिं। अतः उसकी शक्ति को सहज ही कुचला जा सकता है, उसे दबाया जा सकता है पर अब ये पूंजीपति जनता की शक्ति को पहचानने लगते हैं और फिर भी उन्हें पूर्ण सत्य का साक्षात्कार नहीं होता। अब भी वे इन क्रान्तिकारियों को पागल, पथ-भ्रष्ट मूढ़, बर्गलाया गया जन समूह मानते हैं जिनका या तो दिमाग़ खराब हो गया है या जिन्हें बहकाया गया है और जो बहकावे में आकर गड़बड़ कर रहे हैं, झगड़े फैला रहे हैं, क्रान्ति के लिए, तख्ता पलटने के लिए शेष भोली भाली जनता को भड़का रहे हैं। जब तक ये लोग सत्ता को दूर से चुनौती दे रहे थे, संगठित होकर विद्रोह की तैयारी कर रहे थे, चोरी-छिपे षड्यंत्र की नीति बना रहे थे, सत्ताधारियों को उनकी हलचल का, गतिविधि का पता नहीं था, वे निश्चिन्त थे और उन्हें लगता था कि इन क्रान्तिकारियों से कोई भय नहीं है, वे केवल कुहरे के बादल हैं जो शीघ्र ही उड़ जायेंगे, छिन्न-भिन्न हो जाएंगे। वे सत्ता के इतने दूर हैं, इतने दुर्बल हैं कि उनकी सत्ता को कोई भय नहीं; कोई ख़तरा नहीं, उन तक क्रान्ति की लपट नहीं पहुँच पायेगी, पहले ही बुझ जायगी। पर अब जब ये शक्तियाँ निकट आ गयीं, सिंहासन को खतरा पैदा होने लगा तो उन्हें जनता की, क्रान्ति के लिए उद्यत जन शक्ति की वास्तविकता का पता चला और वे लोग उन्हें लंगूर जैसे दिखने लगे जिनका मुख काला होने के कारण भयावह लगता है और जिनकी लंबी पूंछ मे इतनी शक्ति होती है कि एक प्रहार से ही प्रतिपक्षी धराशायी हो जाता है। अतः सत्ताधारी को भय और आशंका सताने लगती है कि कहीं वे और अधिक निकट न आ जायँ और उसके लिए वास्तविक ख़तरा न बन जायँ, उसको सिंहासन से अपदस्थ कर स्वयं सत्तारूढ़ न हो जायँ। उसका मन शंका, भय, चिन्ता से भर उठंता है, वह परेशान, बेचैन तथा उद्विग्न हो उठता है।

विशेष–(१) सत्ताधारी, अन्यायी, शोषण की नींव पर टिके बुर्जुआ वर्ग का मनोविज्ञान बताया गया है कि सत्ता का दंभ तो वे करते हैं परन्तु होते हैं अत्यंत भीरू, कायर और डरपोक।

(२) इसी प्रकार भीड़ (मॉब) का मनोविज्ञान तथा उसकी कार्य-प्रणाली की ओर संकेत है।

(३) वानर और लंगूर दोनों ही पशु हैं पर एक वानर उतना शक्तिशाली और भयानक नहीं होता जितना लंगूर। पूंजीपति सर्वहारा वर्ग के लोगों को पशु मात्र समझकर उनके साथ दुर्व्यवहार करता है पर धीरे-धीरे जनता की शक्ति का आभास होने लगता है और तब वह आतंकित हो उठता है।

(१०) आसमानी, रामशीरी......................................कर डालो संहार (पृ. ४९-५०)

प्रसंग–ये पंक्तियाँ मुक्तिबोध द्वारा लिखी गयी कविता 'लकड़ी का बना रावण' से ली गयी हैं। क्रान्तिकारियों की संगठित शक्ति से ख़तरा उत्पन्न देखकर सत्ताधारी उसका विरोध करने के लिए, उस पर विजय पाने के लिए अपनी अधीनस्थ शक्तियों को, अपने संसाधनों को एकत्र

कर विप्लवकारियों का सामना करने के लिए तैयार होता है।

शब्दार्थ–आसमानी=दिव्य, अलौकिक, अतिप्राकृत। रामशीरी=तलवार की, अस्त्र-शस्त्रों की। ब्रह्म-शक्ति=ऐसी शक्ति जो सबका नाश कर सके, ब्रह्मास्त्र जिसके आगे सब परास्त होते हैं। पुच्छल ताराओं=अमंगल तारा, जिसके उदय होने पर कोई न कोई अनिष्ट होता है, प्रलय होती है।

व्याख्या–क्रान्तिकारी दल को अपने सिंहासन की ओर बढ़ते देख शोषक, सत्तारूढ़, बुर्जुआ भयभीत और आतंकित हो उठता है। वह ईश्वर से प्रार्थना करता है कि वह उसे इन विप्लवकारियों से बचाये, उसकी और उसकी प्रभुता की रक्षा करे, रक्षा करने के लिए उसे पर्याप्त शक्ति प्रदान करे। वह चाहता है कि ईश्वर उसकी भुजाओं में अलौकिक शक्ति भर दे, और वह उस अलौकिक, अपार्थिव, दिव्य शक्ति से, परमेश्वर द्वारा दिये गये दिव्य अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित हो, संसार-भर को विनष्ट कर देने वाले हथियारों से इन आगे बढ़ते सिंहासन को जीतने के लिए अग्रसर क्रान्तिकारियों को तहस-नहस कर डाले, उनका अस्तित्त्व ही मिटा दे। जैसे देवतागण ब्रह्मास्त्र से दानवों का विनाश करते थे, जैसे पुच्छल तारों के उदय होते ही महान वर्षा, अग्नि, भूकंप युद्ध आदि के कारण सर्वनाश का दृश्य उपस्थित हो जाता था, उसी प्रकार दिव्य, अलौकिक, संहारक और विनाशकारी अस्त्र-शस्त्र पाकर वह भी इन क्रान्तिकारियों का ध्वंस कर दे। ये क्रान्तिकारी उसकी दृष्टि में पशु हैं, कुरूप हैं, अशिष्ट हैं, असभ्य हैं, भ्रष्ट हैं, आचारविहीन हैं, मार्ग से भटक गये हैं, उनकी बुद्धि विकारग्रस्त हो गयी है तभी तो वे सत्ता का विरोध कर रहे हैं, हिंसा के मार्ग पर चलने को उतारू हैं, यथास्थिति को बदलने के लिए, परम्परागत मूल्यों को न मानकर नई व्यवस्था लाने को आतुर हैं। इससे पहले कि क्रान्ति सफल हो, वर्तमान व्यवस्था बदले, सत्ता का हस्तांतरण हो, बुर्जुआ वर्ग चाहता है कि वे नष्ट हो जायँ, क्रान्ति का पहला चरण ही विफल हो जाय, पहली ही मुठभेड़ में वे परास्त हो जायँ और सदा-सदा के लिए उनका अस्तित्त्व समाप्त हो जाय। वे दुबारा सिर उठाने की हिम्मत न करें। वे पूरी तरह कुचल दिये जायँ।

विशेष–(१) पूंजीपति वर्ग ने सदा ईश्वर, धर्म, नीति के नाम पर सर्वहारा वर्ग को ठगा है, फुसलाया है, दिग्भ्रमित किया है। अतः आपद्-काल में भी वह ईश्वर का नाम ले, उससे सहायता की याचना करता है। उन्हें स्वयं पर नहीं, ईश्वर पर विश्वास है।

(२) पुच्छल तारा, ब्रह्मास्त्र, पौराणिक परम्परागत विश्वासों की ओर संकेत करते हैं और पूंजीपति वर्ग की आस्था के द्योतक हैं।

(११) अरे, अरे..सब ओर घिरा हूँ (पृ. ५०)

प्रसंग–ईश्वर से प्रार्थना करने के बाद भी जब उन्हें कोई सहायता नहीं मिलती, कोई दैवी शक्ति हस्तक्षेप नहीं करती, कोई उनकी रक्षा के लिए नहीं दौड़ता तो वे हताश हो जाते हैं, और हाय-हाय करने लगते हैं। रोने-कल्पने के अतिरिक्त कुछ नहीं कर पाते।

शब्दार्थ–नभचुम्बी शिखर= सत्ता की पीठ, राज-सिंहासन जिसे शासक वर्ग अत्यन्त सुरक्षित, सभी खतरों से परे समझता था और आश्वस्त होकर शासन करता था।

व्याख्या–क्रान्तिकारियों की शक्ति संगठित होने के कारश दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है, वे दुगने आवेश, उमंग तथा उत्साह से क्रान्ति के मार्ग पर बढ़ रहे हैं। उनकी बढ़ती हुई, प्रलय कालीन में सागर वेग से आक्रमण करती सेना का विकराल रूप देख पूंजीपति वर्ग सहम गया है, भयांक्रान्त होकर, अपना विनाश सन्निकट देख हाय-हाय करता है। उसे लगता है यह क्रान्तिकारियों का दल शीघ्र ही उसके सिंहासन तक बढ़ आयेगा, उस पर आधिपत्य जमा कर उसे सिंहासन से ढकेल देगा और स्वयं गद्दी पर बैठ जाएगा। वह अपने को चारों ओर से घिरा

महसूस करता है और इसीलिए अपना अन्त पास देखकर रोता-कल्पता है।

विशेष–(१) प्रसादगुण सम्पन्न भाषा है।

(२) सीधा-सादा इतिवृत्तात्मक वर्णन है। सीधी-सपाट उक्ति है।

(१२) सब तरफ अकेला हूँ...भयंकर (पृ. ५०)

प्रसंग–ये पंक्तियाँ मुक्तिबोध की कविता 'लकड़ी का बना रावण' से उद्धृत की गयी हैं। क्रान्तिकारियों के निरन्तर बढ़ते दल को देखकर पूंजीपति वर्ग सन्नाटे में ही नहीं आता, वह आतंकित हो उठता है। उसे लगता है कि वह असहाय है, अशक्त है, निरुपाय है। अब क्रान्तिकारी उसे जीवित नहीं छोड़ेंगे वे केवल उसका सिंहासन ही नहीं छीन लेंगे, उसकी हत्या भी कर देंगे। जिसे वह अपनी शक्ति समझे बैठा था वह नितान्त खोखली सिद्ध हो रही है। धन, सम्पत्ति, सेना, पुलिस, अधीनस्थ नौकरशाही, सामन्त सब भाड़े के टट्टू थे, किसी की स्वामिभक्ति सच्ची नहीं थीं, सब स्वार्थी थे। अतः रंग बदलते देख, परिस्थिति में परिवर्तन होते ही सत्ता के हस्तांतरण के चिह्न देखते ही उनका रुख बदल गया, उनकी निष्ठा बदल गयी, वे उसका पक्ष छोड़ प्रतिपक्षी के गुट में चले गये। वह अकेला, नितान्त अकेला और असहाय रह गया है। अब तक वह स्वयं को रावण के समान महान शक्तिशाली, प्रभुता सम्पन्न, देवों को पराभूत करनेवाला, असुरों का अधिपति मानता था जिसके असंख्य पुत्र-पौत्र हैं, करोड़ों बंधु-बाधव हैं, मित्र हैं, सुहृद् हैं, साथी हैं, संकट के समय साथ देने वाले हैं, पर अब उसे विश्वास हो गया कि यह केवल भ्रम था, वह आत्म-प्रवंचना का शिकार था। वस्तुतः उसका कोई संगी-साथी, संकट के समय काम आनेवाला नहीं था और उसकी शक्ति भी दिखावटी थी। कुल मिलाकर वह रावण नहीं था जिसको दशमुख, दशस्कन्धर कहा गया है और जिसने देवताओं को, पृथ्वी के अनेक राजाओं को कुबेर तक को अपने बन्दीगृह में बन्दी बनाकर डाल रखा था और जो उसके आदेशों का पालन करने को उत्सुक रहते थे। उसे लगता है वह रावण न होकर रावण का पुतला है जो बज्र के समान सुदृढ़ हड्डियों से नहीं बना परन्तु जिसका शरीर केवल गत्ते, लकड़ी की खपचियों, कागज से बना है और जो केवल माचिस की एक तीली के स्पर्श से ही जलकर राख हो जायेगा। वह रावण न होकर प्रतिवर्ष रामलीला के अवसर पर रामलीला मैदान में जलाया जानेवाला पुतला है जिसकी नियति ही है प्रतिवर्ष कुछ समय तक लीला दिखाकर अंत में अपने अत्याचारों, अनीति और देह के साथ समाप्त होना। रामलीला देखने वाले मानते हैं कि यह पुतला कितना भी विशालकाय, ऊँचा और दिखने में भव्य-विराट क्यों न हो, अंत में जलेगा ही। अतः वह रावण की भूमिका अदा करने वाले, दंभ के वचन बोलने वाले दर्प की मुद्रा में तलवार चलाते रावण की वास्तविकता और नियति जानकर उसका उपहास करते हैं, उसका मज़ाक उड़ाते हैं। यही स्थिति पूंजीपति व्यवस्था की है। मार्क्सवाद मानता है कि उनका भी एक न एक दिन अन्त होगा। और वर्गहीन समाज की स्थापना होगी।

विशेष–(१) पूंजीपति वर्ग को रावण का पुतला मानकर उसकी नियति बताना कवि की मौलिक कल्पना है।

(२) बिम्ब-सृष्टि भी मनोज्ञ है।

(१३) हाय, हाय...उस पल। (पृ. ५०)

प्रसंग–ये पंक्तियाँ मुक्तिबोध की कविता, 'लकड़ी का बना रावण' से उद्धृत की गयी हैं। ये कविता की अंतिम पंक्तियाँ हैं। उपसंहार रूप में कवि एक ओर रामलीला मैदान में खड़े विशालकाय, ऊँचे, दीर्घाकार राघण के पुतले का अन्त बताता है और दूसरी ओर उसके माध्यम से पूंजीवादी व्यवस्था के अंत की ओर संकेत करता है।

शब्दार्थ–उग्रतर=क्रान्तिकारी दल की मुद्रा प्रतिक्षण उग्र, भयानक और हिंसक हो रही है।

वे मरने-मारने के लिए उतारू हो रहें हैं। मन्त्र-क़ीलित=मन्त्र पढ़कर उसकी शक्ति से किसी को इतना अशक्त बना देना कि वह हिल-डुल भी न सके, अपने स्थान पर ही रहने को विवश हो मानो उसके कील ठोंक कर वहीं गाड़ दिया गया हो। जड़=निश्चल, गतिहीन, स्थिर।

व्याख्या–क्रान्तिकारियों का उग्र दल प्रलयंकालीन सागर के समान तमाम मर्यादाओं को तोड़ आगे बढ़ता आ रहा है लगता है वह सभी प्रतिरोधों को, बाधाओं को, मार्ग की रुकावटों को तहस-नहस कर सत्ताधारी के गढ़ के सिंह द्वार तक पहुँच कर ही दम लेगा। भीड़ हिंसक हो रही है, उन लोगों के चेहरों से उनके भयंकर इरादों का संकेत मिल रहा है। सत्ताधारी उनकी इस उग्र मुद्रा से, उनके कंठ से निकलते हुए तुमुल निनाद से, वायुमंडल को कंपाते नारों से इतने भयभीत हैं कि अपनी ही जगह कील की तरह गड़ गये हैं, हिलडुल तक नहीं पाते, भागने में असमर्थ हैं। उन्हें लगता है कि जैसे किसी ने मन्त्र पढ़कर उन्हें जहाँ का तहाँ खड़े रहने के लिए विवश कर दिया है और मन्त्रों की दिव्य शक्ति के फलस्वरूप ये जड़ पत्थर हो गए हैं, उनकी सारी शक्ति लुप्त हो गयी हैं। उन्हें आभास हो गया है कि अब उनका किला जिसे वे सुरक्षित, अपराजेय. सुदृढ़ समझे बैठे थे ढहने वाला है, ताश के पत्तों की तरह चरमरा कर गिरने वाला है और वे स्वयं रामलीला में जलाये जाने वाले लकड़ी, गत्ते, कागज़, आदि से बने रावण के पुतले की तरह धराशायी होने वाले हैं। उनकी सत्ता शक्ति, प्रभुत्व के लिए क्रान्तिकारियों ने भारी संकट पैदा कर दिया है और उनकी सत्ता किसी भी क्षण समाप्त हो सकती है। उनका अन्त हो सकता है, इतिहास का एक काला अध्याय समाप्त होने को है और नया युग आरंभ होगा।

विशेष–(१) भावी क्रान्ति का पूर्वभास देने के लिए यह बिम्ब प्रस्तुत किया गया है।

(२) रावण के पुतले का बिम्ब बड़ा सटीक और हर तरह से उपयुक्त है।

(३) मार्क्सवादियों की तरह कवि आशावान है कि पूंजीपति-व्यवस्था का काला इतिहास एक न एक दिन समाप्त होना और वर्गहीन, शोषणमुक्त समाज की स्थापना होगी।

मुझे कदम-कदम पर

कविता-परिचय–मुक्तिबोध वस्तुपरक सत्य-परायणता या वस्तुमूलक सही मानसिक प्रतिक्रिया को कलाकार की ईमानदारी का निकष मानते हैं। "व्यक्तिगत ईमानदारी वहाँ लक्षित होती है, जहाँ वस्तु का वस्तुमूलक आकलन करते हुए लेखक उस आकलन के आधार पर वस्तु-तत्त्व के प्रति सही मानसिक प्रतिक्रिया करे।" वह कवि-कलाकारों से अपेक्षा करते हैं, कवि जीवन जगत् के प्रति वास्तविक विश्वदृष्टि का विकास करे और वह विश्वदृष्टि ही उसकी मानसिक प्रतिक्रिया की प्रेरक हो।[1] उनका मत है कि इस वास्तविक विश्वदृष्टि का प्रभाव कलाकार के वस्तु-चयन, उसके सामान्यीकरण और मूल्यांकन पर भी पड़ता है।

मुक्तिबोध प्रतिबद्ध विचारक थे। अतः उनकी विश्वदृष्टि समाजवादी-यथार्थवादी कलाकार की तरह समाजवाद के प्रति प्रतिबद्ध थी। वह कलाकार के लिए आवश्यक मानते थे कि वह समाज का उत्पीड़न-शोषण करनेवाली शक्तियों के प्रति सचेत रहे, उसके विरुद्ध विद्रोह करने वाली ताकतों के प्रति सहानुभूति रखे। उसका लक्ष्य होना चाहिए विश्व-जनता की उन्नति, शोषण से मुक्ति तथा अभ्युत्थान। उन्होंने अनुभव किया था कि नयी कविता के रचयिता, समर्थक, तथा

१. एक साहित्यिक की डायरी, पृ. १२०, १२३

सरंक्षक पूंजीवादी व्यवस्था का समर्थन करने के लिए साहित्य को समाज से काट रहे हैं और कला की स्वतंत्रता, स्वायत्तता, निरपेक्षता की बात कह रहे हैं। वे ऐसे विचार और तर्क प्रस्तुत कर रहे हैं जिनसे साहित्य के प्रश्नों को, उसकी समस्याओं को जीवन के प्रश्नों और समस्याओं से अलग किया जा सके, पाठकों को कला के पाश में फंसाकर जीवन और जीवन की ज्वलन्त समस्याओं के प्रति उदासीन बनाया जा सके। मुक्तिबोध ने पूंजीवाद के समर्थक कलाकारों तथा समीक्षकों के इस सुनियोजित प्रयास का, षड्यंत्र का प्रतिरोध किया और जोर देकर कहा कि कला को, कला-समीक्षा को जीवन की वास्तविक और गतिशील दिशा से सम्बद्ध करना होगा। "अपने वास्तविक जीवनानुभव को संदर्भ-सहित व्यक्त करने के लिए उचित विषय-संकलन का विवेक होना चाहिए। हमें अपने युग के ऐसे सारभूत बिम्बों और प्रवृत्तियों को उठाना और चित्रित करना होगा जिससे कि हम अपना युग वस्तुतः जी सकें और हम सच्चे अर्थ में समसामयिक हो पाएँ। विषय-संकलन का विवेक हमारी अपनी अनुभूतिजन्य ज्ञान-दृष्टि से उत्पन्न होगा। इसलिए यह आवश्यक है कि हमारा ध्यान दृष्टि विकास की ओर जाए और हम आज के तनाव भरे जगत् की मूलगति और दिशा को समझ सकें।"[१] अपने इन्हीं विचारों को उन्होंने इस कविता में प्रस्तुत किया है और नये कवियों तथा नयी कविता के वस्तु-चयन की प्रकृति का विरोध किया है उनका आरोप है कि नये कवि कुछ विशेष विषय और अधिकतर ऊपरी विषय ही अपनी कविता के लिए चुनते हैं और बहुत से महत्वपूर्ण जीवन-सत्यों को अकलात्मक कहकर उनके प्रति उदासीन या उपेक्षापूर्ण रवैया अपनाते हैं।

व्याख्या

(१) मुझे कदम कदम...जाने क्या मिल जाये !! (पृ. ६१)

प्रसंग–ये पंक्तियाँ मुक्तिबोध की कविता, 'मुझे कदम-कदम पर' से उद्धृत की गयी हैं। कवि भी मानता है कि कविता के लिए महत्वपूर्ण विषय नहीं है, विषय के प्रति कवि की दृष्टि है, उसका चिन्तन है, जगत् और जीवन के प्रति रवैया है। अतः कविता के लिए केवल कुछ विषय ही उपयोगी हैं और कवियों को केवल उन्हीं विषयों पर काव्य-रचना करना चाहिए, यह धारणा ग़लत है, कला-विरोधी ही नहीं जन-विरोधी भी है।

व्याख्या–चौराहा वह स्थान होता है जहाँ पर कम से कम चार भिन्न-भिन्न दिशाओं से जाने वाले चार रास्ते मिलते हों या चार रास्ते भिन्न-भिन्न दिशाओं में फूटते हों। चौराहे पर खड़ा व्यक्ति उन चार मार्गों में से किसी भी मार्ग को चुनकर उस पर चल सकता है। कवि को लगता है कि कलाकार और कवि के लिए कला-सृजन का, काव्य-रचना का क्षेत्र बड़ा व्यापक है, विस्तीर्ण और खुला है। जीवन का कोई भी क्षेत्र, कोई भी पहलू उसकी कला का विषय बन सकता है, वह किसी भी विषय को लेकर काव्य-रचना कर सकता है–कीट-पतंगे से लेकर देवत्व प्राप्त मानव तक उसकी कविता के विषय हो सकते हैं। उसे लगता है कि जीवन-जगत् से जुड़े अनेक विषय उसको आमंत्रित कर रहे हैं, बाँहें फैलाये उसका स्वागत कर रहे हैं कि कवि उन पर लिखे। जैसे चौराहे पर खड़े व्यक्ति को निर्णय करना होता है कि वह चार मार्गों में से किस एक पर चले, उसी प्रकार कवि को निर्णय करना पड़ता है कि वह असंख्य विषयों में से किस विषय पर काव्य-रचना करे। सभी विषय इतने आकर्षक, मोहक एवं महत्वपूर्ण लगते हैं कि वह उन सब पर लिखना चाहता है। थोड़ा-सा लिखने के उपरान्त ही, लिखते-लिखते

---

१. नयी कविता का आत्म-संघर्ष तथा अन्य निबंध, पृ. २६

ही उसके मन में अनेक विचार कौंधते हैं, अनेक भाव उसके मन को उद्वेलित करते हैं, अनेक कल्पनाएँ, बिम्ब, प्रतीक आते-जाते हैं। कवि को वे सभी विचार, भाव, कल्पनाएं, शिल्प-सामग्री लुभाते हैं। और वह उन सब का उपयोग करना चाहता है।

कवि समाज के विभिन्न वर्गों के अनेकानेक व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है। वे सब उसे अपने विविध अनुभव, अनुभूतियाँ, संवेदनाएँ बताते हैं। सबके अनुभव अलग-अलग हैं, कुछ अनोखे और विचित्र है, कुछ सामान्य और साधारण। यही बात अनुभूतियों और संवेगों के सम्बन्ध में भी सच है। कवि में दंभ नहीं है, वह आत्मकेन्द्रित नहीं है, उसमें पूर्वाग्रह भी नहीं है अतः उसे ये सभी अनुभव, अनुभूतियाँ और संवेग अच्छे लगते हैं, वह उनके विषय में लिखना चाहता है। उसके कुछ आदर्श हैं, कुछ अपनी मान्यताएँ हैं, जीवन-मूल्य हैं, समाज व्यवस्था के संबंध में विचार है, भविष्य के सपने हैं। और वे सब अपने होने के कारण अत्यंत प्रिय हैं। सारांश यह कि वह अपनी रचना में जन-सामान्य के अनुभव-अनुभूतियों को तथा स्वयं अपने स्वप्नों, आदर्शों, जीवन मूल्यों को अभिव्यक्त करना चाहता है क्योंकि वह महसूस करता है कि ये सब जीवन से जुड़े हैं, यथार्थ हैं, सच्चे हैं जीवन्त हैं। उन पर काव्य-रचना करने से काव्य की गुणवत्ता और उपयोगिता दोनों बढ़ेंगी। अभिव्यक्ति की आतुरता, काव्य-रचना की प्रबल इच्छा कवि के मन को व्याकुल बना देती है और यह व्याकुलता तथा आतुरता तब तक बनी रहती है जब तक वह काव्य-रचना में प्रवृत्त नहीं हो जाता, काग़ज-लेखनी लेकर बैठ नहीं जाता और अपने भावों-विचारों को लेखनीबद्ध नहीं करने लगता। लिखने से पूर्व वह दूसरों तथा अपने अनुभवों की बरीकी से परीक्षा करना चाहता है, आत्म-चिंतन और आत्म-निरीक्षण करना चाहता है, यह देखना चाहता है कि उसकी दृष्टि विश्वदृष्टि बनी है कि नहीं क्योंकि जब तक ईमानदार होते हुए भी कवि की दृष्टि संकुचित एवं आत्मकेन्द्रित है, व्यापक तथा उदार नहीं बनती, सबके हित को अपना हित नहीं मानती, तब तक वह महान कविता नहीं लिख सकता। जैसे गोताखोर समुद्र में गहरे उतरकर और गहरे उतरकर मोती पाना चाहता है, उसी प्रकार कवि अपने हृदय में, अपनी आत्मा में आत्मचिंतन, आत्म-विश्लेषण, आत्म-निरीक्षण की डोरी पकड़कर नए विचारों, नए जीवन-मूल्यों की तलाश करता है। उत्सुकता या आतुरता से उन्हें पाने का प्रयास करता है।

(२) मुझे भ्रम होता है...ठगा जाता हूँ (पृ. ६१)

प्रसंग–ये पंक्तियाँ मुक्तिबोध रचित कविता, 'मुझे कदम कदम पर' से उद्धृत की गयी है। अपनी काव्य-रचना प्रक्रिया के संबंध में बताते हुए कवि कहता है कि संसार में काव्य-रचना के लिए विषयों की कमी नहीं है। उसकी चीज़ विषय नहीं है। वर्ण्य-विषय के प्रति कवि की दृष्टि है और वह संकुचित, एकान्त तथा आत्मकेन्द्रित न होकर विश्वदृष्टि होनी चाहिए। कवि मार्क्सवादी है अतः ऊंच-नीच, बड़ा-छोटा, अमीर-ग़रीब, आभिजात्य, साधारण में भेद नहीं करता। उसके लिए सब बराबर हैं, सबकी अन्तरात्मा के 'चिद्' अंश विद्यमान है अतः आवश्यकता है उस 'चिद्' अंश को पहचानने की, उसे प्रदीप्त करने की।

शब्दार्थ–अधीरा=अधीर, कुछ करने को आतुर, व्याकुल। सुस्मित=मुस्कान भरे चेहरे के पीछे। विमल=निर्मल, स्वच्छ, पवित्र। सदा नीरा=वह नदी जिसमें बारहों महीने जल बहता है, जो कभी नहीं सूखती। महाकाव्य-पीड़ा=सामान्य पीड़ा नहीं, ऐसी पीड़ा जो सबको द्रवित करती है, जिसका संबंध सम्पूर्ण मानव जाति से है जैसा कि महाकाव्यों में चित्रित किया जाता है। गुजरना=भोगना, महसूस करना, अनुभव करना। तिरआना=तैर कर पानी से ऊपर आना, सबके हृदय-स्थित भावों, संवेगों में पैठना, उनको अनुभव करना, उनसे तादात्म्य स्थापित करना और फिर निस्संग होकर उनका चित्रण करना। अपने सुख-दुख से कटकर, ऊपर उठकर उनकी

अभिव्यक्ति करना। खुद को दिये-दिये=आत्मकेन्द्रित न रहकर, पूर्ण समर्पण-भाव के साथ दूसरों की पीड़ा को व्यक्त करना, आत्मदान करना।

व्याख्या–कवि जन-जन के सम्पर्क में आता है, उनको निकट से देखता है, उनके गुणों का आकलन करता है। लिखने-परखने के बाद उसे लगता है कि सामान्य और साधारण व्यक्तियों में भी अनेक गुण हैं। वे अपने वेश-भूषा, रहन-सहन तथा आचरण-व्यवहार से भले ही सीधे-सरल, गंवार, अशिष्ट या पिछड़े लगें, उनकी आत्मा, उनका हृदय, उनके विचार उत्तम हैं। वे सामान्य पत्थर न होकर मूल्यवान तेजोद्दीप्त मणि-माणिक्य हैं, हीरा हैं। उनकी आत्मा पवित्र, परिष्कृत, उदात्त भावों से अभिमण्डित है और वे जन-कल्याण, विश्व-शांति के लिए कार्य करने को अधीर हैं। उनके भोले, मुस्कराते चेहरोंवाले सामान्य जनों के हृदयों में पवित्र भावों का पावन, निर्मल, स्वच्छ जल सदा बहता रहता है और वे अपने तरल, कोमल, संवेदनशील हृदय की भावनाओं से संतप्त पीड़ित लोगों को आच्छादित करते रहते हैं, उनके ताप-शाप को कम करने का प्रयास करते हैं। उनकी वाणी में मेघमन्द स्वर सुनाई देता है। जब वे बोलते हैं, भावावेश में अपने हृदय के उद्‌गार प्रकट करते हैं तो लगता है पर पीड़ा से उनका मन उद्विग्न है, चिन्तित है, परेशान हैं। जन-जन की पीड़ा ने उनके हृदय को क्षुब्ध कर दिया है और वे उस पीड़ा को व्यक्त करने के लिए ही बोल रहे हैं या साहित्यिक रचना कर रहे हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जिन्हें हम तुच्छ, नगण्य, साधारण समझकर उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, उनमें भी गुण हैं। जिन विषयों को हम काव्योचित नहीं मानते उन पर भी काव्य लिखा जा सकता है। यह अनुभूति होते ही, यह अहसास होते ही, सत्य का साक्षात्मकार करते ही कवि चाहता है कि वह सामान्य जन के अनुभवों के बीच से स्वयं गुजरे, जो उन्होंने सहा है, भोगा है, वह स्वयं भोगे। उनके हृदय के भावों की गहराई में डूबे, उनकी तह में जाय। उनके अनुभूत सत्य का पता लगाये और फिर उस सब के काव्य में अभिव्यक्त करे। सामान्य जन के बीच रहकर, उनके अनुभवों का, उनकी पीड़ा का भागीदार बनकर कवि का व्यक्तित्वान्तरण होता है। वह दूसरों के लिए आत्म-दान करना चाहता है, स्वयं को दूसरों के लिए उत्सर्ग करने को तत्पर हो जाता है। संसार ऐसे परोपकारी, जन-जन के लिए चिन्तित, उनके लिए कुछ करने को अधीर व्यक्ति को मूर्ख, विवेकहीन, पागल, सिर फिरा, सनकी कहता है पर कवि इससे नहीं डरता। भले ही दुनियावाले उसके विषय में कुछ भी कहें–मूर्ख, पागल, सनकी कहें, पर वह अपने संकल्प से नहीं डिगेगा, जन-जन के साथ रहेगा, उनके साथ मिलेगा-जुलेगा, उनकी पीड़ा को भोगेगा और फिर उसे दूर करने के लिए बड़े-से-बड़ा बलिदान, त्याग करेगा। अपनी इस पर-पीड़ा, सहानुभूति, सदायशता, पीड़ितों की सहायता करने की वृत्ति पर (भले ही दुनिया उसे सनकी और मूर्ख कहे) वह स्वयं प्रमुदित है, उल्लसित है, प्रफुल्लित है। सामान्यतः ठगा जाने पर व्यक्ति दुःखी होता है, आत्म-प्रतारणा करता है, खिन्न होता है पर कवि दुनिया की परवाह न कर अपने ठगे जाने पर प्रसन्न है क्योंकि उसके भाव, विचार, मनोवृत्ति सब दूसरों के हित, कल्याण, उन्हें सुखी बनाने के लिए समर्पित हैं। उसकी मुख्य चिन्ता यही है मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में सभी मानव सुखी, सुन्दर व शोषण-मुक्त कब होंगे।

विशेष–(१) मुक्तिबोध का काव्य आज के सामान्य मानव की असहायता, दीनता, घुटन, छटपटाहट को दूर करने का मार्ग खोजता है। यही वह दूसरे सर्जक कलाकारों से अपेक्षा करते हैं।

(२) मानव की मानव के रूप में प्रतिष्ठा ही उनके जीवन-दर्शन का मूल तत्त्व है।

(३) कम से कम शब्दों में अपनी बात करने की कला यहाँ दृष्टव्य है। 'महाकाव्य-पीड़ा' ऐसा ही सारगर्भित प्रयोग है।

(४) भाषा कहीं संस्कृत गर्भित है, कहीं बोलचाल में शब्द हैं।

कवि की चिन्ता केवल अभिव्यक्ति को प्रभावशाली तथा सम्प्रेषण को सहज बनाने की है।

(३) हृदय में मेरे ही...स्वायत्त हुआ जाता है। (पृ. ६२)

प्रसंग–ये पंक्तियाँ मुक्तिबोध की कविता, 'मुझे कदम-कदम पर' से उद्धृत की गयी हैं। कवि जन सामान्य में भी 'चिद्' के दर्शन करता है। उसे लगता है कि जिन्हें तुच्छ, नगण्य, काव्य-रचना के लिए अनुपयुक्त विषय माना गया था, वस्तुतः वे उपेक्षणीय नहीं हैं। उनके भावों, विचारों, आकांक्षाओं को भी कविता का विषय बताया जा सकता है। इस सत्य का साक्षात्कार करने के उपरान्त वह संसार, सौन्दर्य शास्त्रियों, आलोचकों की चिन्ता न कर स्वयं को मूर्ख, सनकी, पागल कहलाये जाने का खतरा उठाते हुए भी उन विषयों पर काव्य लिखने के लिए तत्पर होता है जिन्हें काव्य रचना के लिए अनुपयुक्त मानकर ठुकरा दिया गया था।

शब्दार्थ–मत्त=मतवाला, खुशी से पागल। स्वायत्त=अपने अधिकार में।

व्याख्या–संसार मुझे मूर्ख, सनकी, पागल कहता है क्योंकि मैं उन लोगों के साथ उठता-बैठता हूँ, उनके सुख-दुःख का साथी बनता हूँ जो तिरस्कृत हैं, समाज द्वारा ठुकराये गये हैं, पददलित किये गये हैं, उत्पीड़न तथा शोषण का शिकार रहे हैं। पर मैं उनकी फब्तियों की, व्यंग्य-बाणों की, कटु आलोचना की परवाह नहीं करता। मुझे अपने कृत्य पर संतोष है। जो कुछ मैं करता हूँ उसे ठीक मानता हूँ अतः आत्म-विश्वास से पूर्ण अपने कर्त्तव्य-मार्ग को ठीक से चीन्हने के संतोष के साथ मैं प्रसन्न हूँ। मैं अपने आलोचकों की, स्वयं को चतुर और व्यवहार कुशल समझने वाले समाज के ठेकेदारों की ग़लतफहमी पर, उनके स्वार्थ पर मन ही मन मुस्कराता हूँ कि अपने को विद्वान, पंडित, विवेकसम्पन्न तथा व्यवहारकुशल समझने वाले सांप को रस्सी या रस्सी को सांप समझकर या स्वयं को ज्ञानवान तथा चतुर मानते हैं और मुझे मूर्ख समझकर मेरा उपहास करते हैं। मेरे नेत्रों में समाज के उत्पीड़ितों तथा शोषितों के प्रति सहानुभूति है, उनकी पीड़ा, यातना आर्थिक कष्ट देखकर मेरे नेत्र अश्रुविगलित हो जाते हैं, पलकें भीग जाती हैं। पर जब मुझे ध्यान आता है कि मैंने सत्य का साक्षात्कार कर लिया है, विश्व को अपना मानकर उसे अपना लिया है, सब मेरे भाई हैं, सबकी पीड़ा मुझे कचोटती है, अपना-पराया कुछ नहीं है तो मुझे लगता है सारा ब्रह्मांड मेरे पैरों तले पड़ा है मैं सब का स्वामी हूँ, मेरा सब पर अधिकार है और यह अनुभूति मुझे खुशी से पागल बना देती है। मैं फूला नहीं समाता।

विशेष–मुक्तिबोध के काव्य में जगह-जगह पुनरावृत्ति मिलती है–भावों, विचारों की भी तथा शब्दावली की भी। वह एक ही बात को दूसरे शब्दों में थोड़े फेर-बदल के साथ पुनः-पुनः करते हैं। कहीं-कहीं तो उनकी यह पुनरुक्ति भाव-विचार को रेखांकित करने के कारण प्रभावशाली हो गयी है। पर अन्यत्र वह मात्र पुनरुक्ति है जो भारतीय काव्यशास्त्र में दोष माना गया है। इन पंक्तियों से पूर्व की पंक्तियों में भी वही बात कही गयी है अतः पाठक को अधिक प्रभावित नहीं करती।

(४) कहानियाँ लेकर...मिलती हैं। (पृ. ६२)

प्रसंग–ये पंक्तियाँ मुक्तिबोध की कविता, 'मुझे कदम-कदम पर' से उद्धृत की गयी हैं। जनता के सम्पर्क में आने के बाद उन्हें यह प्रतीति हुई कि संसार का कोई भी विषय उपेक्षणीय या काव्य के लिए अनुपयुक्त नहीं है। असली चीज है कवि की दृष्टि और वह संकुचित न होकर विश्वदृष्टि होनी चाहिए।

शब्दार्थ–चौराहे=जन-सम्पर्क के अवसर, साहित्य-रचना का क्षेत्र। सूरे=छन्द, कविताएँ। आयतें= कुरान या इन्जलि के वाक्य।

व्याख्या–जन सम्पर्क में आने के बाद, उनके सुख-दुःख से परिचित होकर, उनकी भावनाओं, स्वप्नों, आशा-आकांक्षाओं को जानकर-समझकर मैंने उनके विषय में कुछ कहानियाँ लिखीं। विचारों का आदान-प्रदान हुआ। मैंने उनकी बातें, उनके अनुभव, उनके विचार सुने और समझने का प्रयास किया। उन्होंने मेरी बातें, मेरे विचार, मेरा दृष्टिकोण जाना-समझा। अतः कवि और जनता के बीच सम्पर्क सूत्र स्थापित हुआ और कवि को ऐसे विषय मिले जिन पर उसने कहानी ही नहीं उपन्यास भी लिखें। निष्कर्ष यह कि जन-सम्पर्क के फलस्वरूप साहित्यकार का दृष्टि-क्षितिज निस्तीर्ण होता है, जीवन के प्रति दृष्टि उदार बनती है, उसका चित्त भी उदार होता है और वह सर्वहारा वर्ग की दयनीय स्थिति से द्रवित हो उनके प्रति सहानुभूति में, उनके पक्ष का समर्थन करते हुए, शोषकों के प्रति आक्रोश व्यक्त करते हुए साहित्य-रचना करता है। जैसे चौराहे पर खड़े हुए लोग बतियाते हैं, तरह-तरह के विषयों पर विचारों का आदान-प्रदान करते हैं। कोई अपने दुःख की कथा सुनाता है, कोई शिकायत करता है–शासन के विरुद्ध, समाज के नेताओं के विरुद्ध, न्याय पद्धति के विरुद्ध, मंहगाई, रिश्वतखोरी, भाई-भतीजावाद के खिलाफ कोई मनोवैज्ञानिक मानव मन की, चेतन-अवचेतन-उपचेतन मन की सूक्ष्म, जटिल ग्रंथियों का, रुग्ण मानसिकता का, अहं भाव का, इड, ईगो, सुपर ईगो की चर्चा करता है। कोई किसी की प्रशंसा करता है, उसके महान चरित्र पर, व्यक्तित्व और कृतित्त्व पर आख्यान रखकर सुनाता है। कोई समसामयिक समस्याओं के विषय में छंद लिखता है और सूत्र रूप में, सूक्तियाँ गढ़कर सुनाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे चौराहे पर खड़े होकर तरह-तरह की बातें, गंधें, अफवाहें, निंदा और स्तुति के वचन सुनने को मिलते हैं और कोई चाहे तो उन सुनी बातों पर साहित्य-रचना कर सकता है वैसे ही जो लेखक जनता के बीच जितना पैठेगा, उनके सम्पर्क में जितना अधिक आयेगा, उनके सुख-दुःख से जितना तदाकार होगा, लिखने के लिए उतनी ही सामग्री, उतने ही विषय मिलेंगे। अतः साहित्यकार बनने के लिए, जनता के सम्पर्क में आना उपादेय है। उसके प्रति उपेक्षा भाव धारण करना ग़लत है। प्राणवान, उपयोगी, सच्चा साहित्य लिखने के लिए जनता के सम्पर्क में आना और उन्हीं की समस्याओं को साहित्य का विषय बनाना जरूरी है।

(५) कविताएँ मुस्करा कर..जीना ही चाहिए (पृ. ६२)

प्रसंग–ये पंक्तियाँ मुक्तिबोध रचित कविता, 'मुझे कदम-कदम पर' से उद्धृत की गयी हैं, कवि की धारणा है कि जब तक कवि जन-जन के सम्पर्क में नहीं आता, उनके दुःख दर्द को नहीं पहचानता। उनसे एकाकार हो सहानुभूतिपूर्वक उनकी पीड़ा को वाणी नहीं देता, तब तक वह सच्चा कवि नहीं हो सकता। अतः वह चौराहे पर अर्थात् जन-समूह के बीच जाता है, उनसे घुलता-मिलता है, उनकी बातें सुनता है और उन्हीं को अपने साहित्य का विषय बना लेखन-कार्य करता है।

शब्दार्थ–लाग-डांट करती हैं=फटकारती हैं, भर्त्सना करती हैं। जलती हुई सीढ़ियाँ=जीवन की विषम परिस्थितियाँ जिनसे घिरकर व्यक्ति कष्ट पाता है, यातना झेलता है। श्रद्धाएं चढ़ती हैं–उन व्यक्तियों के प्रति श्रद्धा-सुमन चढ़ाये जाते हैं जिन्होंने विश्व-मंगल, जन-कल्याण के कार्य सम्मान अर्जित किया है। घबराये प्रतीक=वे प्रतीक जो अब पुराने, बासी तथा प्रभावहीन हो गये हैं। रूपचित्र=काव्य-बिम्ब, भावोद्दीप्त शब्द-चित्र।

व्याख्या–जन-सम्पर्क स्थापित करने, जन-जन के बीच रहने, उनके दुःख-दर्द से एकाकार होने तथा उनकी बातें सुनने पर कवि को लगता है कि उसे अपनी काव्य-रचना के लिए विषय

मिल गये हैं उनके आधार पर वह तरह-तरह की कविताएं लिख सकता हैं–ऐसी कविताएँ भी जिनमें आक्रोश है, क्षोभ है, विद्रोह की भावना है और ऐसी भी जिनमें कोमल-भावों, संवेदनाओं–प्रेम, सहानुभूति, दया, करुणा त्याग-बलिदान आदि को व्यक्त किया जाता है। कोमल और कठोर दोनों प्रकार के भावों को उद्दीप्त करने वाला साहित्य लिखा जा सकता है। इन रचनाओं में जीवन को, उसकी विषम परिस्थितियों को, समकालीन जीवन की ज्वलंत समस्याओं को, सनातन प्रश्नों और जटिल गुत्थियों को–सभी को प्रस्तुत किया ज़ा सकता है, इस प्रकार साहित्य रचना के लिए पर्याप्त सामग्री जन-जीवन में मिलती है। आवश्यकता है केवल इस बात की कि साहित्यकार में उनको पहचानने तथा मुक्तिबोध के शब्दों में, 'संवेदनात्मक ज्ञान या ज्ञानात्मक संवेदन' हो। इसी जन-समूह में उसे ऐसे व्यक्ति भी मिलेंगे जिन्होंने अपने त्याग, बलिदान, मानवतावादी दृष्टिकोण से प्रेरित हो ऐसे सद्कार्य किये, जनता के हित के काम किये कि वे श्रद्धेय बन गये हैं और प्रत्येक समझदार व्यक्ति कृतज्ञता वश उनके प्रति श्रद्धा-सुमन अर्पित करना चाहता है, साहित्यकार उनके ऊपर साहित्यिक रचना लिखकर अपना दायित्व निभाना एवं कृतज्ञता भाव प्रकट करना चाहता है। चौराहे पर कुछ समय बिताने के उपरान्त ज़ब वह घर लौटता है, अपने अध्ययन-कक्ष में बैठता है। लिखने के लिए कलम पकड़ता है तो उसके दिमाग में अनेक प्रतीक और काव्य-बिम्बों की भीड़ एकत्र होने लगती है। ये प्रतीक और काव्य-बिम्ब उसे जनता के बीच, उनसे बातचीत करते हुए मिले हैं। इनमें से कुछ प्रतीक बासी हैं, पुराने पड़े गये हैं, उनका मुलम्मा घिरस गया है अतः वे अपना आकर्षण खो चुके हैं। कुछ बिम्ब और प्रतीक ताज़ा हैं, लुभावने हैं, नए होने के कारण कवि मन को मुग्ध करते हैं। इसी प्रकार उपमाएँ भी ऐसी नहीं हैं जिनके उपमान मैले हो चुके हों। उनमें भी ताज़गी है, नए भावों तथा नए विचारों को स्फूर्त करने की शक्ति और उसे लगता है कि यदि उसने काव्य-रचना करते समय इन उपमाओं, काव्य-बिम्बों, रूपकों प्रतीकों का प्रयोग किया तो वह और उसका साहित्य अमर हो जाएगा। कम से कम लोग अगले सौ वर्ष तक उसे और उसके साहित्य को आदर के साथ याद रखेंगे।

विशेष–(१) प्रयोगवादी कविता के प्रवर्तक 'अज्ञेय' ने बहुत पहले कह दिया था कि नए कथ्य को प्रस्तुत करने के लिए पुरानी उपमाएं, प्रतीक, काव्य-बिम्ब अनुपयोगी हो गये हैं, अतः नयों की तलाश होनी चाहिए।

(२) लाग-डांट करना मुहावरा है। मुक्तिबोध का लक्ष्य है अभिव्यक्ति को प्रभावशाली बनाना और इसके लिए न उन्हें हिन्दीतर भाषाओं के शब्दों से परहेज है और न मुहावरों, लोकोक्तियों तथा अंग्रेजी के पूरे के पूरे वाक्यांश से।

(३) कविताएँ.........................बात करती हैं–मानवीकरण अलंकार है।

(४) लाक्षणिक शब्दावली का जगह-जगह प्रयोग है। जैसे घबराये प्रतीक, मुस्काने रूप-चित्र।

(६) घर पर भी...चुनाव कर नहीं पाता (पृ. ६२-६३)

प्रसंग–यह पद्यांश मुक्तिबोध की कविता, 'मुझे कदम-कदम पर' से उद्धृत किया गया है। यहाँ कवि कहना चाहता है कि यदि कवि जन-कवि हो, स्वयं को सामान्य जन से काटकर आभिजात्य की ऊँची मीनार में स्वयं को बन्दी बनाकर न रखे तो उसके साहित्य-रचना के लिए अनेक विषय मिल जायेंगे। वस्तुतः आज के कवि के सामने समस्या यह नहीं है कि विषयों का अभाव हो, समस्या यह है कि असंख्य विषयों में से कौन से काव्योपयोगी हैं। और वह ठीक चयन तभी कर सकता है जब जन-सम्पृक्ति हो, उसके पास विश्वदृष्टि हो।

शब्दार्थ–चौराहे=ऐसी मानसिक स्थिति जिसमें कवि को विवेकपूर्ण यह निर्णय करना पड़ता है कि वह किन विचारों, सिद्धान्तों, आदर्शों को अपनाये। राहें=काव्य-रचना की पद्धतियाँ, काव्य के विषय। बाँहें फैलाये=स्वागत करती हुई, निमंत्रण देती हुई।

व्याख्या–वर्तमान समय में मानव ने प्रत्येक क्षेत्र में आशातीत सफलता प्राप्त की है, उन्नति की है, नए-नए अनुसंधान हुए हैं, नई-नई खोजें हुई हैं, नए क्षेत्रों में प्रयोग किये गये हैं। वैचारिक जगत् में भी क्रान्ति हुई है। नई विचारधारा, नए सिद्धान्तों के कारण अनेक वादों ने जन्म लिया है–गांधीवाद, मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद। दर्शन के क्षेत्र में भी अनेक नई शाखाएं-प्रशाखाएं दृष्टिगत होती हैं। अतः जब कवि अपने अध्ययन-कक्ष में बैठकर काव्य-रचना में प्रवृत्त होता है तो उसके मस्तिष्क में तरह-तरह के विचार धमाचौकड़ी मचाने लगते हैं, नए-नए सिद्धान्त, नए-नए वाद उसे आकृष्ट करने लगते हैं, मानव की ज्वलंत समस्याओं को सुलझाने के लिए अनेक विचार-पद्धतियाँ, अनेक राजनैतिक विचारधाराएं, विचित्र दार्शनिक मत उसे अपनी-अपनी ओर खींचने लगती हैं। नए-नए विषय उसे अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। नए-नए शिल्पों पर वह मुग्ध होता है। इस प्रकार उसके सामने समस्या यह नहीं है कि विषयों की कमी है, उसे विषय नहीं सूझता या कि विषय पुराने और बासी पड़ गये हैं। विषय भी अनेक हैं, उनमे ताज़गी भी है। वे नये और आकर्षक भी हैं। वस्तुतः आज के लेखक की कठिनाई यह है कि उन असंख्य, नये, ताज़ा और आकर्षक विषयों में से किस एक को चुने और उस पर लेखनी चलाये। उसे चुनना ही नहीं है, ठीक से चुनना है। समाज, वर्तमान विषम परिस्थितियों, जटिल समस्याओं को दृष्टि में रखकर, मानवजाति की सुरक्षा, शांति, और सुख-चैन को दृष्टि में रखकर चुनाव करना है। और सही चुनाव तभी हो सकता है जब चुनाव करने वाले की दृष्टि निर्भ्रान्त हो, उसमें विवेक हो, वह सचाई को पहचाने। मुक्तिबोध इसी सही दृष्टि को विश्व दृष्टि कहते हैं जो संकुचित स्वार्थ, स्व-पर, ऊँच-नीच, अमीर-गरीब के भेद से ऊपर उठकर सम्पूर्ण मानवजाति के मंगल के प्रति प्रतिबद्ध है, पूर्णतः समर्पित है।

विशेष–(१) मुक्तिबोध की काव्य-दृष्टि तथा लोकगीत की भावना का परिचय मिलता है।

(२) हिन्दी की नई कविता के दोषों की ओर संकेत है।

(३) भाषा सरल और प्रसाद गुण सम्पन्न है।

ब्रह्म राक्षस

कविता : भाव-बोध–स्वर्गीय मुक्ति बोध की प्रस्तुत लम्बी कविता एक प्रकार का मिथ कही जा सकती है। इसमें उन्होंने परम्परागत धारणाओं के सड़े-गले अन्तराल में से जीवन के जीवन्त तत्त्व बटोरने का साहसिक सफल प्रयास किया है। ब्रह्मराक्षस उस अनवरत प्रयास का प्रतीक लगता है जो सदियों के मटमैले कुहासों को धोकर जीवन को निखारने का प्रयासक है, पर अन्ध धारणाएं उसके प्रयासों को सफल नहीं होने देतीं। इस सन्दर्भ में खण्डहर, बावड़ी, उसकी पुरानी सीढ़ियाँ, पानी, अन्धेरा आदि सभी परम्परागत धारणाओं के प्रतीक और परिचायक हैं। ब्रह्मराक्षस एक प्रकार का हमारा अचेतन-पौराणिक मन का परिचायक है, जो जीवन-समाज की सचेतना के वृक्ष पर आज भी आरूढ़ है। वह एक शोधक भी है। तभी सो कवि अपने आपको 'ब्रह्मराक्षस का सजल-उर शिष्य' कहकर उसकी अधूरी संवेदना और कार्यों को पूर्ण करने का व्रत लेना चाहता है :

"मैं ब्रह्म राक्षस का सजल उर-शिष्य
होना चाहता
जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य,
उसकी वेदना का स्रोत
संगत, पूर्ण निष्कर्षों तलक
पहुँचा सकूँ।"

व्याख्या

शहर के उस ओर खण्डहर..बात गहरी है। (३५)

शब्दार्थ–परित्यक्त=त्याग दी गई। गहरी=गम्भीर।

प्रसंग–प्रस्तुत पंक्तियाँ कविवर मुक्तिबोध के काव्य-संकलन 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में संकलित 'ब्रह्मराक्षस' नामक कविता के आरम्भ या भूमिका में से उद्धृत की गई हैं। इस मिथ-कविता में कवि ने ब्रह्मराक्षस और उसके सम्बन्ध में प्रचलित धारणाओं को अपने शोध का विषय बनाया है। वह ब्रह्मराक्षस को भी एक शोधक के रूप में मानकर चला है। प्रस्तुत पंक्तियों में ब्रह्मराक्षस की अवस्थिति सम्बन्ध धारणाओं की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हुए कवि कहता है :

व्याख्या–शहर के एक तरफ कुछ खण्डहर विद्यमान हैं। वहाँ लोगों के द्वारा त्याग दी गई अर्थात् किसी भी प्रकार के उपयोग में न लाई जाने वाली एक बावड़ी है। उस बावड़ी में गहरा जल है जो कि अपनी भीतरी गहराई के कारण अन्धियारा-सा, काला-सा प्रतीत होता है। उसमें पूर्णतया ठण्डक है–अर्थात् किसी भी प्रकार की हलचल की गर्माहट नहीं है। उस पुराने अर्थात् जाने कब से ठहरे-रुके हुए बावड़ी के पानी में अनेक सीढ़ियाँ भी हैं, जिनमें से कई पानी की गहराई में डूबी हुई हैं। ऐसा सब क्यों है ? क्या है ? एक रहस्यमयता सी वहाँ परिव्याप्त है। स्थिति कुछ इस प्रकार की है–या उस बात अथवा घटना जैसी है कि जिसका कुछ आधार तो स्पष्ट दीख न पड़ता हो, पर अहसास यह होता है कि उसकी पृष्ठभूमि में निश्चय ही कोई-न-कोई गम्भीर रहस्य अथवा आधार छिपा हुआ है।

भाव यह है कि वहाँ का सारा वातावरण अजीब-सी रहस्यमयता के पर्यावरणों से घिरा है। स्पष्ट कुछ न होने पर भी तह तक जाने का प्रयत्न करने से कुछ-कुछ रहस्यमयता का पर्यावरण हटने लगता है।

विशेष–आरम्भ से ही कविता-पाठकों की जिज्ञासा बढ़ा देने में कवि को विशेष सफलता मिली है।

'समझ में न आ सकता हों' पद द्वारा कवि का संकेत उन लोक-धारणाओं की ओर है, जब ऐसे स्थलों के सम्बन्ध में अक्सर स्वतः ही प्रचलित हो जाया करती हैं।

बावड़ी को घेर..खटके सी लगी रहती। (३५)

शब्दार्थ–डालें=वृक्षों की शाखाएँ। औदुम्बर=एक वृक्ष का नाम। शाखों=डालियों। घुग्घुओं=एक प्रकार के पक्षियों। विगत=अतीत, भूतकाल। शत=सैकड़ों। गहन=गहरा, गम्भीर।

प्रसंग–बावड़ी के आस-पास के वातावरण, उसके साथ जुड़ी पाप-पुण्य की कहानियों और उन सबके प्रति अपने मन में जागृत सन्देह की बातों को व्यक्त करते हुए कवि कहता है :

व्याख्या–खण्डहर के पास स्थित बावड़ी को वृक्षों की अनेक प्रकार की उलझी डालियों ने पूरी तरह से घेर रखा है। एक ओर ओदुम्बर का वृक्ष जैसे मौन-भाव से खड़ा सब देख सुन रहा है। उसकी डालियों पर डालियों से कुछ अलग हुए-से घुग्घुओं के घोंसले लटक रहे हैं, जिससे कि वातावरण और भी रहस्यमय एवं डरावना-सा बन जाता है।

इस बावड़ी के साथ अतीत काल की अनेक पुण्यमयी कहानियाँ जुड़ी हैं, जिनकी गन्ध और अभ्यास आस-पास के फूले-खिले वृक्षों की कच्ची सुगन्धी के साथ मिला आज भी स्वतः ही होने लगता है। उन पुण्यमयी कहानियों की बातें हवा में तैरती हुई अनेक प्रकार के गहन सन्देह के भाव मन में जगा देती हैं। उस सबमें अतीत काल की कोई ऐसी श्रेष्ठता की कहानी जुड़ी हुई है कि जो दिल में आज भी एक धुकीधुकी-सी उत्पन्न कर देती है।

विशेष–'बावड़ी को घेर डालें खूब उलझी हैं' पंक्ति विशेष अर्थ की द्योतक है। वह यह कि इस बावड़ी के साथ जुड़ी कथाएँ स्वयं तो उलझावपूर्ण हैं ही, देखने-सुनने वालों को भी उलझन में डाल देती हैं।

खण्डहर और बावड़ी के साथ उसके रहस्यमय वातावरण को भी कवि ने विगत की श्रेष्ठता का परिचायक बताया है। साथ ही उसके सम्बन्ध में सन्देह का भाव भी व्यक्त किया, ताकि वास्तविकता की तह तक पहुँचा जा सके।

भाषा और शैली में स्वाभाविक सादगी और सहज प्रवाह विशेष दर्शनीय एवं उल्लेख्य हैं।

बावड़ी के इन मुँडेरों पर......................................अम्बर ताकता है। (३५-३६)

शब्दार्थ–टगर=एक लता, जंमली बेल। लटकता=लहराता। झौंर=गुच्छा। शून्य अम्बर=सूना आकाश।

प्रसंग–श्री मुक्तिबोध की कविता 'ब्रह्म राक्षस' में से ली गयी इन पंक्तियों में कवि खण्डहर, बावड़ी और उसके आस-पास के वातावरण के गहरे इतिहास में, प्राकृतिक वातावरण के माध्यम से ही झाँकने का प्रयास करते हुए कह रहा है :

व्याख्या–बावड़ी के आस-पास बने घाट के किनारों पर सुनहरी हरी, सुन्दर डाली रूपी कुहनियाँ टिका कर टगर नामक जंगली बेल जैसी अलसायी बैठी है। उस पर खिले श्वेत पुष्प तारों के समान झलमलाते हुए प्रतीत होते हैं।

उसके पास ही लाल फूलों के गुच्छों को लहराते हुए कन्हेर का झाड़ है। वह झाड़ मानों बावड़ी के उस ओर विद्यमान खतरे की तरफ संकेत कर रहा है कि जहाँ अन्धेरे में बावड़ी का मुख (भाग) खुला हुआ है और लगता है, जैसे सहायता के लिए सूने आकाश की तरफ निहार रहा है।

विशेष–कवि ने पुष्पों, लताओं और उनके रंगों के माध्यम से विषयानुकूल उचित प्रतीकों की योजना की है। परिणामस्वरूप सही बिम्ब उभर कर कविता के पाठक की अन्तःबाह्य चेतना को पूर्णतया छा लेता है। लाल फूलों को खतरे का निदेशक उचित ही कहा गया है।

बावड़ी की उस घनी गहराइयों..फिर भी मैल !! (३६)

शब्दार्थ–शून्य=सूनी। पैठा=प्रविष्ट हुआ, घुसा बैठा। गहन अनुमानिता=गम्भीर अनुमान। मलिनता=मैल, गन्दगी।

प्रसंग–किसी भावी रहस्यमयता या घटना की सूचक परिस्थितियों एवं वातावरण का निर्माण करने के बाद, अब इन पंक्तियों में कवि अपने वस्तु-विषय को प्रतिष्ठापित कर रहा है। किम्वदन्तियों के आधार पर वह अनुमान प्रस्तुत कर रहा है कि जाने कब से इस बावड़ी के अन्धेरे भाग में एक ब्रह्म राक्षस जल में बैठा अपना तन-बदन धो रहा है। बावड़ी में स्वतः

ही जल की स्थिरता में हो उठने वाली छप-छंप ध्वनि उसी की है। कवि कहता है :

व्याख्या–बावड़ी के उस ओर जहाँ घना अन्धेरा और गहरा पानी है, साथ ही वातावरण भी सूना-सूना है; वहाँ एक ब्रह्म राक्षस घुसकर बैठा हुआ है। तभी तो वहाँ भीतर से एक गहरी गूँज किसी पागल की बड़बड़ाहट के समान हमेशा सुनाई देती रहती है। इस सबके बारे में लोगों ने गम्भीर अनुमान लगाये हैं। वे अनुमान कुछ इस प्रकार के हैं कि अपने शरीर की मैल को दूर करने के लिए, अपने पर पड़ी पापों की छाया को मिटाने के लिए वह ब्रह्म राक्षस वहाँ, रात-दिन, प्रतिपल घिस-घिस कर अपने तन को धोता-नहाता रहता है। उसके हाथों के पंजे पानी को अपने मुँह, हाथ बाँह, पैर आदि पर लगातार उछालते रहते हैं, जिससे छप-छप की ध्वनि आती रहती है। फिर भी मैल जैसे उतर नहीं पाती। वह ज्यों की त्यों बनी रहती है।

विशेष–लगता है यहाँ ब्रह्म राक्षस परम्परागत व्यवस्थावादियों का प्रतीक बन गया है। उसका तन की मैल उतारने के लिए बावड़ी में नहाना–नदियों-बावड़ियों के साथ जुड़ी इस प्रकार की परम्पराओं, भावनाओं का परिचायक है। फिर भी कवि कहता है कि परम्परा का यह मैल आज भी ज्यों का त्यों है। आज भी इस प्रकार की व्यर्थ लकीरें ज्यों की त्यों पीटी जा रही है। मैल उतरने के स्थान पर बढ़ता ही जा रहा है।

और....होंठों से..संवेदना है स्याह !! (३६-३७)

शब्दार्थ–स्तोत्र=स्तुति-पाठ। मन्त्रोच्चार=मंत्रों का उच्चारण। ज्वार=बाढ़। मस्तक की लकीरें=मस्तक पर आ पड़ी सलवटें। संवेदना=अनुभूति। स्याह=काली।

प्रसंग–परम्पराओं का यह भदेस, विद्रूप मन में आलोचना का भाव जगा समस्त अनुभूतियों को काला या विद्रूप बना देता है–यह बात स्पष्ट करते हुए कवि कह रहा है :

व्याख्या–अपने तन की मैल को अनवरत साफ करता हुआ वह ब्रह्म राक्षस होंठों ही होंठों में कुछ बुदबुदाता भी जाता है। लगता है वह किसी अनोखे स्तोत्र का पाठ कर रहा है। या फिर क्रोध एवं आवेश में किन्हीं मन्त्रों का उच्चारण बुदबुदाहट के रूप में करता जा रहा है। अथवा उसके शुद्ध संस्कृतमय शब्दों में किन्हीं अबूझ गालियों की बाढ़ीली बौछार-सी आ गई है यह सब देख-सुनकर मस्तक पर स्वभावतः आलोचनात्मक सलवटें उभर आती हैं। उनमें अनेक प्रकार के प्रश्न कौंध-कौंध जाते हैं। उसके उस निरन्तर चल रहे स्नाह का प्रवाह लगता है प्राणों की समस्त संवेदनाओं पर कालिमा पोत रहा है। अर्थात् उससे संवेदना को कोई विशेष सम्बल न मिलकर अन्ध-विश्वासों को ही बढ़ावा-सा मिलता लगता है।

भाव यह है कि अनेक प्रकार की अन्ध मान्यताओं ने जुड़कर इस प्रकार के स्थलों के प्रति अनास्था के भावों को ही अधिकाधिक प्रश्रय दिया है।

विशेष–अनोखा स्तोत्र, क्रुद्ध मन्त्रोच्चार आदि शब्द जैसे अभिशाप के प्रतीक बनकर परम्पराओं के विद्रूप को व्यंजित करने वाले हैं। 'संवेदना है स्याह' यथार्थवादी चिन्तक की मनः-स्थिति का परिचायक है।

किन्तु, गहरी बावड़ी..है श्रेष्ठता उसकी !! (३७)

शब्दार्थ–रवि-रश्मि=सूर्य की किरण। तल तक=गहराई तक। बन्दना=आरती, स्तुति। प्रफुल्लित=विकसित, खिले हुए। कण्टकित=काँटों वाले। विनत हो=झुक कर।

प्रसंग–लोग इस प्रकार के स्थानों से जुड़ी चमत्कारपूर्ण कथाओं पर विश्वास कर इनके आगे झुकते हैं, तो लगता है कि जैसे सचमुच इनका व्यक्तित्व एवं अस्तित्व महनीय हो गया है। तब और भी दन्तकथाएँ अपने चमत्कारों के साथ इनसे जुड़ती जाया करती हैं। कवि कहता है :

व्याख्या–कभी-कभी जब गहरी बावड़ी के भीतर वाली दीवार पर सूर्य की कोई किरण

तिरछी होकर गिरती है, उसके प्रकाश परमाणु भीतर के अंधियारे को भी कुछ क्षणों के लिए आलोकित कर देते हैं, तब ब्रह्म राक्षस मान लेता है कि उस स्थान की महत्ता और पवित्रता के आगे झुककर मानों सूर्य भी इसे अपना नमस्कार अर्पित कर रहा है। अर्थात् परम्परावादी ब्राह्मण प्रकृति की सामान्य औपचारिक क्रिया-प्रक्रियाओं को भी विशिष्ट चमत्कार का रूप देकर लोगों की भड़की अन्ध भावनाओं से लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं।

कभी रात में यदि चाँदनी की कोई भूली-भटकी किरण इस बावड़ी की भीतरी दीवार से टकरा जाए, तब ब्रह्म राक्षस यह प्रचारित करने लगता है कि उसे अपना ज्ञान-दाता गुरु मान कर चाँदनी भी जैसे उसकी आरती उतारने के लिए धरती पर उतर आई है। यहाँ भी कवि यही स्पष्ट करना चाहता है कि सामान्य प्राकृतिक व्यापारों को भी परम्परावादी चमत्कार प्रचारित कर अपना उल्लू सीधा करते हैं।

उसका काँटों से भरा पर क्षणिक रूप से प्रफुल्लित मन चाँद-सूर्य की किरणों के उपरोक्त नैसर्गिक व्यापारों को भी चमत्कार मानकर यह अनुभव करने लगता है कि जैसे उसके समक्ष झुककर आकाश की उच्चता ने भी उसकी श्रेष्ठता स्वीकार की है।

कवि का भाव यह है कि सहज प्राकृतिक क्रिया-व्यापारों को सामान्य रूप से न ग्रहण कर परम्परावादी उन्हें भी श्रेष्ठता का चमत्कार प्रमाणित-प्रचारित करते हैं, ताकि उनकी स्वार्थ सिद्धि हो सके। इस प्रकार परम्पराएँ और वही बाद में अन्धविश्वास बन जाती हैं।

विशेष–चमत्कारों की भ्रान्त धारणाएँ बनने की प्रक्रिया का कवि ने बड़ा ही स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है।

और, तब दुगुने भयानक..गहराइयों में शून्य। (३७-३८)

शब्दार्थ–वैदिक ऋचाओं=वेद मंत्रों। प्रमेयों=शास्त्रीय प्रमाणों। प्राक्तन-प्राचीनतम।

प्रसंग–पहचान वाले मन–अर्थात् समझदार यथार्थवादी लोग प्राचीनतम काल से लेकर आज तक के समस्त सूत्रों को जोड़कर, सत्य का अन्वेषण करने लगते हैं कि आखिर इस प्रकार की चमत्कारपूर्ण कथाओं या किम्वदन्तियों का अभिप्राय क्या है। कवि कह रहा है :

व्याख्या–इस प्रकार की स्थितियों के उपस्थित हो जानें पर यथार्थ के सचेतक मन दुगुने उत्साह और जिज्ञासा-भाव से सुमेरी, बैबिलोनी जैसी आदिम सभ्यता-संस्कृतियों में प्रचलित जन-कथाओं से लेकर, मधुर वैदिक मंत्रों, छन्दस, थियोराम तक के आज तक के जितने भी सूत्र, प्रामाणिक शास्त्र, ग्रन्थ हैं, यहाँ तक कि आधुनिक चिन्तक कार्लमार्क्स, एंजेल्स, रसेल, टॉएन्जी, हीडेग्गर; स्पेंग्लर, सार्त्र, गाँधी आदि सभी के अन्तों का विवेचन-विश्लेषण करने लगता है। इन सबकी दृष्टियों से समझदार मन उस प्राचीनतम बावड़ी में स्नान करने ब्रह्मराक्षस के बारे में नया व्याख्यान करने लगता हैं। अर्थात् प्रत्येक विचारक ने परंपराओं के बारे में अपनी-अपनी व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। प्राचीनता के गहर अर्थो में पैठ जीवन-तत्त्व खोजने की चेष्टाएँ की हैं। पर स्यात् कोई भी उनकी वास्तविक गहराई तक नहीं पहुँच पाया। कोई भी ब्रह्मराक्षस के तन की युग-युगों से धोई जा रही उस मैल का उत्तर नहीं पाया।

ये गरजती, गूंजती..वावड़ी में अड़ गई। (३८)

शब्दार्थ–आन्दोलिता=हलचल से पूर्ण। उद्भ्रान्त=भ्रमपूर्ण। आवर्त्त=भंवर, प्रतिशब्द=विरोधी शब्द। विकृताकार-कृति=भ्रष्ट आकार वाली रचना।

प्रसंग–इस प्रकार की बावड़ियों या संस्थाओं के साथ जो अनेक प्रकार की त्रासदीय चमत्कारपूर्ण बातें जुड़ गई हैं, उनके साथ अनेक प्रकार के विवाद भी प्रचलित हो गये हैं। युग-युगों से हम लोग इस प्रकार की त्रासदी को सुनते करते आ रहे हैं। इन विचारों को व्यक्त करता हुआ कवि कह रहा है :

व्याख्या–युग-युगों से इस प्रकार की ध्वनियाँ गरजकर, गूँजकर, हलचल मचाकर अन्तर्मन की गहराइयों से अनवरत उठती ही आ रही हैं। प्रत्येक व्यक्ति भ्रम भरे शब्दों से इन्हें व्याख्यायित करने का प्रयत्न कर अपने शब्दों से अन्यों के शब्दों को काटता, फिर अपने ही शब्दों के भंवर में उलझा जा रहा है। परिणामतः जो उसका सत्य स्वरूप है, वह अपने ही बिम्बों से जूझकर और भी विकृत-विद्रूप कृति-रूप में परिणत होता जा रहा है। इस प्रकार यहाँ ध्वनियों या स्वर-शब्दों का युद्ध अपनी ही प्रतिध्वनियों एवं प्रति शब्दों से अनवरत हो रहा है। जिससे कोई स्पष्ट मत-वाद प्रतिष्ठापित ही पाने में असमर्थ है।

बावड़ी के इन सुन्दर किनारों पर अपनी हरी डालियों रूपी कुहनियाँ टिकाए तारों जैसे सफेद फूलों वाले टगर के पौधे जाने कब से इन समस्त ध्वनियों को स्तब्धता से सुन रहे हैं। करौन्दों के सुकोमल फूल भी सुन रहे हैं और पुराना औदुम्बर का पेड़ भी स्तब्ध-सा सुन रहा है। कवि कहता है कि इस बावड़ी के साथ जुड़ी प्रतीकात्मक त्रासदी को भी मैं भी अनवरत सुन रहा हूँ।

भाव यह है कि सभी चमत्कारपूर्ण दन्तकथाएँ किसी न किसी सत्य का प्रतीक हुआ करती हैं। पर हम लोग उन्हें अपनी व्याख्याओं के शब्द-जाल में उलझा दिया करते हैं।

खूब ऊँचा एक जीना.....................................अन्तर्कथाएँ बहुत प्यारी हैं। (३८-३६)

शब्दार्थ–जीना=सीढ़ी। आभ्यन्तर=भीतरी। संगर=युद्ध, संघर्ष। गहन=गहरी। किंचित्=थोड़ी। अतिरेकवादी=अतिवादी, बढ़ा-चढ़ाकर। कृत=रचे गए। तुष्टि=प्रसन्नता, तृप्ति।

प्रसंग–बावड़ी के सन्दर्भ में मानव-जीवन के विश्वासों और संघर्षों को प्रिय बताते हुए कवि कह रहा है–

व्याख्या–उस बावड़ी वाले खण्डहर में एक बहुत ऊँचा जीना है, जिसकी सीढ़ियाँ अत्यधिक अन्धेरी हैं। वे सीढ़ियाँ जैसे एक भीतरी निराले लोक की ओर ले जाने वाली हैं। उन पर एक सीढ़ी चढ़ना, फिर उतर आना। पुनः चढ़ने के प्रयास में लुढ़क जाना, परिणामस्वरूप पैरों में मोच और छाती पर अनेक घाव आ जाना अर्थात् सीढ़ियाँ उतार-चढ़ाव की प्रतीक हैं। उस पर चढ़ने के प्रयास में अर्थात् चढ़कर रहस्य पाने की इच्छा में कई बार व्यक्ति लुढ़ककर, घायल होकर रह जाया करता है। यों अच्छे-बुरे के संघर्ष से भी कहीं अधिक उग्र अच्छे एवं अधिक अच्छे का संघर्ष चल रहा है। बहुत गहरे में जाकर और कठिनता से ही कुछ सफलता मिल पाती है। पर इस संघर्ष में मिलने वाली असफलता सफलता से भी कहीं अधिक भव्य कही जा सकती है। अर्थात् मुख्य सफलता नहीं अनवरत संघर्ष है और वही वस्तुतः भव्य भी है। अतिवादी पूर्णता या सफलता की इच्छा से संयत असफलता की व्यथा अधिक प्रिय है। आज जो जीवन-मूल्यों के आधार ज्यामिति और गणित बन रहे हैं–अर्थात् मानव-मूल्यों का आधार नाप-तोल एवं अनेक पट्टिका जोड़ बन गया है। दूसरी ओर आत्मचेतना से संभूत जो सूक्ष्म मानदण्ड हैं–उन सबकी दृष्टियों से अतिवादी दृष्टि की पूर्णता को सन्तुष्ट कर पाना सरल नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जो कथाएँ, जो मान और मूल्य मानव के अन्तर में बस गए हैं, वे उसे कहीं अधिक प्रिय हैं।

भाव यह है कि मानवीय आन्तरिकता की गहनता को ज्यामिति-शास्त्र एवं अंक-गणित के आँकड़ों या किसी भी प्रकार के आरोपित मानों-मूल्यों के मापदण्ड से नहीं नापा-जोखा जा सकता।

रवि निकलता...एक शोधक की। (३६)

शब्दार्थ–रुधिर-सरिता=खून की नदी। व्रण=घाव। धौली=उजली। उद्विग्न=बेचैन। भालों=मस्तकों। सर्वतः=सब जगह। वक्ष=सीना। शोधक=खोजी अनुसन्धाता।

प्रसंग–मानवीय मूल्यों का शोधक देखता, खोजता और सोचता है; फिर भी वह किसी बात को पूर्ण गहराई तक नहीं नाप पाता। इन विचारों को व्यक्त करते हुए कवि कह रहा है :

व्याख्या–अपनी लाल रक्त-सी धारा-प्रवाह किरणें बरसाता सूर्य उगता है और यहाँ की दीवारों को भी जैसे रक्त-रंजित अर्थात् लाल-गुलाल कर देता है। इसके बाद सांझ ढल जाने के बाद जब चाँद उदय होता है, तो जैसे वह दिन और दीवारों के घावों पर अपनी उजली श्वेत चाँदनी की पट्टियाँ बाँध देता है। व्याकुल मस्तिष्क पर आकश में आछोर फैले सितारे अनगिनत दशमलवों के भी बिन्दुओं जैसे चारों ओर फैल जाते हैं। इस प्रकार गणितीय उलझाव वास्तव में घातक ही प्रमाणित होता है। शोधक वक्ष-बांहें खोल एक प्रकार से विमूढ़-सा बनकर रह जाता है।

भाव यह है कि मानवीय मूल्यों को गणितीय आँकड़ों से नहीं नापा-जोखा जा सकता। ऐसा करने पर असफलता एवं किंकर्त्तव्यविमूढ़ता ही पल्ले पड़ती है।

व्यक्तित्त्व वह कोमल....,...भटका !! (४०)

शब्दार्थ–स्फटिक प्रासाद=संगमरमर का महल। सामंजस्य-योजित=समन्वित ढंग से, योजनापूर्ण ढंग से निर्धारित।

प्रसंग–'ब्रह्मराक्षस' कविता में मानव-मूल्यों की व्याख्या करते, प्राचीन बावड़ी खण्डहर और वातावरण आदि के माध्यम से कविवर मुक्तिबोध कह रहे हैं :

व्याख्या–उस खण्डहर का समूचा व्यक्तित्त्व संगमरमर के उज्ज्वल-कोमल प्रासाद-सा महत्त था। उसमें एक जीना और जीने में अनेकों सीढ़ियाँ, जिन पर चढ़ पाना बड़ा ही कठिन था। तात्पर्य यह है कि संगमरमर के भवन जैसे उज्ज्वल व्यक्तित्व या स्पान के भीतर भी अनेक प्रकार की ग्रन्थियाँ और क्रमशः तात्त्विक मान्यताएँ रहा करती हैं। जिन सबका पार पा सकना अत्यधिक कठिन हुआ करता है। अतः उन भाव-तर्क और गणित के हिसाब से योजित सीढ़ियों को हम यों ही छोड़ दें। पर मन उस सबमें सामंजस्य बिठाने के लिए इधर-उधर ज्ञान की ग्रसता का सहारा पाने के लिए निरन्तर भटकता ही रहा करता है।

किन्तु-युग बदला...ट्रेजडी है नीच !!

शब्दार्थ–घन-अभिभूत=धन से प्रभावित। झाईं=परछाईं। आत्मचेतस्=चिन्तक, शोधक। विषादाकुल=निराशा से पीड़ित।

प्रसंग–परम्परा या किसी भी मान्यता का महत्त्व वस्तुतः उसकी अवस्थितियों में जीकर ही अंकित किया जा सकता है, यह विचार व्यक्त करते हुए कवि कह रहा है :

व्याख्या–खण्ड़हर, बावड़ी और उसमें रहने वाले राक्षस का अपना अस्तित्त्व काल था, युग था। पर अब युग बदल गया है। अतः इन सबके साथ जुड़ी मान्यताओं का मान-मूल्य भी बदल गया है। अब तो धन के लाभ और कीर्ति की दृष्टि से ही प्रत्येक व्यवसाय या कार्य सम्पादित किया जाता है। धन ही हृदय और मन हो गया है। पर धन से अत्यधिक प्रभावित मन में भी सत्य की परछाईं कहीं-न-कहीं चिलचिलाती रहती है। इधर चिन्तक-शोधक के प्राणों में इस सब में अनमनी का भाव था और विश्व-शोधकों में किसी प्रकार का बनाव नहीं था। अतः समस्त प्रकार की महत्ताएँ मन की आकुलता और निराशा में परिणत होकर रह गईं। यदि मेरा मिलन उस सबसे उसी समय अर्थात् उनके वास्तविक अस्तित्व काल में हो पाता, तो उन परिस्थितियों में स्वयं जीकर मैं उसे अपना मूल्य और उसकी महत्ता से अवगत कराता। यह भी बताता कि हम जैसों के लिए उस सबका वास्तविक उपयोग क्या है ? उसमें जो आन्तरिकता थी, उसके महत्व का भी मैं उद्घाटन करके रख देता। पर वह सब तो जैसे अन्तःबाह्य रूपी

पाटों के बीच में ही पिसकर रह गया और इस प्रकार एक नीचतापूर्ण त्रासदी घट गई।

बावड़ी में वह स्वयं...पहुँचा सकूं। (४१)

शब्दार्थ–कटीले=काँटेदार। तम-बिवर=अंधेरे का बिल। सजल-उर=तरल हृदय।

प्रसंग–वह खण्डहर की बावड़ी में रहने वाला ब्रह्मराक्षस अन्तःबाह्य मूल्यों-मानों के संघर्ष में ही चुक गया। पर कवि उसके अधूरे काम को पूर्ण करने की कामना व्यक्त करता हुआ कह रहा है :

व्याख्या–आज वह (ब्रह्मराक्षस) स्वयं बावड़ी के भीतर समाया मानो एक पगलाया प्रतीक बनकर कह रहा है कि वह अन्तःबाह्य जीवन के गणित की पहेलियों को किस प्रकार हल करता रहा और अन्त में अपना काम अधूरा ही छोड़ मर गया। जैसे किसी घनी झाड़ी के काँटों में उलझ कर कोई पक्षी मरकर विदा हो जाता है, उसी प्रकार वह प्रश्नों की उलझनों में उलझ कर समाप्त हो गया। एक अनजानी ज्योति हमेशा के लिए बुझ गई। कवि कहता है कि आखिर ऐसा क्यों कर हुआ ! आज मैं उस ब्रह्मराक्षस का तरल हृदय वाला शिष्य बनना चाहता हूँ। जिससे कि मैं उसके अधूरे कार्यों को, उसकी वेदना को किसी निश्चित निष्कर्ष का आयाम प्रदान कर सकूँ अर्थात् सम्पूर्णता दे सकूँ।

भाव यह है कि मानव-जीवन की अबूझ गुत्थियों को सुलझाते हुए जो अतीत बन चुके हैं, यथार्थ के धरातल पर उनके निष्कर्षों को लेकर ही हमें आगे बढ़ना है।

दिमागी गुहान्धकार का ओराँगउटाँग

कविता परिचय–यह कविता कविवर गजानन माधव मुक्तिबोध के काव्य-संकलन 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में प्रकाशित अनेक कविताओं में से एक प्रमुख कविता है। इसका आकार-प्रकार यद्यपि अधिक लम्बा तो नहीं, तो भी सामान्य आकार-प्रकार वाली कविताओं से अधिक लम्बी अवश्य है। ओराँगउटाँग पहाड़ी गुफाओं में रहने वाले एक खतरनाक जंगली और बहशी जीव का नाम है जो अन्धेरे में रहता है और जिसका आक्रमण अचानक होने के कारण अत्यधिक खतरनाक माना जाता है। प्रस्तुत कविता में उसे प्रतीक बनाकर कवि ने प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर्मन में रहने वाली प्राकृतिक पर अविकसित, अदम्य पाशविक वृत्तियों का भावाविल चित्रण किया है।

कविता में अन्तर्द्वन्द्व का भाव प्रमुख है। मनोविज्ञान के स्तर पर कवि यह मानकर चला है कि व्यक्ति के मन की ग्रन्थियों के भीतर और भीतर, उसके भी भीतर अनेक प्रकार की वृत्तियाँ अन्तर्हित रहा करती हैं, जो किसी भी समय उभर-जाग कर भयावह प्रमाणित हो सकती हैं। व्यक्ति उनसे बचे रहने का प्रयत्न और उपाय व्यर्थ ही करता रहता है। अच्छा इसी में है कि उन्हें उभरने का अवसर ही न दिया जाये। जीवन में जो तथ्य है, यथार्थ और सत्य है, उसे सहज ही स्वीकार कर जीवन को चलने दिया जाए। कवि ने यह भी स्पष्ट किया है कि व्यक्ति अपने भीतर झाँक कर इस ओराँग उटाँग के दर्शन कर सकते हैं। अपने आप में ही उसकी आकृति का अहसास भी कर सकता है और करता रहता है कवि भी, अन्य व्यक्ति भी।

अभिव्यक्ति के स्तर पर कविता में सीधा-सपाट कुछ भी नहीं है। द्वन्द्व के भीतर द्वन्द्व

की पर्तें छिपी हैं। उनका उद्‌घाटन काफी दुरूह एवं बोझिल हो गया है। प्रतीक अपने आप में भी अधिक स्पष्ट एवं परिचित नहीं है। दुरूहता का यह भी एक कारण है। दिमागी गुहा का अन्धकार वस्तुतः आन्तरिक-बौद्धिकता की अस्पष्टता, निराशा और एक प्रकार की रहस्यमयता का प्रतीक परिचायक है। इस प्रकार कवि ने व्यक्ति या अपने माध्यम से व्यक्ति के भीतर छिपी अदम्य, नैसर्गिक किन्तु अविकसित पाशवी वृत्तियों का वर्णन ही मुख्यतः प्रतीकात्मक ढंग से इस कविता में किया है।

स्वप्न के भीतर एक...न यक्ष हो।

शब्दार्थ–स्वप्न=कल्पना, इच्छा। सघन=गम्भीर। प्रच्छन्न=सुगुप्त, छिपी हुई। कथ्य=कथन का मूल संवेद्य, उद्देश्य। नेपथ्य=पर्दे के पीछे से या गुप्त रूप से। कक्षा=कमरा, रिक्त स्थान। प्रकोष्ठ=विशेष कक्ष। साँवले=काले। गुहान्धकार=गुफा के भीतर ही अन्धेरे में! यक्ष=परम्परागत विलास और सौन्दर्य का देवता, प्रतीक।

प्रसंग–ये पंक्तियाँ कविवर मुक्तिबोध की कविता 'दिमागी गुहान्धकार का ओराँगउटाँग' के आरम्भ में से ली गई हैं। इस कविता में कवि ने मानव-मन की प्राकृतिक, अदम्य और अविकसित मनोवृत्तियों के माध्यम से वर्तमान जीवन को नापने-जोखने का प्रयत्न किया है। ओराँगउटाँग और यक्ष के मिथक के द्वारा, प्रस्तुत पंक्तियों में अन्तःवृत्तियों को दबा पाने में असमर्थता का अनुभव करते हुए कवि अपनी चेतना के द्वन्द्व को व्यक्त करते हुए कह रहा है।

व्याख्या–मेरे सपनों–अर्थात् कल्पनाओं और इच्छाओं के भीतर भी कुछ सपने, कल्पनाएं या इच्छाएं समाई हुई हैं। इसी प्रकार व्यक्त विचारधारा के भीतर एक और गम्भीर विचार धारा गुप्त से विद्यमान है। अर्थात् सभी दृष्टियों से मन-बुद्धि की स्थिति द्विधात्मक है, एक चाहना के बाद उसके भीतर से ही दूसरी का जन्म हो जाता है। अतः मैं स्पष्टतः जो कुछ कहना चाहता या करना चाहता हूँ, उसके अन्तराल में भी सुगुप्त रूप से मेरी चेतना को विरोधी और विपरीत दिशा में ले जाने वाला विरोधी विचार नेपथ्य-संगीत के समान मुखर होता रहता है। इस सबसे लगता है, जैसे मेरे बाह्य रूप से क्रिया शील मस्तिष्क के भीतर एक और भी मस्तिष्क सुगुप्त है। उसके भीतर भी एक और कमरा है और उस कमरे के भीतर एक विशेष प्रकार का कोष्ठ या कक्ष है। उसके भीतर के गुफा के अन्धेरे के समान काले अन्धकार में एक भारी-भरकम और मजबूत-सा सन्दूक रखा है। उस सन्दूक के भीतर कुछ या कोई बन्द है–ऐसा मुझे अहर्निश प्रत्येक क्षण अनुभव होता रहता है। वह बन्द कोई शाप भ्रष्ट यक्ष है, या ओराँगउटाँग, जानता नहीं। जानने का प्रयत्न करने पर यह डर बना रहता है कि वह ओराँगउटाँग कहीं बन्द सन्दूक से छूट न जाए–अर्थात् मेरी अदम्य और अविकसित नैसर्गिक वृत्तियाँ कहीं मेरे वर्तमान पर हावी न होने लगें, या फिर यक्ष के रूप में मेरी पौराणिक मिथकीय विलास-वृत्तियाँ ही न जागृत हो उठें!

कवि का भाव यह है कि व्यक्ति की अन्तश्चेतना के कहीं गहरे में उसकी परम्परागत पाशव और देवत्त्व के विलास से पूर्ण दोनों प्रकार की भावनायें हमेशा अनजाने रूप से अवस्थित एवं जागृत रहा करती हैं। बाह्य सामाजिकता-बोध और भय के कारण ही वह उन्हें दबाए रखता है। परन्तु कहा नहीं जा सकता कि कब कौन वृत्ति जागृत हो उठे।

विशेष–मानव की दुहरी चेतनागत सघनता का कवि ने स्पष्टतः उल्लेख किया है। दुहरापन

व्यक्ति की दुविधात्मकता का परिचय देता है। 'कक्ष के भीतर एक और कक्ष···एक गुप्त प्रकोष्ठ' व्यक्ति की गहन अन्तश्चेतना का परिचायक है। 'मजबूत सन्दूक' आरोपित मान्यताओं, बन्दी भावनाओं का प्रतीक प्रतीत होता है। यक्ष-पौराणिक विलासितापूर्ण देवत्व और ओराँगउटाँग अविकसित-अदम्य नैसर्गिक प्रवृत्तियों का प्रतीक है। इस प्रकार कवि ने प्रतीकों के माध्यम से व्यक्ति की दुविधापूर्ण स्थिति का बिम्ब उभारा है।

अनुप्रास, वीप्सा, पुनरुक्ति प्रकाश और आवृत्ति अलंकारों का प्रयोग किया गया है। समूचा वर्णन लोमहर्षक और जिज्ञासाओं को अत्यधिक प्रदीप्त कर देने वाला है।

करीने से सजे हुए...बढ़े हुए नाखून !

शब्दार्थ–करीने से=सुसाधित, ढंग से। प्रभामय=ज्योतिमय, प्रकाशवान। नाद=स्वर। हुंकृति=गरजती। विद्रूप=असुन्दर। ग्रीवा=गर्दन। सघन अयाल=गर्दन पर उगे गहरे बाल।

प्रसंग–प्रस्तुत पंक्तियाँ कविवर मुक्ति बोध की कविता 'दिमागी गुहान्धकार का ओरांगउटाँग' में से ली गई हैं। अपने आपको सुशिक्षित, सुसभ्य और सुसंस्कृत समझने वाला मानव व्यर्थ के बहस-मुबाहिसों से घिर कर किस प्रकार जंगली पशुव्रत हो उठता है, व्यवहार करने लगाते है; अपनी-अपनी चेतना की दुविधात्मक स्थिति के माध्यम से यही सब स्पष्ट करते हुए कवि कहता है :

व्याख्या–ठीक ढंग से सजे-सँवरे, सभ्यता-संस्कृति की प्रभा से मण्डित अपने अध्ययन-कक्ष में बैठे हुए जब मेरे अपने दुविधात्मक या पारस्परिक विरोधी विचारों में मानव-हित के किसी प्रश्न को लेकर बहस छिड़ जाती है, तब उस बहस में भाग लेते हुए मैं प्रत्यक्ष रूप में सब-कुछ बड़े ध्यान से सुनने लगता हूँ। तब वस्तुतः मुझे अपने ही शब्दों में अपने विचार व्यक्त करने वाले शब्द, उनके धारा प्रवाह स्वर अनवरत गूँज कर सुनाई देने लगते हैं। तब अचानक मुझे अपने ही स्वरों में बौखलाए हुए ओराँगउटाँग की गर्जना भरी ध्वनियाँ सुनाई देने लगती हैं–अर्थात् मेरे में विद्यमान प्राकृतिक, अदम्य और अविकसित पाशविक वृत्तियाँ सहसा जागृत होकर विकराल रूप धारण कर लेती हैं। तब अपने सामने अपना ही मन नग्न होकर भय से पसीना-पसीना होकर रह जाया करता है। मेरी चेतना में यह भय भी उस समय समा जाता है कि कहीं अन्य लोगों को पता न चल जाए कि असत्य, पाशविक शक्तियों का भद्दा रूप वाला प्राकृतिक ओराँगउटाँग अपनी समूची नग्नता में मेरे कहीं भीतर समाया–छुपा हुआ है। अर्थात् कदम-कदम पर प्रत्येक बात में व्यक्ति अपनी पशुता को प्रकट करके भी ऊपरी तौर पर उसे छिपाने का प्रयत्न करता रहता है। वह उसे सामाजिकता के सन्दर्भों में गुप्त रखकर, अपने-आपको अच्छा और सभ्य-सुसंस्कृत मानव सिद्ध करने के कृत्रिम प्रयत्न करता रहता है।

उपरोक्त सन्दर्भ में ही अपने माध्यम से आज के व्यक्ति के भीतर छिपी पाशविकता के अहसास का आगे वर्णन करते हुए कवि, फिर कहता है–जब मैं अपनी ही गर्दन पर हाथ फेर कर देखता हूँ तो मुझे अहसास होने लगता है कि मेरी गर्दन पर अयाल (घोड़ों या पशुओं, शेर आदि के गर्दन के सख्त बालों को अयाल कहा जाता है) पूरी सघनता से उग आयी है। मेरा प्रत्येक शब्द भी बालों से भरा और प्रत्येक वाक्य ओराँगउटाँग के बड़े-बड़े तीखे नाखूनों का अहसास दे जाता है। अर्थात् पूर्णतया नैसर्गिक, अदम्य और अविकसित पाशव वृत्तियाँ मुझे पशुता के अंधकार में भटकाती हुई सी प्रतीत होने लगती हैं।

भाव यह है कि आज के विचार, वाद-विवाद सभी अपने भीतर अन्धकार या गुफा-युग

की प्रवृत्तियों को ही मूलतः छिपाए हुए हैं। सुशिक्षित, सभ्य-संस्कृत और ज्ञान-विज्ञान में समुन्नत होकर भी मानव की अन्तश्चेतना वस्तुतः अपनी नैसर्गिक पशुता का परित्याग नहीं कर सकी है। अपने भीतर व्यक्ति आगे भी पूर्ववत् नंगा और पशु है।

विशेष–कवि ने युगीन मानसिकता का व्यंग्यात्मक बिम्ब के माध्यम से यथार्थ चित्रण किया है। दृश्य-स्पृश्य और चेतनागत बिम्ब-योजना अधिक हुई है। रूपकातिशयोक्ति अलंकार है। भाषा मुहावरेदार और सपाट है। पर आन्तरिक अर्थगर्भिता निश्चय ही काफी दुरूह एवं दुर्बोध्य है। मानव-मन में प्राकृतिक अविकसित स्थिति की खोज मनोवैज्ञानिक स्तर पर की गई हैं। वह निश्चित रूप से स्तुत प्रयास एवं नवीन भंगिमा है।

दीखता है सहसा...गोली दागी जायेगी।

शब्दार्थ–भाल=मस्तक। सज=सजावट। धज=ठाठ। कपाल=मस्तक। विद्रूप=कुरूप, कुत्सिता।

प्रसंग–पूर्ववत्।

व्याख्या–अपनी अन्तश्चेतना में मुझे सहसा दीखने लगता या अहसास होने लगता है कि आज जिसे कविता बनाना कहा जाता है, वह वस्तुतः अपनी ही गुच्छेदार मूँछें हैं। अर्थात् हमारा थोथा अहं और अहंकार ही बनावटी रूप से कविता में व्यक्त होता है जिसे तर्क कहते हैं। वह ओराँगउटाँग के अन्तः जागृति के क्षणों में हमारे अपने ही दाँत हैं। अर्थात् अपनी जागृत पाशवता को ही हम अपने हित में तर्कों द्वारा प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार आदमी के रूप में, प्रत्यक्ष एवं व्यवहार जगत की दृष्टि से मुझे अहसास होने लगता है कि मेरा मस्तिष्क, अर्थात् सारी बौद्धिकता आज अपने ही सामने बौनी–अर्थात् अधूरी एवं सतही होकर रह गई है। परिणामतः पराजय-भाव से मेरा मस्तक झुक गया है। इस प्रकार जागृत पशुता के रूप में मेरी बालदार सजावट, मस्तिष्क की धज–अर्थात् उजुता और गर्व नत होकर मुझे अपने आप से ही चौंका देते हैं। अर्थात् मुझे अपनी बौद्धिकता, अपने नंगेपन को ढकने का प्रयत्न करने वाले सभी तर्क व्यर्थ और पराजय के भाव से भरे प्रतीत होने लगते हैं। परिणामस्वरूप एक कुरूप वेदना से पीड़ित होकर मैं अपने अन्तर्मन में रखे विचारों के सन्दूक को धड़ या कट से बन्द कर देता हूँ–अर्थात् इस दिशा में सोचने से ही इन्कार कर देता हूँ। फिर मुझे यह अहसास होने लगता है कि मेरे हाथ में पिस्तौल या बन्दूक है। अगर अपनी ही हीनता की परिचायक अन्तर्मन की पेटी कहीं खुल जाए और उसमें से मेरे अपने ही भीतर छिपा पशु वृत्तियों का परिचायक ओराँगउटाँग उठकर खड़ा हो जाय, तो उसे धाँय-धाँय करती गोली से दाग् दूँगा।

भाव यह है कि अपने भीतर छिपी पशुता को भी व्यक्ति बन्द ही रखना चाहता है। यदि कोई उसके विद्रूप को व्यक्त करने की चेष्टा करता है ताकि सहज मानवता का संचार हो सके, तो अपने ही सामने नंगा व्यक्ति उसे गोली मार कर नष्ट कर देना चाहता है। इस प्रकार आज की अधूरी, सतही सभ्यता अपने-आप में ही हीनता के बोध से नंगी होकर तिलमिला रही है :

विशेष–गुच्छेदार मूँछ ग्रन्थित अहं की प्रतीक प्रतीत होती हैं। बड़े-बड़े दाँत जो तर्क बनते हैं–आक्रामक वृत्तियों के प्रतीक हैं। बौना भाल झुका मात्र अपनी हीनता और पराजित मनोवृत्तियों का प्रतीक-परिचायक है। 'धड़ से सन्दूक बन्द करना' विचारशीलता का परित्याग करता है।

पेटी खुलना–पोल खुलना है। इस प्रकार सबल प्रतीक योजना द्वारा कवि ने आज की सतही मानवता की हीनता-भावना का चित्रण किया है।

रूपकातिशयोक्ति का सहारा कवि ने सबल और प्रभावी अभिव्यक्ति के लिए ग्रहण किया है। दृश्य, श्रव्यबिम्बों की प्रधानता है।

रक्ताल फैला हुआ..अभागा वह।।

शब्दार्थ–रक्ताल=रक्त-रंजित, खून से लाल। तल=धरातल। प्रस्थापित=प्रतिष्ठित, अस्तित्व की स्थापना करना। क्षारयुक्त=नमकीन।

प्रसंग–प्रस्तुत पंक्तियाँ कविवर मुक्तिबोध के काव्य-संकलन में संकलित कविता 'दिमागी गुहान्धकार का ओराँगउटाँग' के अन्त में से ली गई हैं। इस कविता में कवि ने आज के सतही, अधूरे तथाकथित सुशिक्षित, सुसभ्य एवं सुसंस्कृत, वैज्ञानिक व्यक्ति के अन्तर्मन में झाँककर भीतर छिपी पशुता को उजागर करने का प्रयत्न किया है। कवि इन पंक्तियों में यह कहना चाहता है कि आज वाद-विवाद, तर्क-वितर्क जो कुछ भी हो रहा है, वह थोथा है, अपनी आन्तरिक पशुता को छिपाने का प्रयत्न मात्र ही है। तभी कुछ व्यक्ति के थोथे अहं का परिणाम और अभिव्यक्ति बताते हुए कवि मुक्तिबोध कहते हैं :

व्याख्या–मेरी पिस्तौल या बन्दूक से घायल पड़े ओराँगउटाँग का लाल-लाल रक्त रंजित शरीर और रक्त चारों ओर फैला पड़ा है। इस अहसास से भरकर मैं तत्काल उस पेटी पर ताला लगाकर उसे बन्द कर देता हूँ। घायल या मृतक ओरांगउटाँग सन्दूक में बन्द होकर रह जाता है। अर्थात् अपनी पाशविकता को मार कर बन्द करने का प्रयत्न करता हूँ, पर उसे बाहर निकाल फेंकने का उपक्रम नहीं करता।

इसके बाद की अहसासती प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कवि आगे फिर कहता है–अपने भीतरी मन के उस पाशविकता के प्रकोष्ठ से बाहर आकर अर्थात् विचार के स्तर पर नैसर्गिक पाशविकता की भावना को भीतर ही दबा कर, उसके जाल से निकलकर, अन्य विचारों के अनेक कमरों को पार करते हुए सभ्यता-संस्कृति की प्रतीक प्रभा से मण्डित अपने अध्ययन-कक्ष में इस बार मैं अदृश्य रूप से–अर्थात् गुपचुप प्रवेश करता हूँ। वहाँ जो बहस चल रही है, उसमें भाग लेने लगता हूँ–अर्थात् विभिन्न मतवादों से भरे ग्रंथों का, दर्शनों का अध्ययन-मनन करता हूँ। अध्ययन या बहस सुनने के परिणामस्वरूप सोचने लगता हूँ कि विचार व्यक्त करने वाले सभी लोग वस्तुतः विभिन्न वाद-विवादों से ग्रस्त हैं। सभी के सोचने-विचारने के भिन्न, अपने-अपने धरातल हैं। वह इसलिए कि सत्य की खोज के बहाने वस्तुतः सभी विचारक मानवता के यथार्थ को नहीं, बल्कि अपने व्यक्तित्व एवं अहं को ही जन-जीवन के सामने प्रतिष्ठापित करना चाहते हैं। इन सबने तथ्य के नाम पर बहस या ग्रन्थ-रचना द्वारा जो कुछ भी प्रतिपादित किया है, वस्तुतः वह अपने अहं की तृप्ति और स्थापना का प्रयत्न ही है।

इन बनावटी बातों के तथ्यों की तह तक पहुँचने के बाद मेरी जीभ तालू से चिपकने लग जाती है और बुद्धि क्षारयुक्त होने लगती है। अर्थात् मैं विस्मय-विमुग्ध एवं किंकर्त्तव्य-विमूढ़-सा होकर रह जाता हूँ। उनके प्रयत्न मेरी मानवता और मानसिकता को कुरेदने वाले, उस एक विद्रूप-सा अहसास देने वाले ही प्रमाणित होते हैं। तब मेरी आँखें कथनी और करनी में नितान्त भिन्न बहस करने वाले लोगों के कपड़ों में छिपी रहस्यमय पूँछ को देखने लगती हैं। अर्थात् उनकी भीतरी मानसिकता को समझने लगती हैं। कि जो अभी तक उसी

अन्धकार युग की पाशविकता से आगे नहीं बढ़ पाई है। तब मेरी अन्तश्चेतना यह सोचने के लिए विवश होकर रह जाती है कि आखिर वे अन्वेषित सत्य कैसे हैं कि जिनको लोग लम्बे-लम्बे नाखूनों अर्थात् हिंसक-आक्रमक तर्कों से छिपाए रखना चाहते हैं! वह कौन अभागा है कि जिनकी जान लेने के लिए इन्होंने गुप्त रूप से अपने बघनखे धारण कर रखे हैं। अर्थात् सत्य और सैद्धान्तिकता के नाम पर अलग लोग मानवता का अहित ही कर रहे हैं, मात्र अपना अहं ही पुष्ट कर रहे हैं–अन्य कुछ भी नहीं।

भाव यह है कि जीवन-सत्य को तर्क या वाद-विवाद के नाम पर छिपाने या आरोपित करने की आवश्यकता नहीं हुआ करती। पर यह कैसी विडम्बना है कि आज तक के सभी उपलब्ध तथाकथित सत्य सामान्य मानवता के हित-साधन के लिए न होकर स्वार्थ-समाधान के लिए ही हैं।

विशेष–प्रकोष्ठ भीतरी चेतना का प्रतीक है। अनेक कमरे–अनेक विकास युगों के प्रतीक हो सकते हैं संस्कृत प्रभामय अध्ययन-ग्रह–आज के तथाकथित ज्ञान-विज्ञान और सभ्यता-संस्कृति में मण्डित युग का प्रतीक प्रतीत होता है। चल रही बहस विभिन्न मत-वादों की टकराहट की परिचायक है। कई तल-विभिन्न वैचारिक धरातलों का परिचय देने वाला प्रतीक-पद है।

कवि ने समस्त सत्यावषेक तथाकथित वादों को अहंग्रस्त और कुछ लोगों द्वारा अपनी प्रतिष्ठापना का प्रयत्न मात्र स्वीकार किया है। 'कपड़ों में छिपी····लम्बी पूँछ' नैसर्गिक या पाश्व-युग की स्वार्थी प्रवृत्तियों, अविकसित अदम्य वृत्तियों की परिचायक है कि जिनका दमन व्यक्ति आज तक भी नहीं कर पाया। 'बाघनखा' सत्य और तथ्य के नाम पर स्वार्थ-सिद्धि के लिए व्यक्ति की सुगुप्त आक्रमक वृत्तियों का परिचायक प्रतीत होता है।

श्रव्य, स्पृश्य और दृश्य तीनों प्रकार के बिम्ब उभर कर कवि के कथ्य को एकदम व्यक्त कर देते हैं।

कवि ने वीप्सा, रूपकातिशयोक्ति, और द्योतक रिक्तियों (बिन्दुओं) का आश्रय अपनी अभिव्यक्ति को सजीव एवं प्रभावी बनाने के लिए लिया है।

चाँद का मुँह टेढ़ा है

कविता-भाव : बोध–'चाँद का मुँह टेढ़ा है' यह एक प्रतीकात्मक शीर्षक है। इसे कवि ने परम्परागत सौन्दर्य अभिरूपियों के क्रमशः विघटन-सूचक प्रतीक के रूप में ग्रहण कर अभिरूपित किया है। वर्तमान यान्त्रिक एवं औद्योगिक सभ्यता का विकास जिस ढंग से हो रहा है, उसके जो संत्रासदायक, घुटन भरे परिणाम सामने आ रहे हैं, उस सबने मिलकर हमारे सौन्दर्य बोध के परम्परागत मानों को जैसे टेढ़ा-मेढ़ा करके रख दिया है–ठीक वैसे ही कि जैसे आरम्भिक तिथियों में चाँद का आकार टेढ़ा-मेढ़ा सा हुआ करता है। आज के शोषण और विघटित मानवीय मूल्यों वाले युग में सौन्दर्य-बोध के समस्त मान-मूल्य भी जैसे छितराकर रह गये हैं। सभी कुछ विद्रूप-व्यंग्य बनकर रह गया है। टुकड़े-टुकड़े विभिन्न अन्तः कथाओं से संयत दृश्य-चित्रों के माध्यम से कवि ने मुख्यतः यही प्रस्तुत कविता में उजागर किया है।

व्याख्या

नगर के बीचों-बीच..उदास प्रसार वह। (पृष्ठ २३)

शब्दार्थ–स्याह=निराशापूर्ण। शिलाओं से=पत्थर के टुकड़ों से। भीतों=दीवारों। संवलायी झालरें=मैली पड़ती किरणें। धूम्र=धुँआ। उद्‌गार=धुआँ निकलना। छिः थूः=घृणा पूर्ण धिक्कार। प्रसार=फैलाव।

प्रसंग–प्रस्तुत पंक्तियाँ कविवर मुक्तिबोध की प्रसिद्ध कविता 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' के आरम्भ से उद्धृत की गई हैं। लगता है यह कविता कवि ने मजदूरों के काम करने, साथ ही समाचार-पत्रों के सम्वाददाता-काल में होने वाले मजदूरों के संघर्षों, हड़तालों और सरकारी तौर पर लगने वाले कर्फ्यू जैसे प्रतिबन्धों को देखकर बनी मनःस्थिति में लिखी है। इसी कारण कवि ने चाँद के टेढ़ेपन के माध्यम से अपने भीतर अनेक प्रकार की विषम घटनाओं को संजोये वातावरण और जीवन की गहनता का इस कविता में चित्रण किया है। रात्रिकाल में विषमता और दमन के शिकार वातावरण का चित्रण करने के लिए, पूर्व पीठिका के रूप में यहाँ कवि कह रहा है :

व्याख्या–आधी रात का समय है। नगर के बीचों-बीच बसे मकान की काली-स्याह पड़कर उदासी और निराशा के प्रतीक बन रही दीवारों और अहातों के ऊपरी हिस्सों पर मटमैली पड़ रही चाँदनी की झालरें–अर्थात् किरणें फैल रही हैं। अहाते के उस पार एक कारखाना दीख रहा है, उसकी ऊँची-ऊँची चिमनियाँ मानों उस समय भी उगलते धुएँ के रूप में अपने उद्‌गार प्रगट कर रही हैं। उस उठते धुएँ के चिन्ह या छाया मीनारों का आभास दे रहे हैं। उन धुएँ की मीनारों के बीचों-बीच चाँद का मुख भी जैसे टेढ़ा होकर, धुन्धुआ कर रह गया है। अर्थात् उगलते धुएँ वालों चिमनियों ने अपने धुएँ से चारों तरफ छाकर जैसे चाँदनी के समस्त परम्परागत सौन्दर्य बोध को काला-मैला और एक प्रकार से निराशापूर्ण बना दिया है। चाँदनी रातों का सारा सौन्दर्य जैसे तहस-नहस होकर रह गया है।

सन् ५३ का वह चाँद बड़ा ही भयानक और काला स्याह-सा लग रहा है। अर्थात् एक निराशा और उदासी की सृष्टि कर रहा है। लगता है जैसे आकाश पर भी धरती की तरह कर्फ्यू लग रहा है, जिसे देख रात्रि के कारण चारों तरफ चुपचाप सोई धरती पर भी धुएँ की जहरीली लहरें चाँदनी की किरणों को छाकर एक मौन धिक्कार का रूप एवं आभास प्रदान कर रही हैं। पीपल के पेड़ पर पक्षियों के घोंसले खाली पड़े हैं। स्यात् कवि किसी दिन में घटित घंटना की ओर संकेत कर रहा है और कह रहा है कि पक्षियों के घोंसलों में भी इस समय पक्षियों के स्थान पर चलने के बाद खाली हो गए कारतूसों के खोल पड़े हैं अर्थात् चारों ओर पूर्णतया आतंक का राज्य छा रहा है। इस खल्वाट (गंजे सिर वाले) चाँद की धुँधली पड़ गई किरण-रूपी जासूस जैसे कंजूस के समान शान्त नगर के वातावरण में घूमते-घामते टोह लेने के लिए कोनों में चुपचाप छिप गए हैं। अर्थात् जैसे जासूस कोनों में या इधर-उधर दुबक कर टोह लेते हैं, लगता है चाँद की साँवली पड़ रही उदास-निराश-सी यह चाँदनी भी किसी रहस्य को सूँघने के लिए कोने-कोने में जाकर दुबक गई है। चाँदनी कोणों में दुबकती किरणें अपनी कनखियों से, पीली पड़ रही रोशनी से जैसे धरती पर अंधेर की पट्टियाँ बिछा रही हैं। अर्थात् चाँद की

चमकती किरणें भी उदासी और निराशा का अहसास ही करा रही हैं। इस प्रकार चाँद के टेढ़े मुख से निसृत किरणें मानों नगर के टूटे-फूटे उदास फैलाव और जिन्दगी के निराश-उदास रुख का अवलोकन कर रही हैं।

विशेष–वातावरण की उदासी और सघनता का बड़ा ही सजीव प्रतीकार्थक वर्णन किया गया है।

चाँद का मुँह टेढ़ा–ह्रासोन्मुख परम्परागत सौन्दर्य-बोध का प्रतीक है, जिसे कवि ने यहाँ निश्चय ही अपने वर्णन द्वारा पूर्ण चरितार्थ किया है। इसी प्रकार स्याह, संवलायी झालरें पक्षी, घोंसले, कारतूस आदि भी प्रतीकात्मक शब्द हैं। ये क्रमशः उदासी, निराशा, सामान्य जन, सामान्य घर या झोंपड़ियों, अत्याचार या दमन आदि के प्रतीक हैं। इन प्रतीकों के माध्यम से ही कवि ने सन् १९५३ के अपने परिवेश के सघन वातावरण का आतंक पूर्ण मूर्त चित्रण किया है।

समीप विशालाकार..जहरीली छिः थूः है। (पृ. २३-२६)

शब्दार्थ–विशालाकार=बहुत बड़ा आकार-प्रकार। भीमाकार=विशाल आकार वाले। बियावान=सुनसान। कुहासे=कुहरे, पाले। कंजी=बिलौरी। भुसभुसे=मटमैल। गठियल=गाँठदार।

प्रसंग–'चाँद का मुँह टेढ़ा है' कविता में से लिए गए प्रस्तुत पद्य-खण्ड में कवि मुक्ति बोध विभिन्न जीवन-खण्डों, मनुष्यों की निरीह-वीरान-सी बस्तियों पर पड़कर चाँद की सुन्दर किरणों के विकृत होते जाने का डरावना, उदास निराश चित्र प्रस्तुत करते कह रहे हैं :

व्याख्या–पास ही बने विशालाकार लाल भवन पर जो एक अँधेरा-सा छा रहा है, वहाँ के सूनेपन की स्याही-अर्थात् निराशा में डूब कर जैसे चाँद की चाँदनी भी संवला गई या काली पड़ गई है। अर्थात् निराशामय अँधेरे पर्यावरणों में चाँदनी का सारा क्रमागत सौन्दर्य श्रीहीन, फीका और व्यर्थ होकर रह गया है।

बहुत बड़े आकार-प्रकार वाले पुलों के नीचे, उनकी गहराती छाया में जो एक मनुष्यों की बस्ती बस रही है, उसके सुनसान पड़े किनारों पर जो एक पथरीला-सा नाला बहता है, उसकी धारा पर पड़ती चाँदनी के होंठ भी जैसे काले पड़ गये हैं अर्थात् गन्दी बस्तियों, गन्दे नालों के किनारों पर झोंपड़ियाँ आदि डालकर रहने वाले लोगों के जीवन में चाँदनी या अँधेरे से कोई अन्तर नहीं पड़ता। वहाँ तो सौन्दर्य-बोध की समस्त रोमानी कल्पनाएँ मात्र घिघिया कर ही रह जाया करती हैं।

उन झोंपड़ पट्टों में बसी हरिजन-बस्ती की गलियों में जो एक मातमी कुहासा-सा हमेशा छाया रहता है, उसमें पड़कर चाँदनी की किरणें किसी कल्पित भूतनी की साँवली चुनरी के समान प्रतीत होती हैं। उस काली पड़ रही चाँदनी रूपी चुनरी में गंजे से सिर और बिलौरी-सी आँखों वाले चाँद का टेढ़ा मुख अटक कर रह गया है। अर्थात् हरिजनों की निरीह, गन्दी, उजाड़-सी बस्तियों में पहुँच कर चाँद की चाँदनी एक भुतही आभास-सा देने लगती है। उससे जुड़ा सारा सौन्दर्य-बोध विवश रिरिया कर रह जाता है।

इस समय रात के बारह बज रहे हैं। लगता है कि जैसे चाँद की मटमैली-सी चाँदनी शहर के चारों ओर छा कर कोई अज्ञात-सा रहस्यमय षड्यंत्र लोगों के लिए फैला रही है। जमाना ही सख्त है, ऐसी दशा में किया भी क्या जा सकता है। भाव यह है कि आज चारों ओर निरीह मानवता के शोषण के लिए अनेक प्रकार के षड्यंत्र रचे जा रहे हैं, जिनका कोई परिहार दिखाई नहीं देता।

इस आग वाले मोड़ पर जहाँ बरगद की गाँठदार शाखाएँ अजगरी मेहराब-सी बनकर रह गई हैं, उसमें जैसे मरे हुए-अर्थात् गये-बीते युग की मान्यताओं की सड़ी-गली बास लिए, उसके मुख पर चुपचाप चाँदनी फैल गई है अर्थात् आज चाँदनी का सौन्दर्य भी सड़ी-गली परम्पराओं की दुर्गन्ध-सा ही बनकर रह गया है। जब लोग यहाँ से आते-जाते हैं, तो उनके आने-जाने से वहाँ बरगद की अजगर-सी गाँठदार मेहराबों या कमानियों पर बैठे पक्षियों के पंख फड़फड़ाने से उनकी बीट नीचे गिर पड़ती है। कवि कहता है कि पक्षियों की वह गिरती बीट लगता है गये-गुजरे जमाने का प्रतीक है, जो कि अब उस बीट के समान ही त्याज्य होकर रह गया है। इस प्रकार जैसे आकाश में कर्फ्यू-सा नीरव-नीरस वातावरण छा रहा है। वृक्षों पर बैठे पक्षियों पर भी जैसे उसी की दहशत छा रही है। पर धरती पर जैसे इसके विरुद्ध जहरीली धिक्कार मच-छा रही है।

विशेष–कवि ने आज के जटिल वातावरण में क्रमशः विद्रूप बन रहे अनेक खण्ड-चित्र प्रस्तुत किये हैं। उनकी यथार्थता वस्तुतः जीवन के सौन्दर्य-बोध के समस्त मानों-मूल्यों में परिवर्तन ला रही है। इसी कारण चाँद यहाँ हसित परम्परागत सौन्दर्य-बोध का प्रतीक है।

बरगद की डाल एक..ज्वलन्त अक्षर। (पृ. २६)

शब्दार्थ–मुहाना=निकलने का स्थान। मैमथ=हाथी। सिफरों को=बिन्दुओं, तत्वों। ठाँव-स्थान। स्मित=मुस्कान। ऐयारी=चालाकी। तिलस्मी=जादुई, जादूपूर्ण। झाँइयाँ=परछाइयाँ, किरणें।

प्रसंग–चाँदनी रात में, चाँद के आकार और छितराई किरणों के माध्यम से जीवन की ज्वलन्त विभीषिकाओं का वर्णन करते हुए कवि मुक्तिबोध विद्रूप से स्वरों में कह रहे हैं।

व्याख्या–बरगद के वृक्ष की एक डाली अपने निकास-स्थान से बहुत आगे निकल कर, बाहरवाली सड़क पर इस प्रकार लटक रही है, मानों कि आदमी के इस धरती पर जन्म लेने से भी बहुत पहले से किसी जंगली हाथी की सूंड हवा में लहराते उन बिन्दुओं या तत्वों को सूँघ रही हो, जो जीवन को विषाक्त-सा बना रहे हैं। वह जैसे किसी विपत्ति के घेरे के समान घिर रही है, अतएव जैसे विपत्ति की सूचक बनकर अनन्त काल से विद्यमान हैं। बरगद की छाया के नीचे चूड़ियों से रहित सूनी कलाई-सी फैल रही गलियों में एक छाया सी फैल रही है। गरीब लोगों के निवास स्थान के समीप चौराहे पर वह जो भैरों की मूर्ति खड़ी है, उसके लाल गेरुए पत्थर पर चाँदनी व्यंग्य की मुस्कान-सी बनकर फैल रही है। टेढ़े मुखवाले चाँद की चालाकी से भरी रोशनी और जादुई किरणें छाकर एक तिलस्म और ऐयारी भरा वातावरण उत्पन्न कर रही हैं। अनेक प्रकार के अनुभवों का प्रतीक जीवन की परिस्थितियों और समय के ताबूत में बन्द होने पर भी जीवित बरगद का यह वृक्ष इस भैरों की मूर्ति को ठीक प्रकार से जानता-पहचानता है। भैरों की मूर्ति की चट्टान के समान मजबूत पीठ और पैरों की मजबूत सिन्दूरी ईंटों पर चाँदनी और इसकी किरणें एक लटकते हुए पोस्टर के समान लग रही हैं जिसके अक्षर मानों आग से जल रहे हैं अर्थात् प्राचीनता और परम्पराओं के ये समूचे चिह्न आज समय का साक्ष्य तो प्रस्तुत करते हैं, पर परिवर्तन के सूचक भी हैं। मानो परिवर्तन की ज्वलन्त घोषणा कर रहे हैं।

विशेष–यहाँ बरगद, जंगली मैमथ, सूती कलाइयाँ, भैरों की मूर्ति, पोस्टर, ज्वलन्त प्रक्षर आदि सभी शब्द प्रतीकात्मक प्रयोग हैं। आरम्भिक पंक्तियों में कवि ने उत्प्रेक्षा अलंकार का

भी बड़ा ही सजीव-सार्थक प्रयोग किया है।

भैरों की मूर्ति का 'पथरीला व्यंग्य' स्मित, प्रयोग बड़ा ही ताजा, व्यंग्यात्मक और यथार्थ का उद्भावक है। जीवन की समस्त सौन्दर्य-चेतना आज पत्थरा कर रह गई है, यही ध्वनि स्यात् मुखरित हो पाती है।

सामने है अँधियाला ताल...हड़ताली अक्षर। (पृ. २६-२८)

शब्दार्थ–ताल=तालाब। आकार=आकार विहीन। आशय=भाव, अर्थ। एकाएक=अचानक।

प्रसंग–चाँदनी तथा प्रकृति के अन्य उपकरणों के माध्यम से जीवन में आ गई विद्रूपता, वीभत्सता का कुछ रहस्यमय-सा वर्णन करते हुए कवि मुक्तिबोध कह रहे हैं :

व्याख्या–सामने अँधेरे से घिरा एक तालाब है। उस ताल पर पड़ती संवलायी चाँदनी जैसे और भी स्याह होकर रह गई है। लगता है कि जैसे सामने अनवरत बीत रहे समय का सूचक एक निराकार घण्टाघर सा आ खड़ा हुआ है। पर वह स्वयं समय का ज्ञान नहीं कराता। जिन्दगी के काँटे अर्थात् दुखद-दिन रात और घड़ियाँ ही यह सूचना दे पाती हैं कि जिन्दगी की निराशा भरी रातें कितनी संख्या में व्यतीत हो चुकी हैं।

दूर कहीं गली के मुहाने से चप्पलों की छप-छप की ध्वनि अजीब फुसफुसाहट सी करती, अपने शब्द रूपों में सुनाई देने लगी है। जंगली पेड़ों की डालियों से स्पर्श करती वायु जैसे अपनी सरसराहट में कुछ कह जाती है, उसी प्रकार गली में से आने वाली छप छप भी जैसे इशारों से ही अपना अर्थ कह रही है। अर्थात् छप छप, सरसर के समान जीवन में शब्दों के परम्परागत आशय भी जैसे एवं आशय विरहित से होकर रह गए हैं। बहती हवा की लहरों के आकार जैसे किसी ब्रह्मराक्षस अर्थात् अचेतन मन के आकार रहित आकार बनकर मानो कोई बहस आरम्भ कर दें। वह बहस जैसे बढ़कर किसी निर्णय पर पहुँच जाए, उसी प्रकार के शब्द आत्मा की गलियों में एक-एक कर के जैसे कुछ बोल रहे हैं, अर्थात् आत्मा का द्वन्द्व जैसे किसी निर्णय पर पहुँच जाना चाहता है। जैसे पेट के अन्धेरे से एकाएक कोई एक आँत बाहर निकल आए, उसी प्रकार शब्दों की धार धंस कर किसी अर्थ को अचानक प्रकाशित कर देना चाहती है। जैसे बरगद के खुरदरे तने पर बिजली या टार्च की रोशनी एकाएक पड़कर उसकी डालों को उजागर कर देती है, उसी प्रकार हृदय में छिपी बातों ने जैसे अचानक बाहर आकर अपनी बाँहें फैला दी हैं–अर्थात् कुछ स्पष्ट हो जाना चाहती हैं। हाथ फैल गये, उन्होंने बाँके-तिरछे, नीले-पीले वर्णों वाले, हड़ताली अक्षरों के सूचक पोस्टर चिपका दिए। अर्थात् वैषम्यों में फंस कर आज मानवता की भावना जो अर्थहीन होकर रह गई है, वीभत्स बन गई है, क्रान्ति ही उनमें परिवर्तन लाकर उसे सजा संवार सकती है।

विशेष–कवि ने उत्प्रेक्षा, विशेषण विपर्यय जैसे अलंकारों का बड़ा ही सजग-सहज प्रयोग किया है। प्रत्येक शब्द, पद, वाक्य वस्तुतः प्रतीक रूप में ही अभिव्यक्त हुआ है। प्रतीक-योजना कुछ अबूझ-सी और बोझिल भी है।

बरगद जिन्दगी का प्रतीक लगता है। ज्वालाओं की आँत भीतरी अर्थबोध का सूचक हो सकता है। अन्धेरे का पेट गहन निराशा की स्थिति का सूचक माना जा सकता है। कुल मिलाकर बनने वाला बिम्ब जीवन के विद्रूप को ही उभारता है।

इन्हीं हलचलों के ही...हड़ताली पोस्टर। (पृ. २८-२६)

प्रसंग–जीवन में विषमताओं ने अजीब दमघोंटू-सा हड़ताली वातावरण प्रस्तुत कर दिया

है। नितान्त अपने निराले अन्दाज में इस मूल सम्वेदना को रूपायित करते हुए कवि मुक्तिबोध कह रहे हैं :

व्याख्या–इस प्रकार की अनचाही-अनचीती हलचलों के कारण ही सहसा बरगद की छाया में पले पंखियों के पंखों की कुछ डरावनी और घिनौनी-सी फड़फड़ाहट, कुछ चौंककर जैसे चारों ओर छा रहे भावनाओं के अंधेरे से शिकायत करते हुए सुनाई देने लगी। काँव-काँव तथा अन्य प्रकार के शब्द करते हुए विभिन्न पक्षी अपनी जमघटों में अचानक उड़ने लगे। अर्थात् अन्तर्मन की गहराइयों में अनेक प्रकार के सीधे-उल्टे प्रश्न से पूर्ण वेग से जैसे कुलबुलाने लगे। लगता था जैसे हृदय के गहन अन्धेरे में अनेक प्रकार की शंकाएँ और सन्देह अपने पंख अचानक ही फड़फड़ाने लगे हैं।

चाँद की मद्धिम पड़ रही रोशनी में चुपचाप एक आशंकाओं सन्देहों की बिल्ली आकर खपरैलों अर्थात् मन के उजाड़ों पर अचानक ठहर गई। वह बिल्ली मानों निराशा-उदासी रूपी रात के अंधियारे के गुप्तचरों का प्रतिनिधित्व करने वाली थी, जिसने अपनी पूँछ चौकन्नेपन के कारण उठा रखी थी। उसकी जंगली अर्थात् बहशत भरी तेज आँखें चारों ओर फैल रही थीं। वह मानो यमदूतों की पुत्री जैसी थी। उसका सारा शरीर काला, केवल पंजे सफेद और नाखून खून टपका रहे थे। अर्थात् अजीब वीभत्स और आशंकाओं से पूरित आकार-प्रकार और वातावरण बन रहा था। वह बिल्ली जैसे यह देखने का प्रयास कर रही है कि मकानों की दीवारों, अहातों के भीतर, बरगद के अजगर जैसे गढ़ियल तनों और अंधेरे में ये हड़ताली पोस्टर कौन चिपका रहा है। वे हड़ताली पोस्टर, जिन पर बड़े-बड़े बाँके-तिरछे अक्षर अंकित हैं, उन्हें कौन चिपका रहा है। अर्थात् जीवन की विषम गहराइयों, निराशाओं और उदासियों में आशंकाएँ उभर कर और भी वीभत्स की-सी सृष्टि कर देती हैं।

विशेष–वातावरण के अन्तःबाह्य वीभत्स और विद्रूप को ही कवि ने मुख्यतः प्रत्यंकित किया है।

उपमा, उत्प्रेक्षा जैसे अलंकारों की सुघड़ योजना कई स्थलों पर दर्शनीय है।

पक्षी, काँव-काँव तथा स्वर कवि के अपने ही मन-मस्तिष्क की अनुगूँज है। इसी प्रकार बिल्ली भी उसकी अपनी ही विद्रूप विषमता की समय-सापेक्षता में परिचायक है। कुल मिलाकर उभरने वाला बिम्ब वस्तुतः लोमहर्षक एवं विद्रूप की, जीवन की निरीहता की विद्रूप सृष्टि करने वाला है।

टेढ़े मुँह चाँद की ऐयारी..स्वार्थों के शीशे सा। (पृ. २६)

शब्दार्थ–ऐयारी=चालाकी भरी। झरोखों=खिड़कियों, रोशनदानों। घिना=घिनौना, घृणित। अपावन=अपवित्र।

प्रसंग–चाँदनी के कारण उत्पन्न विद्रूप का अनेक उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं के माध्यम से वर्णन करते हुए कवि कह रहा है :

व्याख्या–प्राथमिक तिथियों में उगे इस टेढ़े-से प्रतीत होने वाले चाँद की रोशनी भी लगता है कि बड़ी ही चालबाज है। यह प्रत्येक मकान में लगी लोहे की जालियों और झरोखों से भीतर घुसकर, भीतर के लिपे-पुते कमरों में जेल में पहने जाने वाले मटमैले-वाले (मिलीशिया) कपड़े के समान चारों ओर फैल रही है। अर्थात् यह चाँदनी आज स्वच्छन्दता की सुखद-सुन्दर अनुभूति जगाने वाली न होकर पराधीनता की कैद की बोधक बन रही है। यह चाँदनी दूर-दूर तक काली

धारियों वाले चौखटों पर लिपटे कपड़ों के समान लिपटी फैली प्रतीत हो रही है। जालीदार झरोखों से भीतर आ घुसने वाली यह चालबाज रोशनी जैसे देश के सारे वातावरण को ही जेल का-सा आभास दे रही है।

अन्धेरे ताल पर, काले और घिनौने पंखों से बार-बार चक्कर काटता बिस्तर-सा चमगादड़ों का दल जैसे चारों ओर भटक रहा है। इन सबको देखकर लगता है मानो अहं के रुके अपवित्र घेरे में घिरकर अपने पंखों की नपुंसक छटपटाहट में यह घिनौना चमगादड़ों का दल प्यासा भटक रहा है। अर्थात् आज की घृणित विषम परिस्थितियों में व्यक्ति के अहं की स्थिति इन चमगादड़ों के समान ही घुट-छिनकर, शक्तिहीन और व्यर्थ की छटपटाहट-सी बनकर रह गई है अथवा यह चमगादड़-दल बुद्धि की आँखों पर पड़े स्वार्थों के शीशे के समान प्रतीत होता है। अर्थात् आज़ के युग की साथी बौद्धिकताओं का दृष्टिकोण भी स्वार्थों में घिरा होने के कारण चमगादड़ों सा ही घृणित एवं व्यर्थ-प्रयास होकर के रह गया है।

विशेष–कवि ने मानवीय चेतना, बौद्धिकता और उसके नपुंसक से बन गए परिवेश पर बड़ा ही करारा व्यंग्य किया है।

चमगादड़ अंधेरे में भटकती बौद्धिकता का प्रतीक है। जेल चेतनाओं के बन्दीपने और घुटन की प्रतीक है। रोशनी की ऐयारी स्वार्थान्धता की केवल एक चाल है। इस प्रकार मुख्यतः और विशेषतः प्रस्तुत प्रसंग में कवि के प्रतीक बड़े ही स्पष्ट एवं सार्थक हैं।

उत्प्रेक्षा और उपमा अलंकारों का प्रयोग भी यहाँ बहुत सुघड़ बन पड़ा है।

बरगद को किन्तु सब..............................सत्यों की मिठाई की चाशनी। (पृ. २९-३१)

शब्दार्थ–मसान=श्मशान। मूठ मार दी=काला जादू कर दिया। मूठ मारना=जादू से सम्बन्धित मुहावरा। विकराल=भयानक। रात के जहाँपनाह=रात के राजा, उल्लू, अज्ञान के पुतले। काँखों=बगलों।

प्रसंग–रात्रि का काला अंधियारा जैसे जीवन के कटु सत्यों को उजागर करने वाला है। हमारे महापुरुषों के आदर्श-चिह्न भी जैसे आज अंधेरे और बुराई को ही प्रश्रय देने वाले बनकर रह गये हैं। इस प्रकार के विचार-भाव प्रस्तुत पंक्तियों में व्यक्त करते हुए मुक्तिबोध कहते हैं :

व्याख्या–बरगद का यह पेड़ जीवन के समूचे इतिहास से भली प्रकार परिचित है। अर्थात् जीवन के वास्तविक सत्य एवं रह गये मूल्य को मैं (कलि, बगरद वस्तुतः कवि का प्रतीक है) अच्छी प्रकार से समझता-बूझता हूँ।

कोलतार से बनी सड़क पर वह जो सबसे ऊँचा गाँधी का पुतला खड़ा है, उसकी दो आँखों के चक्रों पर भी एक घुग्घू बैठ गया है। अर्थात् गाँधीवाद के उच्चादर्श भी आज अन्धे घुग्घुओं (गाँधीवाद के पोषकों) के हाथों पड़कर सर्वनाश के परिचायक बनते जा रहे हैं। उधर तिलक के पुतले पर भी इसी प्रकार के घुग्घुओं का वास है। सो गाँधी के पुतले पर बैठा घुग्घू तिलक के पुतले पर बैठे घुग्घू से जैसे कहता ही जा रहा है–कि जीवन के बन रहे इस श्मशान में मैंने भी सफलता पा ली है। अर्थात् गाँधी-तिलक के स्वतन्त्रता एवं आदर्शों को फूँक कर ही आज सफलता प्राप्त हो पाती है। देखो, किस प्रकार मैंने गाँधी के नाम पर लोगों पर कैसे मूठ मार दी है–अर्थात् गाँधी के नाम का जादू चलाकर लोगों को किस प्रकार उल्लू बना डाला है। तिलक के पुतले पर बैठे घुग्घू ने देखा कि वह लाल जादू की प्रतीक मूठ काले आकाश

पर तैरती धीर-धीरे फैलतीं जा रही है। अर्थात् गाँधी के आदर्शों के नाम पर चारों तरफ विनाश ही छा रहा है।

एक भयानक चिह्लाकार-सा उद्गार सारे आकाश पर अपनी पूर्ण भयानकता से तैर रहा था। अर्थात् सर्वनाश का-सा समय उपस्थित हो रहा था। उसे देखकर तिलक के पुतले पर बैठे घुग्घू ने कहा–वाह-वाह ! रात के राजा, तभी तो आजकल दिन के प्रकाश पर भी अंधेरे की साख जमी है–अर्थात् रात हो या दिन, इन तथाकथित आदर्शवादियों ने जीवन में सर्वत्र विनाशक नारकीय दृश्य उपस्थित कर रखे हैं। रात्रि की अंधेरी बगल में दबकर संस्कृति-रूपी पक्षी के पंख एकदम सुरक्षित हैं। व्यंग्यार्थ यह है कि हमारी मानवता के समस्त मूल्यों को स्वार्थी अंधियारी मान्यताओं ने दबाकर तहस-नहस कर दिया है।

जीवन के सत्यों को घोंटकर रात्रि का अन्धकार जैसे पूर्णतया उन्हें पी गया है अर्थात् स्वार्थों के सामने सच्चाई के प्रकाश का कोई भी महत्व नहीं रह गया है। इस प्रकार मुनष्यों को मारने के लिए ही कुछ स्वार्थी मनुष्यों के हाथों में गांधीवाद जैसे कुछ टोटके आ गये हैं, जिनके नाम पर वह मानवता का रक्त शोषण कर रहा है। इस प्रकार सारा आकाश जैसे कर्फ्यू के वातावरण से दब-घुटकर रह गया है। जमाने के जागृतों के मन में इस प्रकार के वातावरण के प्रति धिक्कार का जोरदार भाव है। सर्राफे में बिजली के खम्भों पर लटके बल्बों के ढक्कन मद्धम रोशनी में लटके हैं, जैसे दिमागों पर धुन्ध छा गई हो। आज यदि कोई चिन्ता है, तो वह सट्टे की अर्थात् अचानक अधिकाधिक लाभ पा लेने की ही है, जबकि वस्तुतः यह चिन्ता मानव में जो हृदय नामक तत्व है, उसको जड़-मूल से विनष्ट कर देने वाली है।

इस प्रकार रात्रि के अन्धकार से जीवन के कटु किन्तु चाशनी चढ़े मीठे को सत्य प्रगट होकर रहे गये हैं। अर्थात् स्वार्थी-विषम प्रवृत्तियों ने जीवन के सत्यों को आवृत्त करके घना अंधियारा बना दिया है।

विशेष–बरगद जीवन और कवि का प्रतीक है। गाँधी और तिलक के पुतले विगत आदर्शों के परिचायक हैं। घुग्घू स्वार्थी सर्वनाश का प्रतीक-परिचायक है। मूठ मारना मुहावरा तो है ही, आदर्शों के नाम पर लोगों को जादुई प्रभाव से प्रभावित करने का परिचायक भी है। रात्रि की काँख-अन्याय अत्याचार और अज्ञान की प्रतीक है, तो संस्कृति-पारखी महत् मानवीय मूल्यों का। इसी प्रकार अन्य प्रतीकों के द्वारा कवि ने जीव-सत्यों पर छा रहे गहन अंधेरे का वर्णन किया है। उत्प्रेक्षा, उपमा, विशेषण-विपर्यय आदि अलंकारों का प्रयोग भी सार्थक ढंग से किया गया है।

टेढ़े मुँह चाँद की ऐयारी............................ मशहूर रात की है जिन्दगी। (पृ. ३१-३२)

शब्दार्थ–भीमकार=बहुत ऊँचे। काम=वासना। सुरभित=सुगन्धित। रमणीय=सुन्दर। झांइयों=परछाइयों। उघरे=खुले, नंगे।

प्रसंग–पहले कवि ने चाँदनी के टेढ़ेपन से बनने वाले वीभत्स विद्रूप दृश्यों का व्यंग्यात्मक चित्रण किया है। प्रस्तुत पद्य-खण्ड से उसका व्यंग्य एक नया मोड़ लेता हुआ प्रतीत होता है। यहाँ कवि चाँदनी को ऐयार, ऐय्याश और उचक्कों के रूप में प्रस्तुत कर रहा है। वह उस विद्रूप सभ्यता का प्रतीक बन गया है जो कि अपनी विलास-वासना में नितान्त नंगी होकर रह गयी है। कवि कहता है–

व्याख्या–इस टेढ़े मुख वाले चालबाज से चाँद की रोशनी बड़े-बड़े आकार वाले ऊँचे पुलों

के नीचे छिपकर बैंठने वाले उन चोर-उचक्कों के समान बनकर रह गई है कि जो इधर-उधर नालों ओर झरनों के किनारों पर उगे वृक्षों के नीचे बैठकर रात-बिरात मछलियाँ फँसाते हैं अर्थात् सीधे-सादे लोगों को फँसाकर, अवसर पाकर उन्हें लूटते-खसोटते हैं। इस प्रकार चाँदनी आवारा और शोहदे मछलीमारों सी बनकर रह गई है। उसमें किसी भी प्रकार का कोई परम्परागत सौन्दर्य-बोध आज नहीं रह गया है। यह चाँदनी सड़कों के पिछवाड़े, टूटे-फूटे स्थानों के विद्रूप से दृश्यों पर छाकर, गन्दगी से भरे गन्दे पानी के नालों से उठते भाग पर काम-वासनाओं के चित्र अंकित करनेवाले कामुक कवियों की मदमस्त किन्तु वीभत्स कल्पना के समान रात भर फैली रहती है। किंग्सवे की रातें अपनी चाँदनी के लिए बहुत ही प्रसिद्ध हैं। वहाँ की सड़कों पर श्रीमानों की फिरंगी मालों से लदी भारतीय दुकानें, जिनके सुगन्धित प्रकाश में चमकता ईमान एक मजाक-सा बनकर रह जाता है। वहाँ रखी रंगीन और चमकीली सुगन्धित वस्तुओं का स्पर्श कर, शीशे के शो-केशों की सुन्दर परछाईं वाले दृश्यों में भी चाँदनी बस रही थी। अर्थात् किंग्सवे के वातावरण में चाँदनी घोर विलासिता की परिचायक बनकर छा रही थी। जिस प्रकार अमेरिका से आने वाले सुन्दर मैगजीनों के खुले पृष्ठों पर नंगी नारियों के भिन्न प्रकार के पोज उभरे खुले रहा करते हैं, उसी प्रकार मानो वहाँ अण्डरवीयर सी सफेद खुली चाँदनी अपने समस्त आधुनिकता के प्रतीकों-उपकरणों के साथ खुलकर फैली थी। यहाँ किसी भी प्रकार का कर्फ्यू अर्थात् प्रतिबन्ध और घुटन भरा वातावरण नहीं है। इस प्रकार किंग्सवे में रात की चाँदनी बड़ी ही प्रसिद्ध है। वह पूर्ण तथा निर्बन्ध एवं उन्मुक्त है।

विशेष–कवि ने आधुनिकता के उन्मुक्त, निस्संग और वासनासिक्त वातावरण का चित्रण किया है कि जो जीवन में आ गए समूचे विद्रूप का, वीभत्स का मूल कारण है।

मार्क्सवादी दृष्टियों से भारत पर जो अमेरिकी सभ्यता की नग्नता का वातावरण छाया जा रहा है, कवि ने उसकी भी यहाँ व्यंग्गात्मक समीक्षा एवं आलोचना की है। यहाँ चाँदनी अपनी समग्रता में वासनात्मक फैलाव एवं नग्नता की प्रतीक बन गई है, जो कि आधुनिक भारत का एक विद्रूप ही है।

कवि ने अपना मन्तव्य अनेक प्रकार के उपमान-उपमेयों की प्रस्तुतों की झड़ी लगाकर अभिव्यंजित किया है। सभी उपमान-उपमेय और प्रस्तुत-अप्रस्तुत अत्यन्त सजीव हैं।

अजी, यह चाँदनी भी बड़ी...लाल-नीले अक्षर।

प्रसंग–चाँदनी का एक शातिर और ऐसे मसखरे के रूप में कवि वर्णन कर रहा है कि जो अबाध गति से सभी जगह पहुँच कर जैसे जीवन के यथार्थ की टोह ले रही है। वह अपने आप में एक भड़कीला पोस्टर-सा बनकर भावों-विचारों को भड़का देती है, इन विचारों को व्यक्त करते हुए कवि कह रहा है :

व्याख्या–देखिए, यह चाँदनी वास्तव में बड़ी ही मसखरी है। अपने फैलाव से जैसे यह जीवन के सब-कुछ को मजाक बनाती, सब-कुछ का मज़ाक उड़ाती फिरती है। जिस प्रकार सफेद धब्बों वाली कोई बिल्ली दबे पाँव, हाथ-पैर समेटकर किसी शिकार की ताक में तिमंजिले मकान की खिड़की के रास्ते से चुपचाप रास्ते पर उतरा करती है; उसी प्रकार मानो यह चाँदनी भी अपने मसखरेपन में, अपने शिकार की टोह में तिमंजिले की खिड़कियों से जैसे धीरे-धीरे नीचे उतर रही है। जिस प्रकार बिल्ली तिमंजिले से नीचे राह पर उतर कर घूमती है, फिर छतों पर चढ़कर, वहाँ के गलियारों में शिकार की टोह में चक्कर लगाती है, कभी खपरैलों

पर चढ़ जाया करती है, फिर नीम की डालियों के सहारे से घरों के आँगनों में उतर जाया करती है और कमरों में घुसकर बड़े ही हल्के-सधे पाँवों से चलती हुई अपना शिकार देखती-खोजती है, ठीक उसी प्रकार शहर के प्रत्येक कोने-तिकोने में चाँदनी भी छिपी हुई शिकारी बिल्ली के से विद्रूप को ही उजागर कर रही है। वह (चाँदनी) सड़क पर उगे पेड़ों से घरों-मकानों के गुम्बजों पर चढ़कर, महलों को पार करके, मुहल्लों को भी लांघ जाती है। प्रत्येक गली, गुफा आदि में, खुफिया स्थानों में भी गुप्तचरों-सी वह कौन है जो अंधेरे के कन्धों पर चढ़कर कुछ खोज रही है। लम्बे-लम्बे, बाँके-तिरछे घनघोर नीले-लाल वर्णों वाले पोस्टर से यह कौन (चाँदनी) चिपका जाती है। अर्थात् यह मसखरी-सी, शिकारी-सी चाँदनी सोचने-विचारने के लिए एक प्रकार से विवश कर जाती है। इसका विद्रूप-सा फैलाव भावों-विचारों को तीव्रता से आन्दोलित कर जाता है।

विशेष–कवि ने चाँदनी को बिल्ली के रूप में उतार कर, उसे आज की शिकारी सभ्यता का प्रतीक-सा जैसे बना दिया है। वर्णन में सचल दृश्यमयता विशेष दर्शनीय है। एक समूचा चित्रखण्ड या बिम्ब बिल्ली के हरकती आकार-प्रकार में उभर कर सहसा आतंक और विद्रूप की ही सृष्टि करता है।

कोल तार सड़क के बीचों बीच.........................संवलायी नंग हुई चाँदनी। (पृ. ३३-३४)

शब्दार्थ–लपट के पल्लू=आग की लपटों के उभार। दहक=जलना। कुहरीले=धुंधले, कोहरे से ढके। विकराल=भयानक।

प्रसंग–गांधी, बुद्ध और अन्य महापुरुषों के आदर्श स्वार्थों के साधन बन जाने से आज की सभ्यता-संस्कृति भीतर से एकदम खोखली होकर रह गई है। फिर भी कवि और कविता मात्र बहक भरे गीत ही गा रही है। जीवन के इस यथार्थ विद्रूप का व्यंग्यरूप प्रत्यांकन करते हुए कवि मुक्तिबोध प्रस्तुत पंक्तियों में कह रहे हैं :

व्याख्या–कोलतार से बनी सड़क के बीच तनी खड़ी गाँधी की मूर्ति पर बैठे घुग्घू ने गाना शुरू कर दिया। अर्थात् गाँधी के नाम पर गाँधी के देश में आज सर्वनाश का प्रतीक घुग्घू अपनी मस्ती में, अपना ही बेसुरा राग गा रहा है। उसके गाने से हिचकियाँ लेते साँसों (सभ्यता-संस्कृति और मानवता की साँसों) का भय जैसे भर जाने के लिए घुटने लगा। टेलीफोन के खम्बे पर लगे तार सट्टाबाजों के द्वारा किए जाने वाले ट्रँक कालों के स्वरों में थर्रा और झनझना रहे हैं। अर्थात् आज जन की जिन्दगी इन सट्टेबाजों, स्वार्थी-शोषकों की कृपा पर निर्भर होकर थरथरा रही है। ऐसे क्षण में भी जैसे रात का काला वन टोप पहनकर आकाश-रूपी बाबा हनुमान चालीसे का पाठ कर रहा है। उसकी वाणी डूब रही है, फिर भी वह जैसे सब सहते हुए भगवान का शुक्रगुजार होना चाहता है। कवि का अभिप्राय शायद यह व्यक्त करना है कि स्वार्थी सट्टेबाज किस्म के लोग मानवता का गला घोंट देना चाहते हैं, फिर भी उनका विरोध और मुकाबला न कर हम लोग भगवान के आसरे ज्यों-त्यों जिए जा रहे हैं, जो मानवीयता के संत्रस्त, नपुंसक विद्रूप का ही परिचायक है।

जिस प्रकार श्मशान भूमि के उजाड़ बियाबान में जलती चिता की लपटें हिलती-डुलती दिखाई देती हैं, उसी प्रकार जीवन के वीराने में पेड़ों की अंधियारी शाखाओं पर चाँदनी का लालिमामय प्रकाश भी एक चीथड़े-सा लिपटा और श्मशान की लपट-सा भयावह जलाने वाला प्रतीत हो रहा है। सचाई जैसे मुर्दों की तरह बनकर जीवन के श्मशान में जल रही है। उनकी

अधजली चिताओं की जलन से प्रभावित कविगण बहकती हुई कविताएँ गा रहे हैं। अर्थात् कवि लोग बहक के कारण जीवन की वास्तविकता को समझ पाने में असमर्थ होकर कविता के नाम पर जो-सो गुहारते जा रहे हैं। सभ्यता-संस्कृति पर जैसे स्वार्थ, वासना-विलास और भटकाव का कुहरा छा गया है। उसके कुहरीले वातवरण से भूतों से प्रतीत होने वाले धुएँ के गोल-मटोल आकाशों ने नम्रता का बनावटी पर्यावरण ओढ़कर बनावटी भाव से हाथ जोड़कर दुनिया को जैसे कहना शुरू कर दिया है।

मानवता ने मुक्ति और सामूहिक कल्याण के जो सपने कभी देखे थे, वे सब अब बुद्ध के स्तूपों में ही उसके अवशेषों के साथ गाड़े जाकर समाप्त हो चुके हैं। ईसामसीह के पंख भी स्वयं झड़ गए और कुछ झाड़ दिए गए अर्थात् ईसा के सहज मानवीय मान-मूल्य भी आज समाप्त कर दिए गए हैं।

जिस प्रकार प्राचीन मन्दिरों में देव-दासियों की चोलियाँ उतार कर पुज़ारी-पण्डे तथा समर्थ लोग उन्हें अपनी वासनाओं का शिकार बनाया करते थे, उसी प्रकार आज सत्य को भी स्वार्थों का शिकार बनाकर नंगा एवं घिनौना बना दिया गया है। इस प्रकार मानवता ने सुख और मुक्ति के जो सपने देखे थे, वर्तमान स्वार्थी सभ्यता ने उसकी आन्तड़ियों तक को नोंच-खरोंच डाला है। अब हमें शेष जो कुछ भी दिखाई दे रहा है, वह मानवता का थोथा-खोखला खोल या ढाँचा मात्र ही है। इसी कारण आज की जिन्दगी असमर्थता में हिचकोले खा रही है।

गली में जो सिन्दूर से रंगा भयावह आकृति वाला बाबा भैरों का बुत खड़ा है, वह जैसे इस विद्रूप होती चाँदनी के रूप में हँस रहा है। उसकी खतरनाक हँसी से चाँदनी के चेहरे पर जैसे गलियों की मटमैली खाक उड़कर पड़ने लगी है। अतः काली पड़कर जैसे यह चाँदनी भी नंगी होकर रह गई है।

विशेष–कवि ने मानवीय मूल्यों के क्रमशः ह्रास और जीवन में आ गए खोखलेपन का पौराणिक एवं ऐतिहासिक प्रतीकों के माध्यम से सजीव, प्रभावी वर्णन किया है। सब मिलकर जीवन में प्रतिपल घटित हो रहे विद्रूप को ही उजागर करने वाला है।

और, उस अंधियाले ताल..छरहरी झाइयाँ। (पृ. ३४-३५)

शब्दार्थ–निहारता=देखता हुआ। नभ-चुम्बी=आकाश को छूता हुआ, बहुत ऊँचा। लोहाँगी=लोहे के अंगों वाली। शीर्ष=शिर, चोटी। बुजुर्ग-दरख्त=पुराना वृक्ष। मर्म-राग=रहस्यपूर्ण भाव-विचार।

प्रसंग–प्रस्तुत पंक्तियाँ कविवर मुक्तिबोध की प्रसिद्ध प्रतीकात्मक कविता 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में से ली गई हैं। इस कविता में कवि ने आधुनिक वैषम्यों के कारण क्षीण एवं ह्रसित हो रहे परम्परागत सौन्दर्य-बोध की विद्रूपता का अनेक यथार्थ सन्दर्भों के आलोक में गहन चित्रण किया है। प्रस्तुत पंक्तियों में जीवन के सहज बोधों पर क्रमशः छाने वाले विद्रूप का चित्रण करते हुए कवि कह रहा है :

व्याख्या–चारों तरफ के गहरे अंधेरे से घिरे उसे सामने दिखाई देने वाले ताल के उस तरफ मानो नगर को देखने का प्रयत्न करता हुआ एक पहाड़-सा खड़ा है। वह आकाश को छूने वाले लोहे के पथरीले चबूतरे के समान लग रहा है। वह लोहे के समान अंगों वाला चबूतरा-सा जैसे कह रहा है कि उस पर्वत के भव्य-उन्नत शिखर पर एक बहुत बड़ा खण्डहर विद्यमान

है। उस खण्डहर के ध्वंसावशेषों में एक पुराना वृक्ष आज भी खड़ा है। उस वृक्ष के मोटे तनों पर प्रेमियों ने स्मृति-चिन्हों के रूप में अपने नाम अंकित कर रखे हैं। उस लोहाँगी में हवाएँ पेड़ में प्रविष्ट होकर जैसे अनेक प्रकार की कथाएँ फुसफुसाकर कह रही हैं। उस फुसफुसाहट में इस नगर और उसके जीवन के अनेक पीड़ादायक संवाद छिपे हैं। सभाओं की कहानियाँ, लोगों द्वारा लगाए जाने वाले मोर्चों की तड़प, मकान में लग चुके मोर्चों, सभाओं की रहस्य-कथाएँ और उनमें व्यक्त होने वाली अंगारों में समान गर्म क्रान्ति की बातें आदि अनेक कुछ लिखा व्यंजित हो रहा है। नगर की गलियों में जो चाँदनी के कारण दीवारों की छायाओं का आभास हो रहा है, उनमें कुछ छायाएँ-सी हिल रही हैं, कुछ चलती-सी लग रही हैं और वे मद्धिम पड़ती चाँदनी में जैसे भैरों की मूर्ति के भयानक सिन्दूरी मुख पर जाकर छा गई हैं। उनकी छरहरी परछाइयाँ स्पष्ट झलक रही हैं। अर्थात् जीवन के सभी धार्मिक, सामाजिक एवं अन्य प्रतीकों पर भी आज के जीवन की सघन विद्रूपता छाने लगी है।

विशेष–कवि ने खण्डहर, उनमें उगे पेड़, पेड़ों पर अंकित प्रेमी-युगलों के नाम, वहाँ होने वाली विविध प्रकार की चर्चाओं का बड़ा ही यथार्थ, सजीव एवं मार्मिक वर्णन किया है। वर्णन में अबूझ-सी कथानकीयता भी है, जिसे समझ पाना स्यात् कवि के अतिरिक्त अन्य किसी के भी बूते की बात नहीं।

रात्रि के थाहों में..उड़ते हैं हवा में। (पृ. ३५-३६)

शब्दार्थ–थाहों में=गहराइयों या सघनता में। गगन-कंगूरों पर=आकाश रूपी बुर्गियों पर। अकुलायी=बेचैन, व्याकुल।

प्रसंग–उपरोक्त प्रसंग में ही जीवन की आकुलता एवं विद्रूप का वर्णन करते हुए कवि कह रहा है :

व्याख्या–रात की साँवली (अंधियारी) तहों में लिपटकर उसकी सघनता को जैसे नापने का प्रयत्न करती चाँदनी में जिन्दगी के अनेक प्रश्न थरथर काँप रहे हैं। इस बेकाबू हो रही चाँदनी के पल्लों के साथ जीवन को अनेक कम्पित प्रश्न भी जैसे आकाश रूपी बुर्जियों पर अनवरत उड़-फैल रहे हैं। अर्थात् चारों ओर जीवन को लेकर प्रश्नों का ही वातावरण, मौसम छा रहा है। काँपते हुए-से पीपल के पत्तों और काँप रही चाँदनी में व्याकुल जिन्दगी की गहराइयों के अंचल जैसे हवा में उड़-उड़ जा रहे है। अर्थात् जिन्दगी अनेक सम्यक पाते प्रश्नों का दायरा बनकर रह गई है, जिस सबसे चाँदनी और समूचा सौन्दर्य-बोध अकुलाकर, विद्रूप-सा बनकर रह गया है।

विशेष–कवि ने मन की गहराई में व्याप्त व्याकुलता का अत्यन्त सजीव एवं यथार्थ, प्रतीकात्मक चित्रण किया है।

गलियों के आगे बढ़..बड़ा मजा आयेगा।

प्रसंग–आज का आम लोगों का भूखा-नंगा जीवन एक मर्मबेधी चित्र और पोस्टर बनकर रह गया है। चारों ओर भूख-नंग का राग है, पर फिर भी प्रगति और विकास का जोरदार प्रचार किया जा रहा है। अपने प्रतीकों और रंग में इन तथ्यों को 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में उजागर करते हुए कवि मुक्ति बोध कर रहे हैं :

व्याख्या–विचित्र दशा हो गई है आज मानवीय जिन्दगी की। अपनी बगलों में मोटे कागजों की एक भारी भोंगली (पोटली) सी लटकाए अर्थात् थोथे प्रचार के साधन लिए, हाथ में एक

टीन का ऐसा डिब्बा लिए कि जिसमें एक लम्बी कूँची है, जमाना उस रूप में एक पेण्टर सा अपने आपको कह रहा है। उसके साथ शहरयानि शहरी जीवन अपने-आपको कारीगर समझ कर चल रहा है। वह कहता है कि बरगद के गोल पत्ते रूपी हड्डियों से उलझन से बन रहे ढाँचे पर प्रगति और विकास की दुहाई देने वाले पोस्टर चिपका दो। अर्थात् बरगद (जो जीवन का प्रतीक है) हड्डियों का ढाँचा मात्र रह गया है, फिर भी प्रगति-विकास के प्रचार किए जा रहे हैं। आगे कवि कहता है–गलियों में जिन्दगी फकीरों (भिखमंगों) के समान अलमस्त-बेबस बनकर गाती घूम रही है, हवा में लहराते उसके स्वरों पर भी प्रगति-विकास के पोस्टर लहराओ। अर्थात् भूख-नंग के राज में भी पूँजीवादी सभ्यता संस्कृति प्रगति-विकास का अलम्बरदार बनने का दावा कर रही है। यह सुन कर कारीगर (शहर) के साथी पेण्टर ने मजे-मजे में हँसकर कहा–बस, ठीक जगह पोस्टर लगे हैं। सुबह होते ही बेचारा मजदूर वर्ग घर-घूरकर इन्हें पढ़ेगा। आम रास्तों पर चलते-खड़े लोग भी इन्हें पढ़कर झल्लाएँगे। अर्थात् सोचेंगे कि वास्तविकता के विपरीत यह सब क्या है ? पेण्टर ने कहा–प्रिय भाई कारीगर, यदि मैं इन हड़ताली अर्थात् शून्यता के प्रतीक पोस्टरों को पढ़ते लोगों के चित्र अंकित कर सकूँ तो वास्तव में बड़ा मजा रहेगा। अर्थात् तभी इन थोथी बातों को लेकर उनके चेहरों पर होने वाली प्रतिक्रिया अपने वस्तु-सत्य में प्रत्यंकित संभव हो सकेगी।

भाव यह है कि चारों ओर जीवन स्वयं ही बेबसियों का विज्ञापन-सा बनकर रह गया है। पर हमारा ध्यान उस सत्यता की ओर न जाकर व्यर्थ की नारे बाजी की ओर ही अधिक जाता है। यह बड़ी विडम्बना है।

विशेष–पेण्टर, कारीगर, पोस्टर सभी बड़े सुलझे हुए यथार्थ जीवन के अभिभावक प्रतीक हैं, जिनके माध्यम से कवि ने अनवरत बन रहे जीवन की विद्रूपता एवं विडम्बना का गहरा प्रत्यांकन किया है।

कत्थई खपरैलों से उठते...वह खाकी है। (पृष्ठ ३७)

प्रसंग–आज जीवन के वास्तविक, उदात्त और महान् चित्र, आदर्श भावों से भरे चित्र बनाने का समय नहीं रह गया। वास्तविक संघर्ष का मूल्यांकन कोई नहीं करता। इस प्रकार के विचारों को व्यक्त करते हुए कवि कह रहा है :

व्याख्या–अपनी भावनाओं का चित्र बनाने की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए जमान-पेण्टर शहर-कारीगर से कहने लगा–कत्थई रंग के खपरैलों से अनवरत उठ रहे धुएँ के मैले-काले से रंग में यदि आकाश की कालिमा को भी घोल लिया जाए, प्रातःकालीन सुनहरी किरणों के रंग में रात्रि के समय घरों में जलने वाले नन्हें द्वीपों के प्रकाश में पलने वाली आशाओं के रंग को भी यदि घोल लिया जाए और चित्रांकन की हिम्मत जुटाई जाए। फिर उस स्याही से (यानि सामयिक घोर निराशा से) आँख बनाकर उसमें आँखों की पुतलियों में विद्यमान लालिमा धधक कर पंख के समान बन्द, एकान्त ध्यान में मग्न होकर अर्थात् वास्तविकता को पहचान इन थोथी प्रगति के पोस्टरों पर गिर कर, इन्हें जलाकर राख कर दे, तब कैसा हो, अर्थात् जीवन की समस्त अव्यवस्था एवं नैराश्य को वास्तविकता पहचान क्रान्ति-पथ पर अवसर होने की जरूरत है। तभी झूठों और प्रति-क्रान्तियों का पर्दाफाश कर उसे समांप्त किया जा सकता है।

तब शहर-कारीगर ने अपनी साथी (जमाना-पेण्टर) के कन्धे पर हाथ रखते हुए कहा–मैं क्या करना चाहता हूँ, तनिक वह भी सुन लो। धुएँ से काली पड़ गई कोठों की दीवारों पर

बाँस की तीली की नोक से लेखनी का काम लेकर कवि ने राम की कथा की व्यथा के मर्म को अंकित किया था जो कि आज भी सत्य है। अर्थात् जिस प्रकार की विषमता का शिकार होकर राम को बन भोगना पड़ा था, वहाँ सीता हरण जैसे कष्ट और उसकी प्राप्ति के लिए अनवरत संघर्षों से गुजरना पड़ा था–आज भी मानवता वैषम्यों का शिकार उसी प्रकार हो रही है। आज भी उसी प्रकार के संघर्ष की आवश्यकता है। कवियों को वही अन्तः ज्वाला लेकर मानवता की कहानी कहनी चाहिए। पर आज के कवि-कलाकार के पास आज न तो वैसी दृष्टियाँ हैं और न उचित समय और साधन ही हैं। उसके पास जीवन के चित्र अंकित करने की इच्छा तो शेष है, पर अब जिन्दगी के औसान बदल गए हैं। वह केवल कल्पना का भुरभुरापन ही नहीं, बल्कि खाकी मिट्टी का यथार्थ है, जिस की ओर ध्यान ले जा पाने में स्यात् आज का कवि-कलाकार असमर्थ-सा होकर रह गया है।

विशेष–कवि ने राम-कथा का सांकेतिक चित्रण पूर्ण औदात्य के साथ अंकित किया है। ऐसा करके उसने जीवन के वैषम्यों के प्रति संघर्ष के शाश्वत सत्यों का कुशल रेखांकन किया है।

खपरैलों के धुएँ, आसमानी सिपाही सुबह की किरणें, रात के गृह-दीप आदि अत्यन्त सार्थक प्रतीक हैं। जो आशा-निराशा की विभिन्न मनःस्थितियों के द्योतक हैं।

जमाने ने नगर के कन्धे..................................अपने लिए नहीं वे!! (पृष्ठ ३७-३८)

शब्दार्थ–नखों=नाखूनों।

प्रसंग–स्वार्थ त्याग कर ही जीवन का वास्तविक चित्र बनाया और सजाया-संवारा जा सकता है, पर पूँजीवादी परम्पराएँ इस राह में सर्वाधिक बाधक हैं–अपनी प्रतीकात्मकता में इस विचार का तथ्यपूर्ण प्रतिपादन करते हुए कवि मुक्ति कह रहे हैं :

व्याख्या–अपने पेण्टर की प्रतीकात्मक में जमाने ने प्रतीकात्मक शहर (या नगरीय जीवन) के कन्धे पर हाथ रखते हुए, जैसे उसे मर्म की बात समझाते हुए कहा–पैरों के नाखूनों की नोंक से अर्थात् अनवरत परिश्रम और संघर्ष के द्वारा, या डण्डे की नोक से अर्थात् सशक्त क्रान्ति के द्वारा इस धरती की मिट्टी में रेखाएँ खींचकर भी तस्वीरें बनाई जा सकती हैं। अर्थात् जीवन में परिवर्तन लाकर उसे सहज भोग्य बनाया जा सकता है, जीवन को सर्व-सुलभ किया जा सकता है–यह एक रास्ता है। पर यह तभी संभव हो सकता है कि जब सभी के मन में वास्तविक स्तर पर जीवन को किसी भाव-विचार पूर्ण चित्र के समान ग्राह्य, रहनीय बनाने का चाव हो। क्रान्ति लाने के प्रति असीम श्रद्धा का भाव हो।

इस पर दूसरे प्रतीक कारीगर ने हँसकर और जीवन को अपनी बगल में खींचते हुए कहा–भाई पेण्टर, चित्र बनाते समय अर्थात् जीवन में क्रान्ति लाकर नया समाज-जीवन निर्माण करते समय सब प्रकार के स्वार्थों का परित्याग करने की जरूरत रहा करती है। पर हमारा सारा जीवन-भवन तो स्वार्थ एवं निराशा के अन्धकार से भरा है। इसमें इच्छाओं की अंधियारी सीढ़ियाँ चढ़ती-उतरती हमारी आशाएँ ऊपर वालों को प्रभावित नहीं कर सकतीं। कवि का संकेत पूँजीवादी साम्राज्यवादी संस्कृति की ओर है। उसने ऊपर के सारे कमरे सामान्य जनों के लिए बन्द कर रखे हैं। अर्थात् सामान्य जन प्रगति की उच्च राहों, पर मानवता के उच्च आदर्शों की ओर अपनी असमर्थता और पूँजीवादी-साम्राज्यवादी चेतनाओं की अहमान्यताओं के कारण नहीं बढ़ सकती। यही विवशता और विडम्बना है।

विशेष–कवि ने स्वार्थ-त्याग, संघर्ष और क्रान्ति को मानव-उन्नति का प्रशस्त-पथ बताया है। साथ ही उसके बाधक पूँजीवाद-साम्राज्यवाद की ओर भी संकेत दिया है। यह सार चित्रण कवि की राजनीतिक-मानसिक चेतना के अनुरूप ही है।

जमाने ने नगर से यह कहा..खूँखार अक्षर। (पृष्ठ ३८)

प्रसंग–उपरोक्त सन्दर्भ में ही कवि क्रान्ति की भावी सम्भावनाओं पर प्रकाश डालते हुए, अपनी, वर्तमान की असमर्थता को भी स्वीकारते हुए, कह रहा है :

व्याख्या–उपरोक्त बातें सुनने के बाद जमाने ने नगर से कहा–तुमने जो कुछ कहा है, वह गलत है। तुम्हारा भ्रम है। सम्मिलित परिश्रम और छीन लेने की शक्ति जुटाकर ही हम अपने अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। अपने हकों को सीधे ढंग से न मिलने पर छीन लेना भी हमारे अधिकारों के सीमा-क्षेत्र में आता है। पर इस क्षण हम जो तस्वीर बनाना चाहते हैं, अर्थात् परिवर्तन और अधिकार-रक्षा के लिए करना चाहते हैं, नहीं करेंगे, नहीं कर पायेंगे। पर हाँ, अपने अधिकारों और गतिविधियों के सूचक, समय की चेतावनी से भरे पोस्टर अवश्य ही लगा देंगे। अर्थात् बाधकों को चुनौती और चेतावनी जरूर दे सकेंगे–दे जायेंगे। तुम चाहे मानो या न मानो, हम क्रान्ति की आग को अवश्य धधकाएँगे। आज चाँद ही सूर्य बन जायेगा–अर्थात् शीतल-कमजोर लोग ही वर्ग-संघर्ष में क्रान्ति की आग बन जाएँगे। इस प्रकार के पोस्टर–अर्थात् वर्ग-चेतना को जगाने वाले विचार ही सच्ची कविता है। यह कविता-रूपी पोस्टर हमारी सहज मानवीय वेदना के रक्त से लिखे गए हैं। इसी कारण ये लाल-लाल अक्षरों वाले पोस्टर हमारे हृदय की आग बनकर अनवरत धधक रहे हैं–धधकेंगे। ये गलियों-मोहल्लों में रहने वाले पीड़ित-शोषित जनों के कानों में बोल-बोलकर हमारी आवाज को पहुँचायेंगे। मानवता के प्यार से धड़कती हमारी छातियों की गर्मी से उड़ने वाले आँसू खूँखार अक्षर बनकर सब के कानों तक हमारी क्रान्ति का आह्वान पहुँचाएँगे।

विशेष–लाल, खूँखार अक्षर जैसे प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग सशस्त्र या रक्त-रंजित क्रान्ति के आह्वान के लिए किया गया है।

'सम्मिलित श्रम और छीनने का दम' आदि प्रयोग भी उपरोक्त तथ्यों को ही उजागर करने वाले हैं।

चटाख से लगी हुई..चिल्लाते हैं पोस्टर। (पृष्ठ ३८-३९)

प्रसंग–आदमी-आदमी में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है, पर सच्चा आदमी वही हो सकता है जो दूसरों के दुःख-दर्द को सुनकर सहायता के लिए भागा आता है। जो क्रान्ति और आमूल-चूल परिवर्तन का ध्वज वाहक है–ये विचार प्रगट करते कवि कह रहा है :

व्याख्या–जब पूंजीवाद-साम्राज्यवाद अपनी बन्दूकों से चटाख-चटाख गोलियाँ चलाता है, तब इस प्रकार के क्रान्तिकारी विचारों के वाहक पोस्टर ही उसके सामने प्रतिरोध बना करते हैं। वे पैगम्बर बनकर जमाने की रक्षा करते और उसे शहादत का सन्देश देते हैं। तब यदि विपत्तियों का आसमान भी टूट पड़ता है, तो इस प्रकार के क्रान्तिकारी विचार उनको भी अपने कन्धों पर रोक पाने में समर्थ हो जाया करते हैं। वस्तुतः हैं तो सभी आदमी और सभी एक-से भी हैं; पर जो दुःख-कष्ट में फँसे आदमी की गहरी अर्थात् विचार-संयत पुकार को सुनकर सहायता के लिए दौड़े आते हैं, वही सच्चे आदमी कहे जा सकते हैं। बूढ़ी माँ के झुर्रीदार चेहरे पर, धंसी आँखों पर अंकित अनुभव आदमी आदमी में भेद नहीं करते। अर्थात् जैसे माँ के लिए

सभी बच्चे समान होते हैं, उसी प्रकार धरती माँ के लिए भी सभी वर्गों में बंटे आदमी मूलतः समान हैं। भेद-भाव बाहरी और निहित स्वार्थियों द्वारा ही खड़े किये गए हैं। सच्चा आदमी वही है, जो मानवता के, धरती के दर्द को पहचानता है। आदमी-आदमी में कोई मौलिक भेद न मान सभी के हित की कामना-कल्पना करता है। यही जीवन की वास्तविकता और नैतिकता-नीति सब कुछ है।

धरती का नीला पल्ला....................................**दौड़ पड़ता आसमान।** (पृष्ठ ३९-४०)

शब्दार्थ–विक्षोभी=क्रोध से भरी। तड़ित=बिजली। गुहाओं में=गुफाओं में। दहाड़ते=चीखते-चिल्लाते।

प्रसंग–आदमी की करुणा, सम्वेदना और शक्ति सभी में, सभी जगह हलचल और क्रान्ति मचा देने की अद्भुत शक्ति छिपी है, इस तथ्य को उजागर करते हुए कवि मुक्ति बोध कह रहे हैं :

व्याख्या–जब अनेक प्रकार की विषमताओं, अत्याचारों एवं उत्पीड़नों से उत्पीड़ित होकर धरती का आंचल काँपने लगता है–यानि कि आसमान भी काँपने लगता है–अर्थात् धरती से आकाश तक चारों तरफ क्रोध और विक्षोम का वातावरण छा ज़ाता है। उस निराशा की अन्धियारी झड़ी में वास्तविक सहृदय आदमी के अन्तर में करुणा की रिमझिम होने लगती है, विचार-रूपी विक्षुब्ध बिजली कराहने लगती है। तब मानव के अन्तर्मन की जागृत गुफाओं में उत्पीड़नों-अत्याचारों से विक्षुब्ध होकर क्रोध शक्ति के रूप में वृहदाकार पर्वत बनकर आततायियों पर दहाड़ने लगता है। निराशा की कालिमा की उस बरसात में भी मानवीय संवेदनाओं की बिजली उत्पीड़ित मानवता की मदद के लिए जैसे कराहने-छटपटाने लगती है। तब सहज मानवीय करुणा से अविभूत होकर सच्चा आदमी अत्याचारियों से प्रतिकार करने के लिए, क्रान्ति का अग्रदूत बनकर आगे दौड़ने लगता है। तब सारा जहान और आसमान भी उसके साथ-साथ दौड़ने लगते है। अर्थात् उस क्रान्ति के कार्य में सभी लोग सहायक बन जाया करते हैं। अतः कवि का भावाशय यह है कि मानवीय उत्पीड़नों को निहार सहज मानवीय संवेदनाएँ जागृत करने की आज मुख्य जरूरत है।

विशेष–धरती-आसमान का काँपना, अत्याचारों के चरम का परिचायक है और उत्पीड़ित मानवता का भी। काली झड़ी दुःख निराशा की अधिकता की परिचायक है।

कवि ने रूपकात्मकता का विचाराभिव्यक्ति के लिए सुघड़ आश्रय लिया। प्रयोगों की नवलता और ताज़गी उल्लेख्य है।

मुहल्ले के मुहाने के उस..**उजाला बन।** (पृ. ४०)

प्रसंग–आज चारों ओर जागृत चेतना यह प्रश्न और बहस कर रही है कि इस विषमता और जीवन का अन्त कब होगा ? कब समता-सुख के सूर्य का उदय होगा, इन भावाविल विचारों को अभिव्यक्त करते हुए कविवर मुक्तिबोध कहते हैं :

व्याख्या–गलियों और मुहल्लों के भीतर-बाहर, आर-पार चारों ओर आज एक ही बहस छिड़ रही है। बरगद अर्थात् विराट जीवन की ढीठ शाखाओं पर भी परिवृर्तन आने की उसी बहस में परिचायक पोस्टर मानो लगे हैं। भैरों की कड़ी पीठ ने भी इसी प्रकार के पोस्टर पहन रखे हैं। अर्थात् धर्म, समाज, राजनीति आदि सभी क्षेत्रों में एक ही प्रश्न बहस के रूप में उछाला जा रहा है। भैरों-परम्पराओं के प्रतीक और बरगद जीवन की विराटता के प्रतीक दोनों में इस

प्रश्न पर जैसे जोरदार बहस चल रही है कि नई सुबह कब होगी ? कितना समय उसके होने में और लगेगा ? कब मानवता के सामने विद्यमान सभी प्रकार की मुश्किलें दूर हो सकेंगी ? और अन्त में कवि बहस के रूप में उछाले जा रहे प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास करते हुए जैसे कह रहा है–क्षण-क्षण बीत रहे समय के साथ-साथ आकाश की कालिमा से बिजली-सा उजाला बूंद-बूंद अर्थात् थोड़ा-थोड़ा चूने या प्रकट होने लगा है।

कवि का भाव यह है कि आदमी के नए प्रयत्नों के परिणामस्वरूप ऐसी आशा बंधने लगी है कि मानवता पर आई असमानता विषमता की काली रात बीतेगी। सुख, समानता और सौहार्दय का नया उजाला जल्दी ही होगा।

चकमक की चिनगारियाँ

कविता-परिचय–प्रस्तुत कविता कविवर मुक्ति बोध के काव्य-संकलन 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में संकलित है। इस संकलन में विशेष प्रकार के प्रयोगों से संयत, जीवन के ठोस, अनुभूत धरातल पर आधारित कुछ लम्बी कवितायें भी संकलित की गई हैं। ऐसी कविताओं में विद्रूप और क्रूर भावों से संयत नाटकीय और कथानक वाले सन्दर्भ भी रहा करते हैं। वस्तुतः कथानकीय योजनाओं के कारण ही इन लम्बी कविताओं में नाटकीयता, चित्रमयता, प्रभविष्णुता और यथार्थता आदि आ पाये हैं। 'चकमक की चिनगारियाँ' भी इसी प्रकार का एक नया प्रतीकात्मक प्रयोग है। "सतही और अधूरा जीवन व्यक्ति को संकुचित एवं अस्तित्व-विहीन सा बनाकर रख दिया करता है–" इसी को हम इस लम्बी कविता का मूल या केन्द्रीय भाव कह सकते हैं। इस भाव को कवि ने अनेक प्रकार के रूपकात्मक, प्रतीकात्मक बिम्बों के द्वारा सशक्त ढंग से उभारने का सफल सार्थक प्रयोग किया है। कवि के मन में खीझ और कड़वाहट तो है ही पर विभिन्न बिम्बों द्वारा उस सबको अभिव्यक्त कर पाने की उत्कट अभिलाषा और क्षमता भी है।

कविता में कुल मिलाकर, छोटे-बड़े, १२ पैरे या मुक्त छन्द हैं, जिन्हें हम एक ही मूल संवेद्य या केन्द्रीय भाव को विभिन्न मनःस्थितियों, विभिन्न कोणों से बिम्बित करने वाले दृश्य भी कह सकते हैं। कथ्य-कथानक के रूप में अधूरी और सतही जीवन की अन्तश्चेतना को मरोड़ कर रख देने वाली अन्तःअनुभूति ही मुख्य हैं। कवि के अवचेतन का द्वन्द्व और पीड़ा सर्वत्र जैसे चिंघाड़कर मुखर तो हो ही उठी है, दृश्य एवं स्पृश्य भी बन गई हैं। १२ भागों, मुक्तछन्दों या दृश्य में विभाजित रहने पर भी पूरी कविता अपनी मूल संवेदना में एकत्व के अन्तःसूत्र से पूर्णतया सुगुम्फित है और अन्त में समग्रतः एवं सम्पूर्णतः एक ही 'सतही और अधूरे जीवन-बिम्ब' को उजागर कर जाती है।

(१) अधूरी और सतही...स्वर प्रखर होता है।

शब्दार्थ–सतही=ऊपरी, बाह्य। गर्भ=दुःखद, संकटपूर्ण। गुप्त मन=अन्तर्मन, अवचेतन। सिफर=शून्य। मजमून=विषय, साहित्य। जब्त=प्रतिबन्धित। स्वयं की छाँह=अपनी परछाई, अस्तित्व की अनुभूति। विकट=विचित्र। आत्मालोचनात्मक=अपनी आलोचना से पूर्ण। प्रखर=तेज, तीव्र।

प्रसंग–प्रस्तुत पंक्तियाँ कविवर मुक्तिबोध के काव्य-संकलन 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में

संकलित 'चकमक की चिनगारियाँ' नामक लम्बी कविता के आरम्भ या प्रथम भाग में से ली गई हैं। इस कविता में कवि ने विविध आयामों, विविध बिम्बों के माध्यम से अधूरी और सतही जिन्दगी के कारण व्यक्ति के जीवन में, अन्तर्मन में आ जाने वाली ऊब, खीझ और संकुचितियों का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। प्रस्तुत पंक्तियों में अधूरे और सतही जीवन के प्रति गोरों के सामने हब्शियों की होने वाली निरीह स्थिति और राज दण्ड के भय से किसी महत्वपूर्ण दस्तोवज या साहित्य को छिपाने की निरीह चेष्टा के माध्यम से मन की ऊब और खीझ को व्यक्त करते हुए कविवर गजानन मुक्तिबोध कह रहे हैं :

व्याख्या–अधूरे और ऊपरी या बाह्य जीवन के दुःखद, कष्टकाकीर्ण राह पर हमारा अन्तर्मन या अवचेतन उसी प्रकार से संकुचित, दुविधापूर्ण होकर अपने-आप ही सिकुड़ा जा रहा है, जिस प्रकार काले-स्याह रंग वाला हब्शी गोरे लोगों को सहसा अपने सामने पाकर भय और हीनता-बोध के कारण उनकी दृष्टियों से बचने का प्रयास करते हुए, छिपने की चेष्टा में सिकुड़-सा जाता है। उनकी दृष्टियों से अलग अर्थात् दूर होकर, अपने में ही सिमट-सिकुड़ शून्यवत् बन जाना चाहता है। अर्थात् हीनता और व्यर्थता के बोध से दब कर अपने अस्तित्व के प्रति ग्लानि से भर जाता और जीवन-परिवेश से कहीं भाग जाना चाहता है। अथवा हमारा अन्तर्मन अधूरेपन और सतही जीवन से ऊब-खीझकर उसी प्रकार सिमट सिकुड़ जाना चाहता है, जैसे अवैध या सरकार द्वारा प्रतिबन्धित बहुमूल्य दस्तावेजों या साहित्य को कोई व्यक्ति अनवरत सुगुप्त रखने का प्रयत्न करता रहता है। उसी प्रकार हमारा अवचेतन भी बचाव की अनवरत प्रक्रिया में तल्लीन रहने की चेष्टा में निरत रहता है।

स्थिति का एक अन्य प्रकार से चित्रण करते हुए कवि आगे फिर कहता है कि अन्तर्मन के विकल विचारों पर अपने ही हृदय का रक्त ठीक उसी तरह टप-टप करता टपक रहा है, जैसे प्रतिबन्धित विचार और तथ्य व्यक्ति के अपने ही भीतर अभिव्यंजित होने के लिए कुलबुलाते या तड़पते रहा करते हैं अर्थात् अधूरा सतही जीवन अपने अधूरेपन को अभिव्यंजित करना तो चाहता है ताकि अभावों को भावों से भरा-पूरा जा सके, पर अभाव तन-मन और समूची व्यक्ति चेतनाओं को निचोड़ कर असमर्थ और व्यर्थ, मात्र विहल तड़पना से संयत करके छोड़ देते हैं :

उपरोक्त भूमिका के बाद कवि अपनी अन्तःस्थिति की तड़पना को रूपायित करने की चेष्टा में आगे कहता है–उपरोक्त स्थितियों के कारण ही मेरा व्यक्तित्व और अन्तर्मन अनवरत संकुचित होते हुए अपनी ही परछाई की छाया से भी कहीं अधिक सूक्ष्म-संकुचित होता जा रहा है। व्यर्थता और अधूरेपन, सतही जीवन जन्य ऊब और खीझ से भरकर मेरा अस्तित्व और व्यक्तित्व अपने इस सूक्ष्मतम छाया रूप को छिपाने का अनवरत प्रयत्न रहता है। ऐसी स्थिति में समझदारी, बुद्धिमत्ता, ज्ञान आदि और जीवन-परिस्थितियों से समझौते की बातें मेरे लिए तड़पा देने वाली, दुःखदायी लगने लगती हैं। इस विकट गढ़न की अनुभूति से भरे जाने पर लगता है कि मेरा और आपका अर्थात् दुनिया का रास्ता नितान्त भिन्न, नितान्त अलग-अलग होता जा रहा है। क्षण मात्र के लिए ही सही, इस अबूझ, असह्य स्थितियों का मात्र अपनी आलोचना का स्वर ही प्रबल हो पा रहा है–केवल आलोचना का, अन्य कुछ नहीं।

भाव यह है कि अभावपूर्णता और अधूरेपन का अहसास व्यक्ति को अनेक प्रकार की हीनताओं का शिकार बनाकर अनेकशः आत्मसीमित बना दिया करता है। उस हीनता से छुटकारे

के लिए मात्र आलोचना-प्रत्यालोचना ही उसका सम्बल बन पाती है, शेष कोई भी सम्बल-सहारा नहीं रह जाता।

विशेष–संत्रस्त एवं उत्पीड़क आक्रोश का भाव स्पष्ट है, जो कि कविवर मुक्तिबोध के समूचे काव्यगत आचार्यों का प्रमुख स्वर एवं शोधात्मक बोध स्वीकारा जाता है।

दृश्य, श्रव्य एवं स्पृश्य बिम्ब उभर कर पाठक एवं श्रोता की चेतना को भी सहसा आक्रान्त कर लेते हैं। वह जीवन के अधूरेपन और सतहीपन के भाव से भर का विक्षुब्ध हो उठता है।

कवि ने सबल एवं कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए अनेक अलंकारों का प्रयोग किया है। 'अधूरी और सतही जिन्दगी···जल्द' तक पदों में दृष्टान्त अलंकार है। 'मानो कीमती मजमून···पर्चों का' पद में उत्प्रेक्षा अलंकार है। 'पाबन्द लगे से भेद सा बैचेन' और 'स्वयं की छांह···सा हूँ' पदों में उपमा अलंकार है। 'टप-टप कर टपकता रहता' पद में वीप्सा, पुनरुक्ति प्रकाश और अनुप्रास अलंकार हैं। श्रव्य बिम्ब भी यही पद उभारता है। 'छांह की भी छांह' में यमक, वीप्सा और पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार हो सकते हैं।

भाषा-भावना का तादात्म्य तो दर्शनीय है ही, स्वर-वर्ण-शब्द-मैत्री भी दर्शनीय एवं उल्लेख्य है। 'गर्म' शब्द कष्टों का प्रतीक है।

(२) अधूरी और सतही..बनाने में लजाता हूँ।

शब्दार्थ–भौंचक=आश्चर्यप्रद। अग्निमय=क्रान्तिपूर्ण। प्रश्न-मुद्रायें=प्रश्नपूर्ण भंगिमा। द्युति=ज्योति। प्रभायें=चमक। बर्र=ततैया, भूण्ड। बर्र कांटों=ततैया का डंका। व्रणाहत=घायल।

प्रसंग–प्रस्तुत पद्य-खण्ड कविवर गजानन माधव मुक्तिबोध की लम्बी कविता 'चकमक की चिनगारियाँ' का दूसरा भाग है। इस लम्बी और प्रतीकात्मक कविता में कवि ने अधूरे और सतही ज़ीवन से उभर आने वाले हीनताबोध का वर्णन विभिन्न प्रतीकों, बिम्बों के माध्यम से बड़े ही मार्मिक ढंग से किया है। प्रस्तुत पंक्तियों में अपने जीवन में आ गए अधूरेपन और जगत् जीवन में उभर आ रही सतहीपन के प्रति एक कुढ़न, गढ़न का वर्णन करते हुए कवि कह रहा है :

व्याख्या–अचानक ही कई बार अधूरे जीवन और सतही जागतिक व्यवहारों से अविरत उत्पीड़ित इस राह पर कोई सनसनी सी उत्पन्न हो जाया करती है। तब लगता है, जाने कौन सी आग अर्थात् विद्रोह की भावना मेरे पैरों के तलवों के नीचे सुलग कर मुझे काटने-ज़लाने लगती है। अर्थात् कदम किसी अचीते विद्रोह-मार्ग पर बढ़ जाने को विकल हो उठते हैं और अपने जीवन का अविरत पथ मुझे अनेक प्रकार के काँटों से पूर्ण, कष्टों और पीड़ाओं का अनुभव दे जाता है। परिणामतः मेरा अस्तित्व तिलमिला कर, विवशता से जाने किसके संकेतों से नाचने लगता है। मैं अपनी भूमि पर खड़ा हो पाने और अपने निर्धारित पथ पर चल पाने में भी असमर्थ होकर रह जाता हूँ। अर्थात् नितान्त असमर्थता और जड़ता ही जीवन और उसके पथ की परिभाषा बनकर रह जाती है।

जीवन के स्वार्थ पूर्ण, आपा-धापी और लूट-खसोट से भरे आयाम की ओर इंगित करते हुए कवि आगे कहता है–विवशता, असहायता और अधूरेपन की सतही-जीवन-भावना से अविभूत मेरा मन भयावह अनुभूतियों से ग्रस्त हो उठता है और लगता है, कि समूचा और अर्थात् युगीन वातावरण ही आपाधापी में अन्धा हो गया है। उसमें व्यक्ति के रूप में मैं भी लोगों के मुखों और छातियों को अपने पाँवों तले अनवरत रोंदता हुआ चला जा रहा हूँ। अर्थात्

जीवित मानवता के सुख-दुःख की चिन्ता न कर अपनी ही मस्ती में चले जाने वालों का मैं अपने-आप को भी भागीदार मानने लगता हूँ। अपने-आपको इस अमानवीय स्थिति से ऊपर नहीं उठा पाता। लगता है, जैसे मेरे सामने असंख्य पीड़ित-शोषित लोगों की प्राणमयी, क्रान्ति की चाहना से संयत तन-मन, आत्माएँ अपनी ज्योतिर्मय प्रभा में भी समस्याओं से फिर कर प्रश्न मुद्रा में मेरे सामने आ खड़ी होती हैं ; पर मैं उन सबको भी कठोरता से अपने पगों से रोंधता-कुचलता आगे बढ़ा जा रहा हूँ। तभी तो मेरे पाँव के तलवों में, लगता है एक सुतीक्षण कील-सा गढ़ गया है; वह मेरे तन और प्राणों तक को काटता हुआ अन्तर्मन के गहरे में धंस कर रह गया है। उसी के कारण ही मेरे तन-मन में एक आग सुलगने लगी है, उसने मुझे समूचे रूप से अस्थिर कर दिया है। लगता है जैसे असंख्य ततैया ने अपने भयानक डंक से मेरी अन्तश्चेतना तक को काट लिया है; तभी तो मेरी चेतना एक असह्य अन्तःवेदना से कराह उठी है, टीस उठी है। कवि का तात्पर्य यह स्पष्ट करना है कि आज के आधारहीन, अन्ध-दौड़ में व्यस्त जीवन के कारण सामान्य जनों की जो उपेक्षा-उत्पीड़न हो रहे हैं, उन सब ने मेरे तन-मन को व्यक्ति-पीड़ित कर दिया है। मेरी चेतना को झनझना दिया है।

इसके बाद अपनी विवशता के अहसास से और अधिक भरकर, कवि आगे फिर कहता है--मेरे प्यारों में घुसकर प्राणों तक को घायल कर देने वाले कील की गढ़न के घाव से पीड़ित होकर मैं इधर-उधर जैसे किसी उचित उपचार की खोज में भटकता फिरता हूँ। मेरे भटकाव में भी भयानकता का ही अहसास है। परिणामतः अवचेतन तक भी शून्यता को अहसासने लगा है। गर्म टीन पर चलने से जैसे घायल पाँव और भी पीड़ित हो उठता है, उसी प्रकार गर्म विचार मेरे घायल मन को और भी अधिक पीड़ित करने लगते हैं। परिणामतः मेरा मन चीखने-चिल्लाने लगता है। पर खेद है कि मैं यथार्थ जीवन की चीख-चिल्लाहट से संयत कविता का सृजन कर पाने में लज्जावश असमर्थ रह जाता हूँ। अर्थात् जीवन की विषमताओं को अहर्निश भयानकता से अनुभव करते रहकर भी उसे काव्य और कला आदि में रूपाकार प्रदान नहीं कर पाता। मेरा ओछा लज्जा भाव वह सब करने से मेरे पथ को अनवरत रोकता रहता है।

भाव यह है कि आज का सामान्य जन और कवि-कलाकार भी जिस प्रकार के स्वार्थी, अन्ध मान्यताओं वाले वातावरण में चेतना के स्तर का उत्पीड़न झेल रहा है। उसे अनुभव तो सभी करते हैं पर उसे कला आदि में व्यक्त कर उससे निजात पाने की ओर प्रयत्न करने में सभी अपने अधूरे और सतहीपन के कारण लज्जा का अनुभव करते हैं।

विशेष--"हर पल चीखता हूँ...कविता बनाने में लजाता हूँ" पद में कवि ने आज के कवि और कलाकारों पर तीखा व्यंग्य तो किया ही है, उन्हें जीवन के यथार्थ को काव्य-विषय बनाने की चुनौती और प्रेरणाा भी दी है।

'कीला' दुःखद स्थितियों की आन्तरिक गढ़न का प्रतीक है। आरम्भिक चार पंक्तियों में विवशता का भाव विशेष रूप से उभर कर चेतना को आक्रान्त करने वाला है। 'अन्धा दौर' साभिप्राय प्रयोग है और अन्ध परम्पराओं तथा युगीन हृदय-हीनता, जीवन-दृष्टि-हीनता का परिचायक है। 'बर्र काटें' वैषम्यों और भीषण समस्याओं की विकटता का प्रतीक तो है ही, नाटक दुःख पहुँचाने और अवरोधक बनने वालों का भी परिचायक है।

कवि ने सक्षम अभिव्यक्ति के लिए उपमा, अनुप्रास, रूपक और पुनरुक्ति आदि कई

अलंकारों का प्रयोग किया है।

अन्तःस्पर्शी बिम्ब की प्रधानता है, जबकि कहीं-कहीं दृश्यमयता भी है और श्राव्यता भी है।

(३) इतने में, अंधेरी...उद्घाटित हुए उत्तर।

शब्दार्थ–श्याम=काला। आघात=चोट। दमकता=चमकती। स्वगत=मन में, अपने-आप से। शून्य यात्रा=आकाश में उड़ता। दीर्घ वृत्ताकार=चौड़े घेरे के समान। गह्वर=गड्ढा, गुफा।

प्रसंग–ये पंक्तियाँ कविवर मुक्ति बोध के प्रसिद्ध काव्य संकलन 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में संकलित प्रलम्ब कविता 'चकमक की चिनगारियाँ' का तीसरा भाग है। इस कविता में कवि ने जीवन के अधूरे और सतहीपन के कारण उभरने वाले हीनता-बोध का अनेक प्रकार के बिम्बों द्वारा बड़ा ही मार्मिक और प्रभावी चित्रण किया है। कवि हीनता और विवशता से ग्रस्त हो रहा है कि रचनाधर्मी कलाकार होकर भी वह जगत्-जीवन की पीड़ा और असमर्थता को व्यर्थ की लज्जा मर्यादा के चक्कर में पड़कर कलात्मक रूपाकार दे पाने में समर्थ नहीं हो पा रहा। तब प्रस्तुत पंक्तियों में उसकी अन्तश्चेतना एक प्रकार के धिक्कार से भर उठती है। पर साथ ही इस समस्या का एक प्रकार का समाधान भी उसकी कल्पना-विचारणा के क्षितिजों पर उड़ती अन्तश्चेतना ही करती है। इसी सबका वर्णन-विवेचन करते हुए कवि इन पंक्तियों में कहता है।

व्याख्या–सतही-अधूरे जीवन की व्यथा पर मैं (अर्थात् मेरे जैसे सर्जक कलाकार) चीखने-चिल्लाने मात्र के सिवाय अन्य कुछ भी तो नहीं कर पाता। कवि की चेतना इस प्रकार की विवश मानसिकता में लीन होती है कि वह अनुभव करता है कि विवशता-असमर्थता के अन्धकार की उस दूरी–अर्थात् उपाय और समाधान की अनजानता की दूरी में सहसा उभरकर एक काला हाथ, अपने धुँधलेपन में आगे बढ़कर उसकी कनपटी पर एक तीव्र आघात करता है। आघात की तीव्रता के परिणामस्वरूप उसे लगता है जैसे कोई भयानक विस्फोट हो उठा हो। उसके उद्भ्रान्त नयनों के सामने चिंगारियाँ-सी उड़ने लगती हैं। लगता है उसे, मानो आकाश से टूटकर कोई तारा अपनी चिंगारियाँ-चमकती रेखाएँ नयनों के समक्ष छोड़ गया हो। दूर टूटने वाले उस सितारे के परिणामस्वरूप लाल, नीली, पीली, बैंगनी आदि रंगों वाली चिंगारियाँ चारों तरफ उड़कर फैल गई हों। कवि को लगा कि आघात की तीव्रता के कारण कन्धों पर से उसका सिर ही उड़ गया हो, उड़कर कहीं गायब हो गया हो। अलक्षित रूप से सूने आकाश में यात्रा करता हुआ उसका सिर जैसे अपने आप से ही कहता, उड़ता जा रहा हो। वस्तुतः कवि अपनी ही सोई और अन्ध चेतनाओं पर अन्तःप्रहार करके उसे जगाता है। वह अन्य (अफ्रीकी देशों में जहाँ काले हब्शी आज भी अपने स्वत्वाधिकारों के लिए लड़ रहे हैं) लोगों से प्रेरणा लेने की ओर भी इंगित करता है। तब उस अपनी ही अन्तश्चेतना की गूँज सुनाई पड़ती है।

अनुभूति की अन्तरंगता एवं गम्भीरता में उड़ते हुए अपने आपसे ही कुछ कहते सिर की व्यथा और विचार व्यक्त करते हुए कवि आगे कहता है–सिर जैसे अपने-आपसे ही सम्भाषण करता कह रहा है–अरे ! अपनी इस भावुकता, कायरता और तथाकथित लज्जा की ओट में आखिर कब तक छिपे रह सकोगे ? इस प्रकार चुनौती भरे स्वरों में कहता हुआ वह सिर जैसे लम्बे घेरे में अनवरत उड़ते हुए वह राह से दूर किसी जंगल में बने अनजाने अर्थात् नाम-पते से रहित गड्ढे में जा गिरा। अर्थात् सिर में विद्यमान बौद्धिकता का भाव अन्तश्चेतना के अज्ञात

गह्वरों में विलीन हो गया। फिर वहाँ से आत्मसम्भाषण के से स्वर गूँजकर सुनाई देने लगे–जिनसे तुम्हारा जन्म हुआ है, भला तुम उनसे कहाँ-कैसे मिल सकोगे ? जैसे ही सिर उस अनाम गड्ढे में धम से गिरा कि सहसा उसकी अथाह गहराइयों में से निकल कर कुछ विचार रूपी रत्न वहाँ बिखर गये। ओह ! इतनी मार खाने अर्थात् संघर्ष और अन्तः मन्थन करने के बाद ही प्रश्नों के उत्तर एवं सम धान प्राप्त हो सके।

भाव यह है कि असमर्थता से उबरने का उपाय जीवन के यथार्थ को आत्मसात् करके मनोमन्थन करने, अनवरत प्रयत्न और संघर्ष करने से ही प्राप्त हो सकता है। यथार्थ को अनुभूतियाँ ही साहित्य या काव्य-कला का आधार बनकर, आन्तरिकता से सम्पृक्त होकर उन विचार और भाव-रत्नों को सामने ला सकती हैं कि जिनमें अधूरे-सतही जीवन की विषम समस्याओं के उचित समाधान अन्तर्हित हैं।

विशेष–'अन्धेरी दूरियाँ' अवचेतन की प्रतीक हैं। 'धुंधला हाथ' धुंधले विचार-सूत्र का प्रतीक, जबकि आघात आदि चेतना की ताड़ना और मन्थन के। तारा टूटना, अनेक रंग बिखरना आदि भ्रम टूटने और विविध विचारों के मन्थन के परिचायक हैं। 'गड्ढा' अन्तश्चेतना और 'रत्न' विचारों के प्रतीक परिचायक है। 'गायब सिर का स्वगत-भाषण' खोई चेतना की गुहार है।

समूचे पद्य में कवि की अपनी ही अन्तश्चेतना का द्वन्द्व प्रमुख है, कि जो अनवरत विचार-मन्थन का परिचायक है। 'जंगल' अनेक विधविचारों के जमघटे को कहा जा सकता है। भाषा मुहावरेदार, सरल, अभिव्यक्ति में सपाट बयानी से काम लिया गया है।

सब अभिव्यक्ति के लिए 'स्वगत' की योजना तो की ही गई है, रूपक, अनुप्रास, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों को अपनाया गया है। रंगीन और गतिशील दृश्य बिम्बों की योजना प्रमुख है, जबकि कहीं-कहीं स्पृश्यता का बिम्बात्मक आभास भी है।

(४) परम आश्चर्य..दिल के बड़े गड्ढों।

शब्दार्थ–जुग्राफिया=भूगोल। हिस्टरी=इतिहास। फल्सफे=दर्शन। वर्क=पृष्ठ। समूची=सारी। क्षुब्ध=व्याकुल।

प्रसंग–प्रस्तुत पंक्तियाँ कविवर गजानन मुक्तिबोध की लम्बी कविता 'चकमक की चिंगारियाँ' का चौथा छन्द या भाग हैं। इस कविता में कवि ने अधूरे और सतही जीवन के कारण उत्पन्न व्यर्थता के बोध से सृजन के धरातल पर छुटकारे का सफल प्रयत्न किया है। अन्तर्मन्थन और चेतना के द्वन्द्व में, अवचेतन की गहराई में उतरकर कवि का मन जिन भाव-रत्नों के वैविध्य का अनुभव करता है–प्रस्तुत पंक्तियों में उनका रूपायन करते हुए कहता है :

व्याख्या–अत्यन्त आश्चर्यजनक है यह सब घटित : उसकी अन्तश्चेतना के अनजाने गड्ढे में अनेक प्रकार की लाल, पीली, नीली, चमकीली रेखाओं वाले मानचित्र (नक्शे) खुले पड़े हैं। अर्थात् संसार के विभिन्न भागों में रहने वाले अनेक प्रकार के लोगों द्वारा अधूरेपन को भरने वाले प्रयत्नों के रंग-रूप सब उसका मन अपने भीतर संजोए हुए हैं। भूगोल, इतिहास और दर्शन-शास्त्रों के अनेक पृष्ठ भी उसकी अन्तश्चेतना में खुले पड़े है। अर्थात् भूगोल, इतिहास, दर्शन शास्त्र आदि बताते हैं कि मानव ने किन स्थितियों से उभर कर वर्तमान तक की जीवन यात्रा पूर्ण की है। इन शास्त्रों या ग्रन्थों की प्रत्येक पंक्ति सम्पूर्ण मानव-धरा के व्याकुल-पीड़ित मानवों की पीड़ा को व्यक्त करने वाली है अर्थात् मन में मानवता की पीड़ा, वेदना, संघर्षों

के इतिहास, विभिन्न देशों की मानवता की वेदना और प्रयत्न, विभिन्न प्रकार के दार्शनिक विचार आदि सभी कुछ अन्तश्चेतना में सोए-समाए पड़े हैं। उनसे सीख लेने की आवश्यकता है–जो हम अन्ध दौर के मानव नहीं ले पा रहे। अन्तश्चेतना की सघनता में मानवता के अनेकों सागरों की छटपटाहट को व्यक्त करने वाली संवलाई बूँदों के छींटे भी बरस रहे हैं कि जो देश-विदेश-समूची छाया-मानवता को गीला अर्थात् करुणाद्री करते जा रहे हैं। दिल में बहुत बड़े-बड़े गड्ढे हैं–अर्थात् अत्यधिक गहराई है ज़ो कि दलित-पीड़ित मानवता को निहार द्रवित हो उठी है।

भाव यह है कि इतिहास, भूगोल, दर्शन आदि अपनी अनेकता में विद्यमान हैं। अनन्त काल से दुःखी पीड़ित मानवता की मुक्ति का ये सब प्रयत्न भी करते आ रहे हैं, फिर भी इन सब में मानवीय पीड़ाओं का ही उभार है। यह उभार संवेदनशील व्यक्ति के मन को द्रवित, करुणार्द्र कर देता है।

विशेष–नक्शे, भूगोल, इतिहास, दर्शन आदि सभी ज्ञान और विचार, मानव के क्रमागत जीवन को व्यक्त करने वाले हैं। कवि उनकी छाया में निरीह मानवता की स्थिति का विवेचन-विश्लेषण कर करुणार्द्रता की सृष्टि करना चाहता है। उसे आश्चर्य है कि हम इन सब की चर्चा तो करते हैं, पर इन से वस्तुतः कुछ सीख नहीं पाते। इसी कारण करुणा की छाया समूची धरती पर चतुर्दिक परिव्याप्त है।

'गुमनाम खड्ढे' अनजाने अवचेतन के प्रतीक लगते हैं। लाल-पीले चमकते नक्शे बहुविध भूभागों, देशों आदि के प्रतीक हैं। 'जुग्राफिया, हिस्ट्री, फल्सफे के वर्क' परम्परागत क्रमिक विकास, ज्ञान, विचार आदि के परिचायक लगते हैं। 'साँवले छींटे' दुःख करुणा के परिचायक हैं।

काव्य की अभिव्यक्ति में दुरूहता और अस्पष्टता विशेष ध्यातव्य है।

(५) अचानक आसमानी..में नहीं मिलते।

शब्दार्थ–आसमानी फासले=आकाशीय अन्तराल, गगन की सीमा-रेखा, वातावरण। तम-विवर=अन्धेरा गड्ढा, अचीन्ही आन्तरिकता। ठिठका=रुका। आतुर=बचैन। ऊष्मा=गर्मी, ऊर्जा। प्रयासी=प्रयत्नशील। सक्रिय=क्रियाशील। साहाय्य=सहायता। तद्‌गत=समाहित।

प्रसंग–यह पद्य-खण्ड कविवर गजानन माधव मुक्ति बोध की लम्बी कविता 'चकमक की चिनगारियाँ' का पाँचवाँ भाग है। इस कविता में कवि ने अधूरी और सतही मानसिकता को भरने के लिए सामूहिकता के सम्बल को अपनाने या प्रश्रय देने की प्रेरणा प्रदान की है। अपने अन्तर्मन में पैठ, अनवरत विचार-मन्थन से कवि को जो प्रेरणा समूची मानवता की मुक्ति के लिए प्राप्त होती है, उसे मार्मिक शब्दावरणों में अभिव्यंजित करते हुए, इन पंक्तियों या प्रस्तुत पद्य खण्ड में कवि कह रहा है :

व्याख्या–विचार-मन्थन की आन्तरिका विभीषिका में लगातार विचरण करती चेतना के समक्ष आकाशीय सीमा-रेखाओं पर विचरण कर रहे चन्द्रमा ने अवचेतन के उस अन्धेरे गड्ढे की ओर देखा, वह पल भर के लिए जैसे ठिठक गया और फिर उसने जैसे कोई गुप्त संकेत या सन्देश देने के लिए किरण रूपी नीला लिफाफा (प्रेम-पत्र) अचानक मेरी (चेतना की) ओर फेंका। अन्तश्चेतना रूपी उस अन्धकार पूर्ण तंग कोने से निकलकर किसी व्यक्ति-रूपी सजगता ने उत्सुकता पूर्वक उस सन्देश दायक रहस्य-चेतना रूपी लिफाफे को खोलकर उसमें रखे प्रेरणा या विचार-सन्देश का पढ़ना आरम्भ किया। जैसे-जैसे वह पत्र पढ़ता जाता था। उसमें लिखे

धुँधुले अर्थात् रहस्यमय और कोमल सन्देश के अर्थ क्रमशः स्पष्ट होने लगे और मन-रूपी झरोखों की राह अन्तश्चेतना-रूपी भवन में प्रविष्ट होते गये और सर्वत्र आसमानी रंग परिव्याप्त हो गया। अर्थात् अर्थ को समझने के बाद आकाश जैसा निर्मल और स्पष्ट विचार मन में छा गया।

पत्र में लिखा वह सन्देश या अर्थ-स्पष्ट विचार क्या था, इसको स्पष्ट करते हुए कवि आगे फिर कहता है–उस पत्र में यह लिखा हुआ था कि समूची जनता में जब तक जीवन की ऊष्मा या ऊर्जा जागृत नहीं हो जाती, तब तक उसका जुड़ाव तुम्हारे स्तरित व्यक्तित्व के साथ संभव नहीं हो सकता। अर्थात् आवश्यकता सक्रियता और सचेष्टता की है, मात्र शाब्दिक अनुभूतियों और चिल पौं की नहीं है। प्रयत्नपूर्वक या प्रयत्नशील होकर तुम्हारी प्रेरणा के जो स्रोत जग-जीवन के प्रति आकृष्ट तो होते हैं–पर उसके साथ जुड़ नहीं पाते, तब तक सब कुछ व्यर्थ है। अतः मानवता के प्रति तुम्हारी अन्तश्चेतना में जो ज्योति अर्थात् वैचारिकता है, उसे सक्रिय करो अर्थात् जगत जीवन में सब के साथ जुड़कर प्रयत्नशील बनो। जगत्-जीवन के कड़वे-मीठे यथार्थ से तुम्हें जीवन और प्रेरणा लेने की जरूरत है। इसके लिए अपने व्यक्तित्व को जगा-जीवन के व्यक्तित्व में अन्तर्हित कर देना आवश्यक है। तुम्हें उनसे सब प्रकार की सहायता लेनी चाहिए। उनका प्रेम जगाने और पाने से ही तुम्हारी अर्थात् मानव और मानवता की मुक्ति संभव हो सकेगी। उनसे अर्थात् सामान्य जनों के जीवन से जुड़ कर ही तुम्हारे लक्ष्यों के नेत्र खुलेंगे अर्थात् वास्तविक लक्ष्यों का ज्ञान प्राप्त कर उनकी प्राप्ति भी हो सकेगी। जैसे-जैसे तुम सब सामान्य जनों के जीवन-लक्ष्यों को पाने में सहायक बनते जाओगे, वैसे-वैसे सफलता निकट आती जाएगी। तुम्हारे निजी गुण भी विकसित हो सकेंगे, सफलता दे सकेंगे। इस मूल तथ्य को हमेशा अपने स्मृति पटलों में संजोए रखो क्योंकि अपनी मुक्ति के रास्ते अकेले नहीं मिला करते। अर्थात् सामूहिक जागृति और सामूहिक प्रयत्न ही मुक्ति या स्वन्तत्रता के लक्ष्यों तक व्यक्ति एवं व्यक्तियों को पहुँचाया करते हैं।

भाव यह है कि प्रयत्नशील होकर व्यक्ति को सबको साथ लेना चाहिए। सामूहिक शक्ति ही बड़े-से-बड़े लक्ष्य को पा सकती है। मात्र व्यकित के स्तर पर कुछ भी संभव नहीं हुआ करता। सब की मुक्ति में ही व्यक्ति की मुक्ति है।

विशेष–चाँद उच्च ज्ञान के आलोक का प्रतीक प्रतीत होता है। 'तम विवर' अज्ञानपूर्ण चेतना के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'नीला लिफाफा' सामूहिकता के प्रति प्रेम की रहस्यमयता का रहस्यपूर्ण परिचायक है।

कवि ने व्यक्ति को महत्व न देकर सामूहिकता को महत्व दिया है। इस दृष्टि से उसका यह कथन–'···अपनी मुक्ति के रास्ते अकेले में नहीं मिलते' सूक्तिवत् है। कवि ने 'तुम्हारी मुक्ति उनके प्रेम से होगी' कहकर मानव-मात्र के प्रति प्रेम-भाव को ही मुक्ति का एकमात्र मार्ग बताया है।

रूपक, अनुप्रास अलंकार और भाषायी सपाट बयानी के साथ प्रचलित मुहावरा (बोल-चाल का ढंग) भी दर्शनीय है।

चन्द्र और नीला लिफाफा दृश्य-सवाक् बिम्बों को उभार कर एक रोमांच, सा उत्पन्न करने वाला है।

(६) सुनकर यह अचानक..निज-प्रसारण कर।

शब्दार्थ–अतल=गहराई। रश्मियाँ=किरणें। अनल=आग। तिमिर-गहर=अन्धेरी गुफा,

अन्तर्मन। कगारों=किनारों। सुनेत्रों=सुन्दर नेत्रों वाली। गर्त्त=खड्डा। बिचकता=बचता। मनस्वी=दृढ़ मन वाली। निज प्रसारण=आत्म-विस्तार।

प्रसंग–ये पक्तियाँ कविवर मुक्तिबोध की रचना 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में संकलित लम्बी कविता 'चकमक की चिनगारियाँ' का छठा भाग हैं। इस कविता में कवि ने जीवन के अधूरे और सतहीपन के अहसास से पीड़ित हो कर अपनी अन्तश्चेतना को कुरेदने का प्रयत्न किया है। यह भी स्पष्ट है कि उपरोक्त विषम स्थिति से मुक्ति अनवरत प्रयत्न एवं सामूहिक सक्रियता से ही संभव हो सकती है। अन्तःस्थिति का प्रस्तुत पंक्तियों में प्रत्यांकन करते हुए कवि आशा-आलोकमय स्वरों में कह रहा है :

व्याख्या–उस नीले पत्र का चाँद द्वारा प्रदत्त रहस्यमय सन्देश और उसकी अर्थवत्ता को समझ सुनकर मुझे अपनी अन्तश्चेतना की निराशा-रूपी कालिमा से आवेष्टित भाव-विचार तरंगों की गहराई में, तारों की किरणों के समान चमकती और थिरकती हुई सी अन्तः अनुभूतियाँ होने लगीं। लगने लगा कि जैसे मेरे अपने ही हृदय में निराशा रूपी श्यामतापूर्ण-भाव विचार-तरंगों में कुछ आशा-विश्वास और विचारों की रूपहली किरणें अनवरत प्रदीप्त हो रही हैं। अन्तश्चेतना के निकट और दूरवर्ती सभी कोने उन रश्मियों का प्रसृत कर रहे हैं–अर्थात् परम्परागत और नूतन विचार, निकट-दूरवर्ती सहज मानवीय भाव ही एक नये जीवन-आलोक का कारण बन सकते हैं। अन्तः बाह्य का समजन नयी आशा किरणों का आलोक बिखेर सकता है। परिणामतः मुझे मानव-जीवन की महत् सम्भावनाओं से आपूरित भविष्य की उज्ज्वल रेखाएँ सुनिकट आती हुई आभासित होने लगीं। मुझे लगा जैसे मेरे निराशा के रहस्यपूर्ण अन्तर्मन सभी गड्ढे में प्राचीन और अभिनव गन्ध भरे तुलसी के पौधे लहलहा उठे हैं अर्थात् नवीन प्राचीन विचारों के मंथन से एक नवीन आशा की गन्ध चतुर्दिक परिव्याप्त होने लगी है। उस गन्धियाई तुलसी के पौधे की छाया के अन्तराल में से एक भोला-सा, साँवला-सा, इच्छित या परिकल्पित जीवन का छाया-मुख झाँक उठता है जिसे निहार वह उसे अपनी ही ओर देखते महसूसता है और अनुभव करता है कि जैसे वह उसके अपने ही अन्र्तमन की सुनयना आकृति या चित्र-रेखा है। अर्थात् उसके अपने ही अन्तस्तल की गहराइयों में छिपा मानवीयता का सहज आह्लादक और सुन्दर भाव साकार हो उठा है।

आशा-विश्वास के आह्लाद से अविभूत-सा कवि आगे कहता है–व्याकुलता से तड़प रहे अन्तश्चेतना के भीतरी कोने में या किनारे पर भीतरी मानसिकता के निराशा रूपी कालिमा से आवृत्त द्वारों पर क्रन्द की कलियाँ खिलकर, सितारे-से टिमटिमाकर, उसी प्रकार के व्यक्तित्व उसकी या उसके क्रान्तदर्शी व्यक्तित्व की अब भी प्रतीक्षा कर रहे हैं। अर्थात् निराशा के गह्वरों में आशा-उल्लास का प्रकाश भरने-विचरने लगा है। क्या मैं उस सब को पुकार कर अपने में भर लूँ ? अथवा क्या करूँ, कुछ समझ नहीं पा रहा। क्योंकि मेरा हृदय तो शोषित-प्रपीड़ित जन-जीवन की अनवरत्त समीक्षा-व्याख्या में निरत रहने के कारण काला पड़ गया है–अर्थात् अत्यधिक निराशा से भर उठा है उधर चारों ओर एक चाँदनी महकने लगी है। उसका नीला-पीला प्रकाश प्रकाशित होने लगा है और उस उज्ज्वलता में उसका अन्धकार में डूबा अन्तर एक काले धब्बे जैसा लग रहा है। ऐसी स्थिति के कारण ही मैं खिली कलियों से छिटक रहा हूँ। उल्लास और विकास की प्रतीक अकलियों और चाँदनी के पास जा पाने में हिचकिचाहट होने लगती है। अर्थात् अनवरत दुख-शोषण के अन्धकार से पीड़ित रहने वाले जन-मन नवीन प्रकाश की

ओर अग्रसर होने का साहस भी एकाएक नहीं जुटा पाते।

कवि का मन अपनी ही हीनता-भावना में उलझ रहा होता है कि तभी (कवि आगे कहता है) एक स्वर गूँज कर सहसा सुनाई दे जाता है कि तुम्हारे अज्ञान, निराशा आदि से भरित अन्तर्मन-सभी तम-विवर के तट पर विविध देशों की मनस्वी आत्माएँ और प्रतिभाएँ पुनः अवतार लेकर पधारी हैं। उनके पधारने का कारण है तुम्हारे निजत्व या आत्मत्व का विस्तार-विकास करना। अर्थात् निराशा, अनिर्णय आदि की स्थिति से छुटकारा दिलाने के लिए आज देश-विदेश के अनेक विचारकों के दर्शक हमारे सामने हैं। उनको आधार बना कर हमारी आत्मा का सामूहिक रूप में विस्तार हो सकता है। वे विचार हमारे मन-जीवन के द्वारा आशा-आनन्द की नई चाँदनी बिखेर सकते हैं, नई कलियाँ खिला सकते हैं। समस्त प्रगतियों, सुखों के द्वारा खुल सकते हैं।

भाव यह है अधूरे और सतहीपन से उत्पन्न हीनताबोध निराशा और शोषण-उत्पीड़न से छुड़ाने वाले अनेक दर्शनों-विचारों, दार्शनिकों-विचारकों ने फिर से सामने आकर मानवता के मार्ग को प्रशस्त कर दिया है। उस पर चलने से ही मुक्ति का आनन्द संभव है।

विशेष–विभिन्न देशों–विशेषतः समाजवादी देशों में जन्म विचारकों ने विचारों से प्रेरणा लेकर जन-जीवन की समस्याओं के समाधान की ओर कवि ने स्पष्ट इंगित किया है। "पुनः अवतार धारण कर' से वास्तविक अभिप्राय (१) यह है कि पुराने विचारक ही पुनः प्रगट हुए हैं, पर युगानुकूल नये विचार लेकर और (२) परम्परागत विचारों का संशोधन और युगानुकूल परिवर्द्धन कर, मानवता के उद्धार के लिए सामने आए हैं। कवि-कलाकार को मानवता के उद्धार के लिए उनके यथार्थ के चित्रण करना चाहिए।

कवि का हृदय यहाँ आशावादी आनन्द लोक से कुछ उत्फुल्ल भी प्रतीत होता है। 'पुकारू ? क्या करूं !!' पद अनिश्चय और झिझक की मनःस्थिति का परिचायक है, जिसका नव्य-विचारकों के विचारों का ध्यान आते ही, स्वतः ही अवसान हो जाता है।

श्रव्य और स्पृश्य बिम्बमयता अधिक है। प्रभविष्णुता के लिए कवि ने रूपकातिशयोक्ति, उपमा, अनुप्रास और प्रश्न जैसे अलंकारों का स्पष्टतः आश्रय लिया है। कवि ने अपने परिचित प्रतीकों की ही आवृत्ति यहाँ भी की है।

(७) नभ-स्पर्शी हवाओं में...दुख बहता है।

शब्दार्थ–नभ स्पर्शी=गगनचुम्बी, उताल। पुनरागता=दुबारा आई हुई। स्पन्दित=धड़क। पत्र-मर्मर=पत्तों की ध्वनि। कुट्ठा=कोठरी, अन्तर्मन। स्याह=काले, निराशापूर्ण, रहस्यमय। दल=समूह। लुमुम्बा=मोजम्बीक देश का (अफ्रीका का एक छोटा देश) का पहला हब्शी नेता, जिसे वहाँ का गांधी कहा गया और जिसकी हत्या करवा दी गई थी, जो समाजवादी था।

प्रसंग–ये पद्य-खण्ड कविवर मुक्तिबोध की लम्बी कविता 'चकमक की चिनगारियाँ' का सातवाँ छन्द भाग है। इस कविता में कवि ने अन्तर्मन-मन्थन के द्वारा जीवन के सत ही अधूरेपन से छुटकारा पाने का प्रयत्न किया है। प्रस्तुत पद्य-खण्ड में कवि यह स्पष्ट करना चाहता है कि नये (मार्क्सवादी या समाजवादी) विचारों को अपना कर जिस किसी ने भी मानवता की मुक्ति का प्रयत्न किया, उसी के सामने विपदाओं के पहाड़, विरोधों के आल-बाल और मृत्यु के कुएँ खड़े कर दिए। उसका अन्तर्मन इस प्रकार की विषमताओं की ओर भीतर ही भीतर संकेत करने लगता है। इसी सब का वर्णन करते हुए, यहाँ कविवर मुक्ति बोध कह

रहे हैं :

व्याख्या–जैसे वायु का कोई बगूला अपनी उत्ताल तरंगों से ऊपर आकाश तक उठकर पुनः धरती पर लौट आता है, या ध्वनि की तरंगें ऊँचे तक उठ-गूँज कर फिर नीचे आ जाती हैं, उसी प्रकार अपनी भावना और वैचारिकता में बहुत ऊँचे उड़कर सिविल लाइन्स में वट वृक्ष के पास स्थित अपनी सूनी और अन्धियारी कोठरी में मैं पहुँचता हूँ, तो मेरी सारी उच्च वैचारिकता वट्-वृक्ष के पत्तों की ध्वनि के समान ही बिखर कर, छितरा कर रह जाती है। कवि का तात्पर्य यह है कि विचारों के स्तर पर तो मैं शोषित पीड़ित जनों के जीवन को सुख-चाँदनीमय बनाने के लिए बहुत कुछ सोच-कर जाता हूँ, पर जीवन के यथार्थ धरातल पर आज की अन्ध दौड़ में लगी तथाकथित उच्च सभ्यता का आचरण और व्यवहार मेरी वैचारिकता की सक्रियता को छितरा कर रख देता है। (वस्तुतः यहाँ 'बरगद' परम्पराओं का और 'सिविल लाईन्स' आधुनिक शोषक सभ्यता का प्रतीक और परिचायक है। ऐसा मानकर ही उपरोक्त अर्थवत्ता की प्राप्ति संभव हो सकती है।

इसके बाद आज की सभ्यता की कथनी-करनी में अन्तर स्पष्ट करते हुए कवि फिर कहता है–बड़े आश्चर्य की बात है कि जब मैं यहाँ से अनुपस्थित, तो भी कोई वहाँ कोठरी में अर्थात् वैचारिकता के अन्तराल में कोई बैठा है, उपस्थित है। अन्धकार में अकेली बैठी छाया-मूर्ति टाइप की कुंजियों पर तड़तड़ उँगलियाँ चलाती हुई कोई लेख या दस्तावेज टाइप कर रही है जिससे लाल-नीली चिन्गारियों के समूह जैसे निकल रहे हैं। जिनमें लुमुम्बा अलजीर्यस, लाओस और क्यूबा अपने ही हृदय-रक्त-सर में डूबे जा रहे हैं। और जैसे सूर्य डूब जाता है, इसी प्रकार यथार्थ जीवन का नया समाजवादी ज्ञान भी जैसे डूबा जा रहा है। यह सब देखकर मेरे दिमाग की रगें फड़कने लगती हैं। परिणामतः मन की सारी भभक-अर्थात् क्रान्तिकारी वैचारिकता की भावना सदुःख बह जाती है। अर्थात् जिसने भी नई वैचारिकता के प्रभाव से जन-समस्याओं को समाजवादी या यथार्थ ढंग से सुलझाने का प्रयत्न किया उसकी विनाश और मृत्यु के परवाने तथाकथित सभ्य जगत तैयार कर देता है। यह स्थिति बड़ी ही दुःखद एवं उत्तेजक है।

भाव यह है कि विचार के स्तर पर तो मानवता की सुख-समृद्धि के लिए बड़ी-बड़ी बातें कही बनाई जाती हैं। पर व्यवहार के स्तर पर वैसा प्रयत्न करने वालों को जीने तक नहीं दिया जाता–जैसे लुमुम्बा को। यह स्थिति वस्तुतः उत्तेजक और असह्य है। कला-धर्मियों को इस बारे में सोचना और इससे छुटकारा पाने का प्रयत्न करना चाहिए।

विशेष–विवशता और निराला का भाव प्रमुख है। कवि सोदाहरण स्पष्ट करता है कि स्वतंत्र और यथार्थवादी चिन्तकों-सर्जकों को तथाकथित सभ्य और परम्परावादी जगत जीने नहीं देता। इस स्थिति का अन्त आवश्यक है।

लुमुम्बा, अल्जीरिया, लाओस और क्यूबा को साम्राज्यवादी, पूंजीवादी और इतने पर भी अपने को मानवता का शुभचिन्तक कहने वाले अमेरिका की कूटनीतियों का शिकार होना पड़ा। कवि यही स्पष्ट करना चाहता है कि ऐसी स्थिति में चाँदनी और कलियों की कल्पनाएँ भला कैसे शिकार हो सकती हैं ?

सिविल लाइन्स आधुनिक तथाकथित सम्भ्रान्तता, बरगद परम्परा का, स्यात कट्टर गहरी आन्तरिकता का प्रतीक है। 'अंधेरे में अकेली छाया-मूर्ति' मानवता-द्रोही साम्राज्वादी शक्तियों की सुगप्तता और निहित स्वार्थपरता का परिचायक है। टाइप करना, गुप्त योजनाएं बनाना,

घनी-नीली अरुण चिनगारियाँ विषयक नीति और मौत के संदेश का परिचायक प्रतीक हैं। इस प्रकार सारे पद्य की योजना दृश्य-श्रव्य प्रतीकों को समझने के अनन्तर ही अर्थवत्ता दे पाती है।

अभिव्यक्ति को कलात्मक बनाने के लिए कवि ने उपमा, अनुप्रास, पुनरुक्ति प्रकाश आदि अलंकारों का प्रयोग किया है।

अन्तिम चार छः पंक्तियों में विवरणात्मकता का सहारा लिया गया है और उसमें ऐतिहासिकता भी सन्दर्भित है।

(८) इतने में, समुन्दर में कहीं..तड़पा ज्ञान।

शब्दार्थ–आत्म-संवादी=अपने-आप से बात करने वाली। दमकते=ज्वलन्त। कुहरिल=धुंधले। गत=बीते। अपरिभाषित=परिभाषा और व्यवस्था रहित। ऊर्ध्व आसन=उच्च वर्ग, राजतंत्र, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद। निम्न कक्षा=निम्न वर्ग। पीड़ित=शोषित वर्ग।

प्रसंग–प्रस्तुत पद्य-खण्ड कविवर मुक्तिबोध के काव्य-संग्रह 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में संकलित लम्बी कविता 'चकमक की चिनगारियाँ' का महत्वपूर्ण आठवाँ छन्द भाग है। इसे हम समूची कविता का शीर्षक के अनुरूप केन्द्रीयं भाग या प्राणतत्व से संयत भाग भी कह सकते हैं। शीर्षक की सार्थकता भी इसी भाग से स्पष्ट और प्रमाणित होती है। अपनी अन्तश्चेतना में असमंजस या दुविधा की स्थिति में झांकने पर कवि का मन विचित्र अनुभूतियों से भरकर सिहर हो उठता है, उद्वेलित होने लगता है और उस सब से उभरता है प्रश्न–समूची मानवता और विशेषतः रचना धर्मियों के प्रति कि क्या कभी उन्होंने बुद्धि-मन विचार के चकमक को रगड़ा अर्थात् मथित किया है? इन सब स्थितियों का शब्दावरण में आकलन या प्रत्यांकन करते हुए कवि कहता है :

व्याख्या–अपनी रहस्यमय अन्तश्चेतना-रूपी कमरे की गहराइयों में छाया-मूर्ति द्वारा गुप्त दस्तावेज के रूप में कूटनीतिक अभिसन्धि का दस्तावेज टाइप करने की अनुभूति से व्यथित होकर जब मैंने देखा, तभी मुझे इस प्रकार की विचित्र-सी प्रतीति होने लगी कि मानो सागर-तल की अतल गहराइयों में डूबी पुण्य-सलिला गंगा सहसा उभरती हुई ऊपर या बाहर निकली आ रही है। अर्थात् दुविधा और दुश्चिन्ताओं से मण्डित मन में से गंगाजल-सा उज्ज्वल, हित-साधक विचार उभरने लगा। भयावह और विपत्ति रूपी काले बादलों में वह विचार-गंगा लगता है जैसे काले नाग के समान अपने धारा-फण फैलाकार चारों ओर फुँफकार रही है। उसे देखकर मानो मेरे तंग और अन्धकार से घिरे कमरे रूपी अन्तर्मन से टाइप किये जाने की तड़-तड़ ध्वनि और भी अधिक तीव्रता से मुखरित होने लगती है। उस ध्वनि का शोर तीव्र से तीव्रतर होता जाता है। इतना ही नहीं, मुझे अपने कमरेरूपी अन्तश्चेतना के बाहर भी बादलों के छींटों या बौछारों की मार के रूप में लगने लगता है कि जैसे आकाश भी हाथ बढ़ाकर कुछ गुप-चुप टाइप करने लगा है। उसकी भयावह सी तड़ तड़ातड़ ध्वनि मेरी अन्तः धमनियों में गड़कर जैसे चुभने लगती है। लगता है, जैसे बादलों की अनवरत गर्जना, बिजली की कड़कड़ाती चमक तथा अपने से ही बातें करने वाली, गहरी अंधेरी हवाएँ, वर्षा की चंचल अनवरत झाड़ी में मुझसे कुछ ज्वलन्त ढंग के प्रश्न पर प्रश्न करने पूछने लगी हैं।

उन प्रश्नों की चर्चा करते हुए कवि आगे फिर कहता है कि वह सारा वातावरण मुझसे पूछ रहा है–हे मित्र! अतीत के धूमिल, अपरिभाषित–अर्थात् अव्यवस्थित और वास्तविक अर्थों

से विरहित कुहरे से ढकी–अर्थात् अजानी परम्पराएँ, मानवों के पारस्परिक सम्बन्धों की धाराएँ जो अज्ञात-विगत के सागर में डूबकर विलुप्त हो गई हैं, अर्थात् जिनका आज अस्तित्व और उपयोग नहीं रह गया है, आज मैं काले बादलों के रूप में वही सब लेकर सामने उपस्थित हुई हूँ। कवि का तात्पर्य यह है कि प्राचीन काल में मानवों के आपसी शासक-शासित आदि के जो सम्बन्ध थे, आज वे विगत की कहानी बनकर रह गए हैं। मानव-कल्याण की पावन गंगा शोषक-व्यवस्था के सागर में कहीं डूब कर रह गई है। अतः कवि की अन्तश्चेतना उसी जन-कल्याण की भावना को लेकर पुनः उपस्थित हुई है। अतः अब तुम्हें–अर्थात् युग और उसकी जागरूक मानसिकता को यह निश्चय-निर्णय करना है कि उसे किस पक्ष का साथ देना है–अर्थात् शोषक का साथ देना है या कि शोषित का ? तुम्हारा मन चमक-दमक से भरे, उच्च सिंहासन पर विराजमान शोषक, साम्राज्यवादी पूंजीवादी पक्ष का समर्थक है; या उन लुटे-पिटे अर्थात् शोषित-पीड़ित, दुःखों के अँधेरों में भटकने वाले निम्न वर्ग का ? आज की जागरूक मानवता को इस बात का निर्णय करना है कि वह अन्तर्मन से किस वर्ग की समर्थक है। इस निर्णय के सिवाय मानव-मुक्ति का अन्य कोई उपाय नहीं।

इसके बाद आज की जागरूक मानवता की अन्तश्चेतना को टटोलता और कुरेदता हुआ कवि फिर प्रश्न करता है–स्वाभाविक रूप से क्या तुम्हारी चेतना के समक्ष कभी ऐसी स्थिति भी आई है कि मानव-मन में जो पर दुःख कातरता की सहज-स्वाभाविक प्रवृत्ति है, जो स्वभाव से ही न्याय की पक्षधर हुआ करती है, उसने क्या कभी तुम्हारे मन को शोषित-पीड़ित मानवता के पक्ष का समर्थन करने के लिए उद्वेलित किया है ? सहज मानवीय संवेदनाओं और न्याय-संगत धारणाओं ने तुम्हें कभी मानव-सागर अर्थात् दुखपीड़ित असंख्य जन-समुदाय तक जाने की अन्तः-प्रेरणा प्रदान की है ? क्या कभी पवित्र मन और आत्मा रूपी चकमक के टुकड़ों को परस्पर टकरा कर तुमने उसमें से मानवता की रक्षा की आग या चिनगारियाँ उत्पन्न की हैं, ताकि जीवन का नव्य युगीन बोध और तदनुकुल मानव-ऊष्मा सुलग कर के सुख-चाँदनी का विकास कर सके। क्या तुमने कभी मन-आत्मा के चकमक को रगड़ कर जीवन-निर्माण की वह आग उत्पन्न की है कि जिसकी प्रत्येक चिनगारी सुखद-जीवन के सपनों को साकार कर सके। क्या कभी तुम्हारे समूचे ज्ञान और उसकी उपलब्धियों में यह तड़प पैदा हुई है कि ऐसा मार्ग अपनाएँ, कि जो सभी के जीवन को सुखद समुज्ज्वल बना दे।

कवि का भाव यह है कि मन-आत्मा के संयोग से जब तक यह भावना और क्रियाशीलता जन्म नहीं लेती कि हमने सब प्रकार के अन्यायों को मिटाना है, शोषण दूर करना है, समता और सामरस्य प्रतिष्ठापित करना है तब तक हमारे सारे ज्ञान-विज्ञान और प्रगतियाँ व्यर्थ हैं।

विशेष–'समुन्दर' परम्परा का और 'पुण्य गंगा' मानवता की कल्याणकारिणी भावना का प्रतीक हैं। प्रकृति के अनेक रूपों का चित्रण वातावरण और स्थिति की सघनता को दर्शाने के लिए किया गया है। 'कुहरिल गत युग' अतीत की रहस्यमयता का प्रतीक है। 'सुनहले ऊर्ध्व आसन' आधुनिक चमक-दमक वाली साम्राज्यवादी-पूंजीवादी व्यवस्था का प्रतीक है। 'निम्न कक्षा' शोषित-पीड़ित निम्न वर्गों का परिचायक है। 'चकमक' उस छिपी आग का प्रतीक है, जो मानव के भीतर अन्याय उत्पीड़न के विरोध के विचार-भाव रूप में समाई रहती है। इस प्रकार पूरा वर्णन प्रतीकात्मकता के कारण विशेष अर्थवत्ता और प्रभाव से संयत हो गया है।

'झमझकर श्वेत चकमक के घने टुकड़े..........' आदि पंक्तियाँ कविता के अर्थगर्भित

शीर्षक को स्पष्ट करने वाली हैं।

मानवीकरण, प्रश्न, अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारों ने भाव-अर्थ सौष्ठव में निश्चय ही वृद्धि की है।

(६) अचानक आसमानी..भीतें लटकती हैं।

शब्दार्थ–निलाई=नीलापन, जो गहराई और शून्य का प्रतीक है। उफनती=उबाल खाती। रोशनी-घर=प्रकाश-स्तम्भ, जो सागर में जलयानों को राह दिखाता है। उग्र=तीखी। घनी भीतें=गहरी दीवारें।

प्रसंग–ये पद्य-खण्ड कविवर मुक्तिबोध की लम्बी कविता 'चकमक की चिनगारियाँ' का नवम् भाग है। इस कविता में कवि ने आज के सतही एवं अधूरे जीवन की ऊब और व्यर्थ का व्यंग्यात्मक एवं प्रतीकात्मक वर्णन कर, उससे मुक्ति के लिए सामूहिक प्रयत्नों पर बल दिया है। विचार-मन्थन के अनवरत क्षणों में कवि की मनःस्थिति एक दुविधात्मक शून्यता से, असहायता एवं मानव-विरोधी शक्तियों के सामने विवशता के भाव से भर उठती है। अपनी उसी विवश-दुविधापूर्ण मनःस्थिति का वर्णन करते हुए कवि प्रस्तुत नवम् भाग के आरम्भिक पद्य-खण्ड में कह रहा है :

व्याख्या–अचानक मेरी चेतना अनुभव करती है कि दूर आकाश की शून्यता में उपरोक्त सन्देश देने वाला चतुर सन्देश-वाहक चाँद जैसे मेरी विवशता पर मुस्कराने लगा है। उसकी मुस्कान को देख घबराहट का अनुभव करते हुए मेरे स्याह चेहरे पर जैसे सागर जैसी नीलिमा चमचमा उठती है। अर्थात् मेरा चेहरा गहरा में डूबा शून्य का प्रतिरूप-सा बन जाता है। ऐसा आभास होता है कि जैसे चारों ओर मात्र गहरा-नीला सागर ही सागर है–अर्थात् दुविधात्मक गहराइयाँ ही शेष रह गई हैं। गरजते विचारों, विषमताओं के उस वीराने पर उफनते हुए सागर की लहरों में लगता है जैसे किसी सूने टॉवर की भीतरी अंधेरी गोलाइयों या घेरों में बने जीने पर चढ़ रहा हूँ। अर्थात् प्रश्नों और विचारों-विषमताओं के चक्करदार घेरों में उलझ कर उनका पार पाने की चेष्टा में रत हूँ। विचारों का अनवरत उतार-चढ़ाव ही मेरे लिए जैसे शेष रह गया है। चढ़ने-उतरने के इस क्रम में पगों की जो धप्-धप् करती हुई चाप सुन पड़ रही है, लगता है, वह अपनी ही आवाज आज मुझ से नाराज है। अर्थात् आज मेरे पैर भी जैसे अपनी सहज मानवीय गति को खो बैठे हैं। वह भी किसी निश्चित अर्थ और लक्ष्य तक पहुँचने में मेरा साथ नहीं दे रहे।

मानव की आत्मा अपने पुरानेपन और रूढ़िबद्धता को आज भी त्याग नहीं पाई है, निजत्व के माध्यम से इस तथ्य का रूपायन करते हुए कवि आगे फिर कहता है–तूफानी और गरज रहे समुद्र के बीच से ऊपर उठकर जिस प्राचीन प्रकाश स्तम्भ ने कभी फिरंगियों, पुर्तगीचों, अंग्रेजों आदि के समुद्री लुटेरों को राह दिखाई थी, आज भी; अब अंधेरी पड़ गई मीनार या बुझे प्रकाश स्तम्भ के आस-पास ही मेरी आत्मा भी चक्कर लगा रही है। कवि का तात्पर्य यह है कि आज के तथाकथित समुन्नत, वैज्ञानिक सभ्यता संस्कृति के विकास वाले युग में भी हमारी चेतना मानवता के साथ लुटेरों जैसा व्यवहार कर रही है। सभ्यता संस्कृति और मानवता के जलयानों का प्रकाश पथ आलोकित करने वाले उच्च विचार आज भी शोषित पीड़ित मानवता का पथ प्रदर्शन कर पाने में असमर्थ होकर अपने प्राचीन शीर्षक घेरों में ही डोल रहे हैं।

उस मीनार (प्रकाश-स्तम्भ) के अनेक मंजिलों वाले तंग घेरों में जगह-जगह पर गहरे धब्बे

और पुराना मैल जम रहा है। अर्थात् पुरानी बातें, परम्पराएं और रीति-नीतियाँ आज व्यर्थ तथा अनुपयोगी हो गई हैं। वहाँ उन घरों में विगत के प्रतीक अर्थात् मर-खप गए, सड़ गल गई विचारों और मान्यताओं के प्रतीक प्रेत जैसे लेटे हुए हैं और उनके हाथों में पीले पड़ गए कागज दबे हैं–अर्थात् दुर्बल और व्यर्थ हुई मान्यताओं के दस्तावेज हैं। उनके हाथों में भयानक–अर्थात् दुरभिसन्धियों के परिचायक पत्र हैं। आस-पास रायफलों और गोलियों, कारतूसों के जंग खाए ढेर जमे हैं और मानवता के संहारक युद्धों के नक्शे बिखरे पड़े हैं। वहाँ निवास कर रहे समुद्री पंछियों की भयानक लगने वाली जंगली अर्थात् बर्बर आँखें जैसे तीव्र दृष्टियों से आस-पास ताकती झाँकती रहा करती हैं। वहाँ से मानवता के शोषण की भयानक सड़ान्ध उठती अनुभव होती है। समुद्री पक्षियों के सड़े-गले कटे पंख भी उसकी दीवारों में इधर-उधर लटक छितराए दिखाई देते हैं। अर्थात् समूचा वातावरण वीभत्स और विद्रूप है।

भाव यह है कि पुराने विचार और मान्यताएं, जिन्हें प्रकाशदायक और सुखद माना जाता था, वह सब अब अतीत की सड़ान्ध बन चुका है। उसकी बात में तथाकथित सभ्यों ने भारत समेत सभी देशों की सामान्य मानवता को लूटा-खसोटा ही। आज के विकासशील वैज्ञानिक युग में भी व्यवहार के स्तर पर मानवता उसकी अमानवता को ही पाल-पोस रही है।

विशेष–मीनार पुरातन सभ्यता संस्कृति और विश्वासों का प्रतीक प्रतीत होता है। उसकी अंधियारी सीढ़ियाँ और गलियारे विविध पथों-मान्यताओं का परिचय देते हैं। भूत प्राचीन विगत का प्रतीक है। गोलियाँ-कारतूस आदि मानव विनाशक-शोषक साधनों के परिचायक हैं। दबे कागज, नक्शे आदि अनेक प्रकार की युद्धात्मक दुरभिसंन्धियों का परिचय देते हैं।

इस प्रकार समूचा दृश्य-बिम्ब विगत की भयावहता का प्रतीक और परिचायक है। श्रव्य-बिम्ब भी बड़ा ही रोमांचक है कि जो 'रायफल, गोलियों, कारतूसी ढेर' आदि के पठन से ध्वनित हो लगता है। 'समुद्री पक्षी' प्राचीन समुद्री लुटेरों का प्रतीक है कि जिनकी आँख आज भी मानवता के समस्त सुखों को छीन लेने पर लगी है।

'संवाददाता चाँद ऐसे मुस्कराता है' पद में मानवीकरण अलंकार है। आनुप्रासिक भाषा के प्रयोग अत्यन्त सजीव एवं प्रवाहमय हैं।

कि मैं सब पत्र-पुस्तक..अग्नि क्षोभी धूम।

शब्दार्थ–रक्त-इतिहासी=रक्त में डूबा इतिहास। तंत्र=तरीके, ढंग। प्रशोषण=अत्यधिक शोषण। अद्यतन=नवीनतम, आज तक या आज ही विनिर्सित आगमिष्यत्=आने वाला युग, भविष्य। कूलों=किनारों। मुक्ति कामी=स्वतन्त्रता के इच्छुक। लोक-सेनाएं=संगठित जन-समूह। शत्रुमूलों पर=शत्रु की जड़ पर। अग्नि-क्षोभी=प्रज्वलित आग। धूम=धुआँ।

प्रसंग–प्रस्तुत पंक्तियाँ 'चकमक की चिनगारियाँ' नामक लम्बी कविता के नवम् भाग में से ली गई हैं अपने अन्तर्मन्थन के साथ घटित मानव इतिहास के घटनाक्रम का सामंजस्य स्थापित कर विचार-मन्थन के बाद कवि-परम्परागत सभ्यता-संस्कृति और ज्ञान-विज्ञान को शोषण करने वाला ही मानता है। अतः उसकी चेतना मार्क्सवादी या समाजवादी ढंग से क्रान्ति लाकर मानवता के नव-निर्माण के सपने देखने लगती है। वर्गहीन समाज की स्थापना करने के लिए कवि संगठित जन-शक्तियों का आह्वान करने लगता है। इसी सब अंतःस्थिति का वर्णन करते हुए कविवर मुक्तिबोध प्रस्तुत पंक्तियों में कह रहे हैं :

व्याख्या–प्राचीनता के प्रतीक उस मीनार में पड़े भूतों और नर-कंकालों के हाथों से प्राप्त

होने वाले पत्रों, पुस्तकों, दुरभिसन्धियों के दस्तावेजों को अच्छी प्रकार पढ़ने के बाद मेरी चेतना भयावह रक्त-रंजित इतिहास में अपने को जीते हुए अनुभव करने लगती है। अर्थात् 'पुराना इतिहास मानवता के रक्त से रंजित है,' यह अहसास अन्तर्मन में भर उठता है। लगता है मैं स्वयं प्राचीन रक्त-रंजित क्रूरताओं का शिकार होने लगा हूँ। वे सारी क्रूरताएँ मेरी चेतना भोगने लगती हैं कि जिनका शिकार अपने को सभ्य-उन्नत कहने वाले सागरीय लुटेरों ने मानवता पर की थी। मेरी अन्तश्चेतना प्राचीनता के रक्त-रंजित पृष्ठों में खोई ही होती है कि सहसा अपना उपहास-सा उड़ाती विलक्षण सीढ़ियों, दुरभिसन्धियों (षड्यंत्रों) से भरे रेडियो के गुप्त सन्देशों की चोर-आवाजें सुनने लगती है। साथ ही अन्श्चेतना को लुटेरे, युद्ध और मृत्यु के सौदागरों के गुप्तचरों की तहलका मचा देने वाली मुलाकातों, संधियों विचारों का अनुभव सा भी होने लगता है। अर्थात् एक दूसरे के विरुद्ध विनाश के लिए गुप्त रूप से रचे जा रहे षड्यन्त्रों का आभास मिलने लगता है। साथ ही प्रति-षड्यन्त्रों, उनके तोड़क उपायों और गहरे तहखानों में लगे यंत्र-तंत्रों का भी आभास होने लगता है कि जिनमें मानवता का सर्वनाश कर देने वाले भयावह एटमबम रखे हुए हैं। कवि का तात्पर्य यह है कि प्राचीन सभ्यता-संस्कृति का इतिहास यदि रक्त-रंजित है तो आज की तथाकथित उन्नत वैज्ञानिक सभ्यता संस्कृति भी नये ढंग से उसी प्रकार के विनाश के साधन जुटा रही है।

पहले और अब के मानवता विरोधियों, शोषकों, उत्पीड़कों और मौत के व्यापारियों को प्रकारान्तर से एक जैसा ही बताकर, कवि उनमें और सामान्य, शान्ति प्रेम जन गण में तुलना करते हुए आगे कहता है—हम यानि सामान्य और शान्ति प्रेम शोषित पीड़ित जन किस छोर पर खड़े हैं और तुम यानि शोषक पीड़क किस छोर पर खड़े हो ? अन्तर एकदम स्पष्ट है। मानवता के सहज औदात्य से सुन्दर देशों में रहने वाले लोगों का, आम जन का तथाकथित सभ्य सुसंस्कृति देशों द्वारा जो अनवरत शोषण चल रहा है उन गरीब जनता वाले देशों के मल्लाह (नाविक) अर्थात् जन नेता यहाँ इस वीरान पड़े मीनार में आया करते हैं अर्थात् मेरी अन्तश्चेतना उनके बारे में अपनी भीतरी गहराइयों में सोचा विचारा करती है। उन्हीं से अर्थात् उनकी दशा देखकर मुझे जीवन की वास्तविकता का पता चलता है। वह अपनी मूकता असमर्थता में भी मुझे चुपचाप घटित की सूचनाएँ देकर वास्तविकता का ज्ञान करा जाते हैं। उन्हीं से मुझे आज बन रहे भयावह शस्त्रास्त्रों की स्थिति का बोध प्राप्त हो सकता है। परिणामतः जीवन का, नये पुराने का तुलनात्मक अध्ययन करने से मेरी बौद्धिक चेतना को पर्याप्त विकास और जानकारी प्राप्त हो सकी है। अर्थात् मैं शोषित पीड़ित जनता की स्थिति जान, उसकी आशा-आकांक्षा को समझ सका हूँ। सदियों से व्याकुल-पीड़ित अनेक भाषाओं और देशों में अनेक ग्रन्थ, पुस्तकें, पत्र, अखबार मेरे सामने हैं, जो मुझे युग या इतिहास के सन्दर्भों में मानवता की वास्तविक स्थिति का आमजन के शोषण और कष्टों की सही जानकारी देते हैं। मेरी संवेदना उस सब के अध्ययन विश्लेषण से सजग होकर लोक-जीवन के विकास और भविष्य के सही नक्शे बनाने लगी है। अर्थात् आज की जनचेतना युग युगों के शोषण का अंत करने के लिए सक्रिय-संवेदना से अविभूत होने लगी है। अतः सम्मिलित प्रयासों से एक शोषणहीन भविष्य की परिकल्पना अब साकार होने लगी है।

अपने समसामयिक युग में चलने वाले जन-मुक्ति के आन्दोलनों की ओर इंगित करते हुए कवि आगे फिर कहता है अनेक भाषाओं और देशों के साहित्य का, समय की नब्ज का

अध्ययन करने से मेरी अन्तश्चेतना जान चुकी है कि आज अनेक सागर तटों, वनों, प्रान्तरों में युग-युगों के शोषण से मुक्ति पाने के विक्षुब्ध जन-सागर, संगठित लोक दल अवशोषक विपक्ष की जड़ों पर आघात करने लगा है अर्थात् जागृत जनता अब शोषकों-पीड़ितों के विरुद्ध संघर्ष के मोर्चों पर डट गई है। उस जन सेना की क्रान्ति की प्रज्वलित ज्वाला का धुआँ ही मेरे स्याह बालों में उलझ कर चेहरे पर लहरा रहा है। अर्थात् मेरी चेतना भी अब उसी क्रान्ति का पोषण समर्थन करने की दशा में अपनी कला के माध्यम से अग्रसर होकर अग्नि धर्म का पालन करने लगी है।

भाव यह है कि युग-युगों की शोषित-पीड़ित जनता ने आज अपना सामूहिक महत्व, अपने अधिकार और दायित्व पहचान लिए हैं। अतः संसार के जिस-जिस देश में भी शोषण और अन्याय है, कहीं उस सबको समाप्त करने के लिए क्रान्ति की आग सुलगाई जाने लगी है।

विशेष–कवि ने मार्क्सवाद के द्वन्द्वात्मक भौतिक सिद्धान्त के अनुरूप ही शोषक सत्ताओं का इतिहास और आज के सन्दर्भ में चित्रण किया है। उसके अनिवार्य परिणाम वर्ग-संघर्ष और जन-क्रान्ति की ओर भी इंगित किया है।

कवि ने आशावादी स्वरों में जन-आन्दोलन और लोक-सेनाओं के संघर्ष के परिणामस्वरूप बनने वाले सुखद भविष्य की परिकल्पना भी प्रस्तुत की है। बीच में 'कहाँ हो तुम, कहाँ हैं हम' जैसे पदों में कवि का दृष्टिकोण तुलनात्मक भी हो गया है।

एटमी धमाकों से होने वाले विनाश से भी कवि ने जन जीवन को आह्लाद किया है। कुल मिलाकर नवीन प्राचीन दृश्य-श्रव्य बिम्बों के द्वारा कवि ने अतीत की निराशा और भविष्य के अपेक्षित उल्लास को सजीव रेखांकित किया है।

मुझे मालूम, कैसी..से उमड़ती हैं।

शब्दार्थ–वंचना=ठगी, धोखा। साधक=सिद्ध करने वाला। अनदिखा=अदृश्य। वक्ष=सीने। चट्टों=चट्टानों। भव्य=सुन्दर, आकर्षक, महान। ध्वस्त=विनष्ट, खण्डहर प्राय। फेनायित=झाग भरे। बोध=ज्ञान।

प्रसंग–ये पंक्तियाँ कविवर मुक्तिबोध की लम्बी कविता 'चकमक की चिनगारियाँ' के नवम् भाग में से ली गई हैं। इस सम्भावना से कि मानवता शोषण और अन्याय के विरुद्ध सामूहिक स्तर पर जाग उठी है, कवि का मन भविष्य के प्रति आस्थावान एवं आशावान होता जाता है। अतः इन पंक्तियों में कवि कामना कर रहा है कि हमारे देश भारत में जन-शक्तियाँ संगठित एवं जागृत हों। ताकि यहाँ जो शोषण, उत्पीड़न, अन्याय-अन्याचार विद्यमान है, उस सबका भी अन्त हो सके। विश्व-मानवता की मुक्ति की कामना से भरा, उसी के सन्दर्भ में कवि कह रहा है :

व्याख्या–मेरा अन्तर्मन यह अच्छी प्रकार से जानता-समझता है कि घटनाओं की विविधता और अनेकता वाले आज के युग में किस सन्दर्भ में किस विचार एवं भाव का वास्तविक महत्व-मूल्य क्या है। मैं जानता हूँ कि कब उमड़े भावों-विचारों को प्रवंचना या ठगी का साधन बनाकर स्वार्थ सिद्ध किये जाते हैं और कब उनका प्रस्तुतीकरण सत्य ज्ञान के रूप में होता या हो सकता अथवा किया जाता है। अर्थात् कलाकार होने के नाते मैं जीवन के सत्य एवं औचित्य को सभी रूपों में ठीक प्रकार से समझता हूँ। समझ के बाद किसी विचार को मात्र

स्वार्थ-सिद्धि का साधन नहीं बनने दिया जा सकता। यद्यपि मैं आज हूँ तो यहाँ यानि भारत में; पर लगता है, जैसे मेरा ही जागरूक स्वर हवाओं के माध्यम से उड़कर समूचे विश्व में छा रहा है अर्थात् शोषण के विरुद्ध आज समाज विश्व-जनमत प्रखरता से बन रहा है। फिर भी, आज मेरे सामने सर्वाधिक ज्वलन्त प्रश्न अपने देश भारत का है, कि यहाँ मानवता को शोषण आदि से मुक्ति दिलाने के लिए क्या कौन-सा उपाय कब अपनाया जाएगा ? अर्थात् यह देश अपनी वास्तविक स्वतन्त्रता और सभी प्रकार के शोषणों से मुक्ति के लिए कब और किस प्रकार से अनिवार्य संघर्ष की राह पर अग्रसर हो सकेगा ? भारत जो अनेक पुरानी मान्यताओं में बुरी तरह से जकड़ रहा है। मान्यताओं के उस अम्बर में से क्रान्ति की आग कैसे भड़केगी। हमारा हृदय जो परम्पराओं, अंध-धारणाओं की विकराल चट्टानों के नीचे दबा पड़ा है, किस प्रकार की क्रान्ति की आग भभक करके उन चट्टानों को हमारे हृदय से हटा सकेगी अर्थात् हमारे देश में वैचारिक क्रान्ति कब होगी। संघर्ष, परिवर्तन की यह क्रान्तिकारिणी प्रक्रिया जब चालू होगी, तो मानवता को देने के लिए इस महान प्राचीन देश के हृदय में कौन-सा भव्य और महत मानवीय गुण उभर कर सामने आएगा।

सागर की लहरों द्वारा मीनार की चट्टानों को टकराने-हिलाने की चेष्टा के रूप में विशाल जन-सागर के क्रान्तिकारी प्रयत्नों का वर्णन करते हुए कवि आगे कहता है–पुराने पड़ गए रोशनी के मीनार की तह में जो भव्य चट्टानें हैं; गरजते सागर की लहरें उनका स्पर्श कर जैसे उन्हें चूमती रहा करती हैं। अर्थात् विशाल जन मानस परम्परागत अच्छी बातों का आदर हमेशा करता रहता है। वे तह वाली चट्टानें भी सागर की लहरों में कुछ इस प्रकार डूब जाती हैं कि सागर का यह बलात् व्यवहार भी जैसे उन्हें आनन्दित करता रहता है। समुद्रों का यह भयानक प्रतीत होने पर भी भव्य आन्दोलन मेरे अन्तर्मन में सदा-सर्वदा गुंजायमान रहा करता है। अर्थात् क्रान्ति और संघर्ष का मार्ग कुछ ध्वंसक होते हुए भी नव-निर्माण की भूमिका होने के कारण भव्य होता है, अतः मेरा मन हमेशा उसके सपने देखते रहा करता है। गरजते समुद्र की लहरों में चमकने वाले नीले काँच टूटते रहते हैं, परिणामतः चाँद के अनगिनत बिम्ब उनमें छितरा कर रह जाया करते हैं। अर्थात् जैसे सागर की तह से उठने वाली लहरें चाँद के बिम्बों को छितरा देती हैं, उसी प्रकार व्यापक जन-मानस से उठने वाली क्रान्ति की लहर ऊँचे-शोषक लोगों की धारणाओं को नष्ट कर देती है। फेन या झाग से बलयति सागर मुझे जन-ऐक्य का बोध कराता रहा है, जिसकी भयावह ध्वनियाँ सागर-तल में छाये अन्धकार में से उमड़ कर मुखरत हुआ करती हैं। अर्थात् विशाल जन सागर के अन्तर्मन से क्रान्ति का स्वर मुखरित होकर समूचे वातावरण को आक्रान्त कर लिया करता है।

भाव यह है कि जैसे सागर की विशालता को आन्दोलित और ध्वनित कर देने वाली लहरें और गर्जना उसके भीतर अन्धकार अर्थात् गहराई की देन हुआ करती हैं, उसी प्रकार क्रान्ति की भावना भी उत्पीड़ित और निराश जन-मानस की गहराई से ही जन्म लेती है।

विशेष–कवि ने क्रान्ति के नाम पर जन-प्रवंचना करने वालों से हमेशा सावधान रहने की प्रेरणा दी है।

क्रान्ति के स्वर को कवि ने देश-काल की सीमा से ऊपर समूची मानवता का सामूहिक स्वर बताया है। अपने देश में क्रान्ति लाने के लिए कवि-हृदय विशेष चिन्तित दिखाई देता है। वह चाहता है कि यह महान प्राचीन देश क्रान्ति की नई गुणवत्ता प्रतिष्ठापित करके एक

बार फिर विश्व का मार्ग-दर्शन करे।

विचाराभिव्यक्ति के लिए कवि ने मुख्यतः श्रव्य और दृश्य बिम्बों की रूपकात्मक योजना की है। स्याह लहरें निराश जन-क्रान्ति, चन्द्रमाओं के छितराते बिम्ब उच्च शोषक वर्गों की होने वाली स्थिति का परिचायक प्रतीक है। फेन-संगठित जन, घोर आवाज़ें क्रान्ति गर्जना की प्रतीक हैं।

पुराने रोशनी घर के..स्वप्न मण्डराते।

शब्दार्थ–आत्म-संयोगी=जीवन के यथार्थ से जुड़ा। असंवृत्त=असंलग्न, असंपृक्त। पसरी=फैली हुई। बेथाह सपनों की=अनन्त कल्पनाओं की। चक्के=चक्र, पहिये। मूर्त=साकार। कंटीली पाँत=काँटेदार पँक्तियाँ, विषम अवरोध। शुष्क=नीरस, शोषित।

प्रसंग–अपनी अन्तःस्थितियों में अपने देश भारत की विषम और दयनीय स्थितियों के दर्शन कर, वहाँ भी जन-क्रान्ति के द्वारा होने वाली सुखसमृद्धि क़े अनेकों सपने संजोते हुए, समूचे वर्णन-क्रम में यथार्थ का चित्रण करते हुए 'चकमक की चिनगारियाँ' नामक कविता के नवम् भाग के अन्त में, कवि मुक्तिबोध कह रहे हैं :

व्याख्या–अपनी अन्तश्चेतना में, तभी मुझे एक नई अनुभूति होने लगती है। लगता है, उस ध्वस्त प्रायः पुरातन आलोक स्तम्भ के मीनार की अंधेरी खिड़की खुल जाती है और उसमें से प्रस्फुटित होकर चमकती नीली किरणें बाहर निकलकर फैलने लगी हैं। कवि यह मान लेता है कि निराशा की प्रतीक-परिचायक ये किरणें वहाँ खड़े मेरे तन-मन से ही प्रस्फुटित होकर विकीर्ण हो रही हैं। वहाँ खड़ा मेरा ही अन्तराल भविष्य की परिकल्पनाओं में स्नात मुस्कराते हुए अपने ही चमकीले विचार या कल्पना-रूपी चिन्ह उस रूप में बाहर फेंक रहा है। वह अनुभव करने लगता है कि जैसे दूर-दूर तक फैल रहीं स्याह लहरों एवं शून्य अन्तरालों के मध्य में अवस्थित होकर, सारे संसार के यथार्थ के साथ अपनी आत्मा को सम्पृक्त करके, वहाँ खड़ा उस गहन-अन्धतमस में भी अपने आशा भरे व्यक्तित्व से उस चारों ओर परिव्याप्त गहन अन्धकार पर नीली किरणों का जाल विस्तार रहा है। कवि का तात्पर्य यह है कि उसकी आत्मा यथार्थ के धरातल पर समूची विश्व-जनता के साथ सम्पृक्त है और मानसिकताएँ उसके दुःख-दर्द को मिटाने के लिए भावी आशाओं का आलोक बिखरने का सपना देख रही है, प्रयत्न कर रही है ताकि मानवता का जीवन-पथ आलोकित हो सके।

इसके बाद अपने देश और उसके दलित-पीड़ित की व्यथा को अपनी अन्तःसंवेदनाओं को समेट, करुणापूर्ति स्वरों में उस सबकी मुक्ति की कामना करते हुए कवि कहता है–हमारी जिन्दगी अनेक प्रकार के प्रतीकों और बिम्बों का असंलग्न स्वरूप ही बनकर रह गई है। अर्थात् प्रतीकों-बिम्बों के आश्रय से ही मैं जीवन के सत्यों को व्यक्त कर पा रहा हूँ। यदि हम उन प्रतीकों-बिम्बों को व्याख्यायित करके देखें, इनका विवेचन-विश्लेषण करें, तो पायेंगे कि हमारा जीवन इनसे तनिक भी अलग या विशिष्ट नहीं है। हमारे अपने अर्थात् शोषित-उत्पीड़ित जनों के जीवन में दुःखकष्टों की धूलीक गहरे और भूरे विस्तार के सिवाए अन्य कुछ भी नहीं है अर्थात् हमारा जीवन कठिन रेगिस्तानी विस्तार और वातावरण के समान ही बनकर रह गया है। उस पर, हमारे जीवन के ऊपर तथाकथित समुन्नत-सभ्य, पर वस्तुतः शोषक-उत्पीड़क पूँजीवाद और साम्राज्यवाद की चादरें अर्थात् आवरण छाये-ढके रहा करते हैं। उनके अथाह अपार शोषण-युक्त धन-संचय के सपने हमारे अस्तित्व पर ही छाये-लहराते रहा करते हैं। गरीबों

और उपेक्षितों के दुःख निराशा से काले पड़ गये चेहरे सजीव प्राणवान प्रतीत न होकर प्रस्तर-मूर्तियों का स्मरण दिलाते हैं–अर्थात् सामान्य जनों का जीवन शोषकों-उत्पीड़कों के सपने के कारण जड़वत् निर्जीव-सा होकर रह गया है। जब मुझे किसी टूटी-फूटी गाड़ी के काले पड़ गये चक्र (पहिये) दिखाई देते हैं, तो उन्हें निहार जीवन-चक्र में पिस कर अवसन्न, निराश सामान्य जनों की जिन्दगी का रूप साकार हो उठता है। शोषण, वैषम्य, अन्याय एवं अत्याचारों के अनवरत धक्कों ने जिन बदनसीबों के जीवन-क्रम और अस्तित्व तक को तोड़-फोड़ कर रख दिया है, वे सब उभर कर साकार हो उठते हैं।

भारत की दयनीय दशा का स्मरण कर कवि की चेतना तड़फड़ा उठती है और वह जैसे करुणा से अविभूत सोचने लगता है–इन शोषित-पीड़ित लोगों का जीवन एक अनवरत कंटकित बबूल के समान बनकर रह गया है–अर्थात् शोषण-दलन और अवरोधों की विषमता के सिवाए इनके जीवन में कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह गया है। यह सब देख-सुनकर मेरा हृदय निराशा की अन्ध गलियों में भटक विवस्त और विक्षुब्ध होकर रह जाता है। देश के भूखे-प्यासे और इन कारणों से काले पड़े गये बच्चों को भीख माँगते देखकर, इधर-उधर अनाथ भटकते निहार कर मेरा मस्तिष्क चक्कर खाने लगता है। मेरे सामने समूचा ही भूखा-नंगा और पीड़ित अपना देश भारत साकार हो उठता है। उस की दुर्दशा का स्मरण मेरी अन्तश्चेतना को कचोटने लगता है। तब इन दुःखद स्थितियों और अनुभूतियों के परिणामस्वरूप मैं अपने-आपको सदा-सर्वदा अंधियारे घर-वातावरण में रह रहा पाता या अनुभव करता हूँ। उस अंधियारे वातावरण-घर में जल रही ढिबरी की लाल ज्योति पर अन्तश्चेतना में जलते सपने मंडराते रहा करते हैं। कभी इन स्थितियों, विषमताओं का अन्त भी होगा और भारत का जन-सामान्य सुख की साँस लेगा, इस प्रकार के सपने मेरी अन्तश्चेतना देखने लगती है।

विशेष–कवि का मन-मस्तिष्क विश्व की दलित-पीड़ित जनता के सन्दर्भ में ही अपने देश की दलित-पीड़ित जनता के भविष्य के लिए विशेष चिन्तित दिखाई देता है। वह उसकी सुख-समृद्धि की कसक-तड़प में व्याकुल होकर क्रान्ति और मुक्ति के सपने भी देखने लगता है।

दलित-पीड़ित व्यक्तियों के जीवन-चित्रण में कवि ने कोरी कल्पना से नहीं, बल्कि यथार्थ अनुभूतियों का आश्रय लिया है। समूचा वर्णन बड़ा ही मार्मिक, सजीव और यथार्थ का अभिभावक है।

बिम्ब-विधान में दृश्यमयता अधिक है, स्पृश्यता कम, समूचा बिम्ब बहुत ही करुण एवं मर्मस्पर्शी है। अभिव्यक्ति को सबल और प्रभावी बनाने के लिए कवि ने रूपकातिशयोक्ति अलंकार का सहारा लिया है।

(१०) कि मानो या न मानो...आग की बौछार।

शब्दार्थ–कर्ण-कर्कश=कानों को कठोर लगने वाले। भान=ज्ञान। भावोद्दण्ड=उद्दण्ड या तीव्र भाव भरे। दुर्घट=दुर्घटना पूर्ण, कठिनता से घटने वाले। विकट=भयानक, अद्भुत। ऊष्म=उष्ण, ओजस्वी। नभो-आलाप=आकाश से बातें करना, उच्च विचार करना। स्वरकार=गायक। साजिन्दे=वाद्य-यन्त्र बजाने वाले। आलाप=स्वर या राग अलापना, गाना।

प्रसंग–यह पद्य-खण्ड कविवर गजानन माधव मुक्ति बोध की प्रसिद्ध रचना 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', में संकलित लम्बी कविता 'चकमक की चिनगारियाँ' का दसवाँ भाग है। इस समूची कविता में कवि ने आज की सतही एवं अधूरी जिन्दगी का यथार्थ वर्णन किया है। साथ ही

इस प्रकार के जीवन से उत्पन्न ऊब एवं व्यर्थता-बोध का वर्णन किया है। उसे दूर करने का प्रयत्न करने की प्रेरणा देते हुए भविष्य को सजाने-संवारने का सपना भी देखा है। प्रस्तुत पंक्तियों या पद्य-खण्ड में यह व्यक्त करते हुए कि एक-न-एक दिन इस प्रकार के अधूरे, जड़ और सतही जीवन में भी क्रान्ति कर तूफ़ान सर्राटे भरा करता है, इस रूप में भावी की ओर संकेत करते हुए कवि मुक्तिबोध कहते हैं :

व्याख्या–कोई इस तथ्य को स्वीकार करे अथवा नहीं, किन्तु यह एक प्राकृतिक नियम एवं सत्य है कि कभी-न-कभी अधूरे एवं सतही कहे-समझे जाने वाले जीवन में भी जगत् द्वार मान्य, परिचित एवं काम्य परिवर्तन या क्रान्ति के तूफान आया ही करते हैं। क्रान्ति के उन तूफ़ानों से धूल के धूसरित और कर्ण-कटु आवेग कवियों के गद्य-पद्य मय या ऊबड़-खाबड़ से प्रतीत होने वाले छन्दों में अभिव्यंजित आकुल-पीड़ित व्यक्तियों की इच्छाओं-कामनाओं का यथार्थ दमन या अहसास समूचे विश्व के जनों के कानों को अवश्य करा जाया करते हैं। अर्थात् जगत् के अवश्यम्भावी क्रान्ति का ज्ञान करा दिया करते हैं। जो लोग जीवन में अनेक प्रकार के भयावह परीक्षण-अनुभव करते हुए जगत की पीड़ा से भर जाते हैं; वे क्रान्ति का तूफान लाने वाले नव्य-भव्य सिद्धान्तों, मूल्यों-मानों का अनुसंधान कर, उन उद्दण्ड तूफानों से मन मिलाकर उनमें उद्दाग्र–अर्थात् दुर्धर्ष भाव भर दिया करते हैं। अर्थात् पूर्णतया उन सबका हार्दिक समर्थन करते हैं। वे लोग अघटनीय विकट और दुर्धर्ष घटनाओं का समूचा बिम्ब अपने स्वर-संगीत से जगत के समक्ष स्वरित एवं रूपायित कर दिया करते हैं। भावी की विकट घटनाओं की ओजस्विता अर्थात् अर्थवत्ता को अपनी स्पष्टता में भी भाँपकर, अपना कर अपने उच्चालापों के द्वारा आकाश तक अर्थात् चारों ओर मुखरित कर दिया करते हैं। उनके इस कार्य में उनके मित्र, उनके सहयात्री और सहकर्मी गीतकार, वादक और साजिन्दे आदि सभी उनसे सहयोग करते हैं। परिणामतः भावी क्रान्ति का स्वर और भी अधिक प्रखरता के साथ आकाश में, सारे वातावरण में गुंजायमान होने लगता है। तब विचारों के उभार के उस वातावरण में सभी गायक और उनके साथी अपने और वाद्य-यंत्रों की स्वर-गति इतनी उच्च-तीव्र कर दिया करते हैं कि उनके वाद्यों के स्वर तबलों की थाप और ढपाढप, तम्बूरे की तुम-तुम-लोक ध्वनि चतुर्दिक उच्च स्वरों में शब्दायमान होकर दिशाओं को कंपा दिया करती है। कवि का तात्पर्य यह है कि समय की नाड़ी-गतिं को पहचान कर साहित्य-संगीत आदि सभी कलाएँ लोक-जीवन के हित में अपने-अपने माध्यमों से क्रान्ति का समर्थन कर, उसके स्वरों को चतुर्दिक फैलाने में एक साथ जुड़ जाया करते हैं।

उपरोक्त सन्दर्भों में ही कवि आगे कहता है–जगत्-जीवन द्वारा अनवरत भोगी जा रही उत्पीड़क वेदना के क्षणों में उभरने वाले सम्मिलित स्वर हवा में घुल-मिलकर जब चारों ओर मुखरित होने लगते हैं, तो उनके प्रभाव से शोषण, साम्राज्यवाद और पूँजीवाद की प्रतीक ऊँची-ऊँची, भव्य बिल्डिगें प्रकम्पित हो उठती हैं। वह गूँज उनकी अन्तरात्मा तक में गूँजकर उसे हिलाने लगती हैं। वह प्रभाव क्रमशः इस सीमा तक वृद्धि पाता है कि उच्च भवनों की दीवारों और उनमें लगे पत्थरों तक में क्रान्ति का तूफानी स्वर गुंजित होने लगता है। अर्थात् क्रान्ति के सामूहिक तूफानी स्वर शोषण आदि के प्रतीक राजभवनों को हिला दिया करते हैं। उस सारे प्रभाव के परिणामस्वरूप चारों ओर धूम मच जाती है। क्रान्ति की तूफानी हवाओं से आहत होकर राजभवनों के चौखटे उखड़ने लगते हैं, खिड़कियाँ भड़भड़ा जाती हैं और बदरंग एवं बेडौल हो चुके किवाड़-दरवाजे परस्पर टकरा कर नाचने बजने लग जाते हैं। इतना ही

नहीं उनके आस-पास बाहर उगे वृक्ष—अर्थात् उनके रक्षक और शोभा-वर्द्धक भी अपनी जमी जड़ों पर तूफानी हवाओं के दबाव से भयावह नृत्य-सा करने लगते हैं। परिणामतः एक विचित्र से गद्यात्मक गीत की संगीतात्मक सृष्टि होने लगती है। अर्थात् जीवन के सामान्य जनों से सम्बन्धित यथार्थ काव्य-गीत रचे-गाए जाने लगा करते हैं।

इस तूफान के जो क्रान्ति का प्रतीक है, परिणाम की परिकल्पना करते हुए कबि आगे फिर कहता है—इस क्रान्ति-तूफान के परिणामस्वरूप लगता है जैसे आज अत्याचारियों का शासन अचानक ही समाप्त हो गया है। उस अत्याचारी शासन की स्मृतियों तक को मिटा डालने के लिए लोग सड़कों पर आ जाते हैं और वहाँ साम्राज्यवादियों के अवशेषों—अर्थात् बचे-खुचे साधनों सैनिकों के साथ खुलकर सड़कों पर मुठभेड़ होने लगती है। चीखती-चिल्लाती जनता पत्थरों की बरसात करने लगती है। उधर अत्याचारी शासक उस जन-आक्रोश से आतंकित होकर, उसका दमन करने के लिए अपनी बन्दूकों, रायफलों से नारंगी रंग जैसी तेज-तर्रार गोलियों की बौछारें करने लगते हैं। उन उभरती-बरसती गोलियों का भयावह स्वर चारों ओर गुंजायमान होने लगता है।

भाव यह है कि एक-न-एक दिन अत्याचार से पीड़ित जनता वास्तविक जन-हित-चिन्तकों का सम्बल पाकर, तूफानी रूप में अत्याचारियों से छुटकारे के लिए क्रान्ति-मार्ग पर उठ खड़ी होती है। इससे प्रकम्पित अत्याचारी का दमन-चक्र भी बढ़ जाया करता है। दोनों एक प्रकार की अनिवार्यता है।

विशेष—कवि ने क्रान्ति को तूफान आने के प्राकृतिक नियम के समान आवश्यक बताया है। वह मान कर चला है कि अब चारों ओर घोर उत्पीड़न के कारण क्रान्ति के लिए उपयुक्त वातावरण बन चुका है, अतः साहित्य और कला के सभी क्षेत्रों में निरत लोगों को उसके समर्थन में अपना स्वर मुखरित करना चाहिए, ताकि उसे सम्बल प्राप्त हो सका है।

समूचे वर्णन में एक विरोधाभास-सा भी स्पष्ट है। एक ओर तो कवि तूफान के प्रभाव के रूप में क्रान्ति के अनिवार्य परिणामों का वर्णन करता गया है, जबकि इसकी दूसरी ओर उसके अन्त में साम्राज्यवाद के दमन-चक्र का चित्र भी उपस्थित कर दिया है। लगता है, वस्तुतः कवि इस बात में आगाह करना चाहता है कि क्रान्ति होने पर पक्ष विपक्ष में किस प्रकार की क्रिया-प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं।

जो हो, समूचे वर्णन में एक विशिष्ट प्रभाव, आशा और विश्वास का वातावरण उत्पन्न करने की पूर्ण क्षमता है। प्रभविष्णुता के लिए कवि ने दृश्य श्रव्य बिम्बों की अन्तः योजना की है। अनुप्रास और रूपक अलंकारों का सहारा भी लिया है। भाषा भावना का तादात्म्य एवं प्रवाहमयता विशेष उल्लेख्या हैं।

(११) मुझ पर क्षुब्ध बारूदी..चाहता हूँ, सच।

शब्दार्थ—क्षुब्ध=क्रुद्ध। झार=झड़ी, बौछार। तप्त मुख=तपा हुआ या उद्दीप्त चेहरा। धूम=धुआँ। भविष्यत् युद्ध=भविष्य बनाने के लिए किए जा रहे संघर्ष। रत=लगे हुए, लीन। तुंग=ऊँची, प्रलम्ब। कृत्रिम=बनावटी। उमग कर=उमड़ या उत्साहित होकर। व्यक्तित्वान्तरित होकर=दूसरा व्यक्तित्व या शरीर धारण कर।

प्रसंग—यह पद्य खण्ड कविवर गजानन माधव मुक्ति बोध की लम्बी कविता 'चकमक की चिनगारियाँ' का ग्यारहवाँ भाग है। इस कविता में आज के अधूरे और सतही जीवन से छुटकारा पाने के लिए कवि ने क्रान्ति का आह्वान भरा सन्देश दिया है। कवि चाहता है कि

वह दिन शीघ्र आवे कि जब समूची मानवता सब प्रकार के शोषण उत्पीड़न से मुक्त होकर सामूहिक, वर्गहीन, समुन्नत जी पाने में समर्थ हो सके। प्रस्तुत पद्य खण्ड में अपनी इसी आन्तरिक इच्छा का चित्रण एवं समापन करते हुए कवि मुक्तिबोध विह्वल स्वरों में कह रहे हैं :

व्याख्या–जब क्रान्ति की इच्छुक जनता के तीव्र आन्दोलनों को कुचलने के लिए शासन की ओर से गोली बारूद की वर्षा की जाती है, तब उससे उठने वाले बारूदी गन्ध से भरे धुएँ की बौछारें मेरे मुँह पर पड़कर उसे जैसे बन्द कर देने की चेष्टा करती हैं। तब भी मेरा मुँह बन्द नहीं हो पाता। अर्थात् क्रान्तिकारियों के प्रति सहानुभूति दिखाने और उनके गीत गाकर उन्हें सम्बल प्रदान करने की मेरी काव्यमय चेष्टा में अन्तर नहीं आ पाता। प्रतिक्रिया स्वरूप मेरे मन में उन लोगों के प्रति और भी अधिक प्यार और सहानुभूति के भाव उमड़ने लगते हैं, जो कि बारूदी धुएँ अर्थात् गोला बारी का सामना करते हुए, संवालाए जाते हुए भी उस सब के सामने डटकर मुकाबला कर रहे हैं। आज के मेरे इस विपत्ति और शोषण की धूल धुएँ से धूमिल जगत् के भविष्य को बनाने की दिशा में अग्रसर हैं। उनके प्रति मेरा मन मस्तिष्क सहज ही प्रेम और सहानुभूति की भावना से भर कर उनके संघर्ष को अपनी कविता में सजाने लगते हैं।

अपनी अन्तःक्रिया को और भी अधिक स्पष्ट सशक्त शब्दों में व्यक्त करते हुए कवि आगे कहता है–मैं अपनी लम्बी पर फिर भी अधूरी रह जाने वाली कविता में अनेक प्रकार के प्रश्नों और उत्तरों की जो अनेक प्रकार की लम्बी चौड़ी प्रतिभाएँ गढ़ता और खड़ी किया करता हूँ, स्वयं ही तदनुकूल सक्रियता के अभाव में उन्हें चेतना के हथौड़े मार-मार कर ताड़ भी डाला करता हूँ। वह इस कारण कि मेरा मन यह अनुभव करता है कि कविता में यथार्थ और सक्रियता से विरहित कल्पना के बड़े-बड़े प्रश्न उठाना, फिर उनके उत्तर खोजना सब व्यर्थ है। एक प्रकार की प्रवंचना और कृत्रिमता ही है। उनमें व्यापारिक जीवन को दे सकने के लिए कुछ है ही नहीं। परिणामतः मेरी दिलचस्पी केवल इस बात में है–और हमारी वास्तविक समस्या भी केवल एक है, यह है–कि सभ्य कहे जाने वाले नगरों और ग्रामों में निवास कर रहे सभी जातियों वर्गों के मानव, सब प्रकार के शोषण, अन्याय, अत्याचार से पूर्ण मुक्त होकर, सुन्दर सुखद जीवन व्यतीत कर पाने का उचित अवसर कब प्राप्त कर पाएँगे। मात्र इस बात और समस्या के कविता में अन्य कुछ वर्णन करना, कहना बनावट और धोखा है।

मानव मात्र के शोषण रहित, सुखी समृद्ध जीवन की कल्पना को साकार करने, देखने की उत्कट अभिलाषा व्यक्त करते हुए अन्त में कवि फिर कहता है–मैं अपनी लम्बी, पर अधूरी रह गई कविता में उत्साह से भर कर एक बार फिर परिवर्तित व्यक्तित्व में जन्म लेना चाहता हूँ–अर्थात् वस्तु जगत के सत्यों से अपनी अधूरी कविता और जीवन को नए सिर से सजाना संवारना चाहता हूँ। ताकि मैं नए सिर से जीवन को समझ सकूँ, उसे पूर्ण बनाने में सफल होकर, स्वयं भी पूर्ण मानवीयता का जीवन जी सकूँ। सच। मेरी यही एकमात्र अभिलाषा है।

भाव यह है कि कविता, साहित्य, कला आदि के सर्जकों के लिए पुनर्विचार की आवश्यकता है कि वे व्यवहार जगत् के प्रति अपने दायित्वों का निर्वाह कहाँ तक कर सके हैं ? जीवन समाज के प्रति पूर्ण दायित्व निर्वाह में ही कला साहित्य और इसके सर्जकों की सार्थकता है।

विशेष–सिद्धान्त के स्तर पर कवि साहित्य और कला का लक्ष्य अन्तःबाह्य-सम्पृक्त होकर मानव-जीवन को सुखद-सुन्दर बनाना ही मानता है। जीवन के सत्य-यथार्थ से कटे साहित्य-कला को इसी कारण कवि ने छल और प्रवंचना माना है।

कवि ने जीवन में किए जाने वाले सभी प्रकार के प्रयासों का लक्ष्य भी एक ही माना है और वह है–शोषण-मुक्ति, मानवता के लिए सुखद जीवन। स्पष्टतः कवि की अन्तःदृष्टि नकारात्मक न होकर सकारात्मक ही है। निम्न पंक्तियों से उपरोक्त समूचे तथ्य उजागर हो जाते हैं।

"समस्या एक–
मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में
सभी मानव
सुखी, सुन्दर व शोषण-मुक्त
कब होंगे ?"

इसे हम समूची कविता का केन्द्रीय भाव, मूल संवेद्य, कथ्य, कथानक आदि सभी कुछ कह सकते हैं।

दृश्य एवं श्रव्य बिम्बों के उभार के लिए कवि ने सीधी-सपाट भाषा-शैली का आश्रय स्यात् पूरी कविता में इसी एक पद्य-खण्ड में लिया है।

(१२) नहीं होती, कहीं भी खतम..............................लिपट जाती है।

शब्दार्थ–आवेग-त्वरित=शीघ्रगामी भावावेगों के समान। काल-यात्री=सब कालों में संचरणशील। कर्ता=रचयिता, सर्जक। धाता=विधाता, कर्ता। दुहिता=बेटी। आगमिष्यत्=भविष्य। जनचरित्री=जन-जीवन के चरित्र से सम्पृक्त।

प्रसंग–ये पंक्तियाँ कविवर मुक्तिबोध के 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' नामक काव्य-संकलन में संकलित लम्बी कविता 'चकमक की चिनगारियाँ' का बारहवाँ या अन्तिम खण्ड अथवा भाग है। इस लम्बी कविता में आज की अधूरी और सतही जिन्दगी का तथ्यपूर्ण चित्रण करने के बाद कवि ने उसे क्रान्तिकारिता का आश्रय लेकर बदल डालने की प्रेरणा दी है। साहित्य, कला, ज्ञान-विज्ञान सभी को इस परिवर्तन की दिशा में जुट जाने का सन्देश दिया है। कविता या कला का कभी भी अन्त नहीं हुआ करता। उसमें परिवर्तनशील मानव-मूल्यों के कारण कभी पूर्णता भी नहीं आती। प्रत्येक युग-परिवेश में, उसमें नये आयाम जुड़ते रहा करते हैं। स्वयं कवि ने भी इसी धारणा के अन्तर्गत कुछ नव्य और युगानुकूल आवश्यक आयामों को जोड़ने का ही यहाँ प्रयास किया है प्रस्तुत पंक्तियों में इन विचारों, भावों को व्यक्त करते हुए कविवर मुक्तिबोध कह रहे हैं।

व्याख्या–कविता का अन्त कभी किसी भी स्थिति या युग में नहीं हुआ करता। भावोद्वेगों से भरे, सब कालों में समान रूप से संचरणशील 'काल-यात्री' के समान कविता की अन्तःयात्रा हमेशा जारी रहा करती है। कविता व्याप्त भावावेग नित नये रूप से अभिव्यंजित होने के लिए व्यस्त रहा करता है, अतः उसकी पूर्णता या समाप्ति का कभी प्रश्न ही नहीं उठता। समय-स्थिति के अनुरूप उसके आयाम बदलते रहा करते हैं। कविगण अन्तःबाह्य का सामंजस्य करके युगानुकूल भावावेग में उसे व्यक्त करने को विवश हुआ करते हैं।

कोई एक कवि-व्यक्ति कविता का सर्जक न होकर युग-जीवन से मिलने वाली संवेदना ही उसकी सर्जक हुआ करती है, इस आलोक में, अपनी कविता के बारे में कवि आगे फिर कहता है–अपनी कविता का सर्जक पिता या रचयिता मैं उपरोक्त कारण से ही अपने-आपको कभी स्वीकार नहीं करता। कविता को मैं कभी मात्र अपनी बेटी भी नहीं समझता-मानता। वह तो अपने आप में स्वतंत्र, स्वतः स्फूर्त, विश्व का विधान और नियमन करने वाली शास्त्रीय

शक्ति है। अर्थात् प्रयत्न करने से कविता नहीं बनती। वह तो अन्तः बाह्य अनुभवों के समंजन से स्वयं ही भावावेग के क्षणों में, शब्दावरणों में प्रगट होकर, रूपायित या विनिर्मित हो जा करती है। कविता का स्वभाव और चरित्र, स्वरूप आदि सभी कुछ जन-जीवन पर आधारित हुआ करता है। उसमें सब-कुछ भाव-विचार सामग्री लेकर वह अपने स्वरूप का विधान तो करती ही है, जग-जीवन के भविष्य का विधान भी किया करती है। तुम्हारे अर्थात् जगत्-जीवन और वहाँ विद्यमान सचेतन काव्य-प्रेमियों के कारण ही कोई कविता नवीन अनुभव से संवेदनाओं, प्रकरणों एवं व्यवहार-जगत् के नये अध्यायों आयामों से जुड़कर काव्यगत अर्थ नवीन भास्वरता को लेकर चमक उठा करता है। जबकि कवि को ही कारणभूत मान लेने, कविता के सन्दर्भों को न पहचान पाने के कारण उसका अर्थ, भाव-विचार-सौन्दर्य अस्फुट-संकुचित हो या रह जाया करता है।

अपनी स्थिति और व्यक्तित्व को स्पष्ट करते हुए कवि आगे, अन्त में कहता है–विचारों में तल्लीन होकर, अपनी आधी बची बीड़ियों को दुबारा सुलगाकर, उनके कश लेते हुए, जब मैं भाव-विचार या कल्पना की सीढ़ियां एक-के-बाद एक चढ़ता जाता हूँ, तब केवल निखरते चाँद के तल तक ही पहुँच पाता हूँ, अर्थात् केवल माधुर्य एवं सुखों की कोरी कल्पना ही कर पाता हूँ। तब अचानक जीवन के यथार्थ से भरी, जीवन ने विद्रपि से रंजित और उन सबसे छुटकारा पाने की प्रेरणा देने वाली कविता मुझसे लिपट जाया करती है। अर्थात् अधूरे जीवन का यथार्थ बोध ही मुझे ही कविता रचने के लिए सदा-सर्वदा अनुप्राणित करता रहता है।

भाव यह है कि कविता की सर्जना स्वतः स्फूर्त ढंग से ही हुआ करती है। चाँद लोक में घुमाने वाली कोरी कल्पना वास्तविक कविता नहीं। वास्तविक कविता का जन्म तो जीवन के यथार्थ अन्तःबाह्य का मन्थन होने के बाद ही होती है।

विशेष:-कवि के व्यक्तित्व का प्रतिफलन यहाँ एकदम स्पष्ट है। अन्तिम पंक्तियों में वह और भी स्पष्ट हो गया है।

इस पद्य-भाग को हम कवि के साथ-साथ विचारक मुक्तिबोध के काव्य-सम्बन्धी परिशोधित विचारों-सिद्धान्तों का स्पष्ट निदेशक भी कह सकते हैं।

कवि ने परम्परागत मूल्यों-मानों में से भी समसामयिक चेतनाओं का महत्व प्रबलतम एवं स्वीकार्य माना है।

कवि ने यह भी स्पष्ट किया है कि किसी कविता को पढ़ते समय सर्जक कवि की सन्दर्भित मानसिकता के साथ तादात्म्य भी आवश्यक है। तभी वास्तविक अर्थ-भाव-बोध सम्भव हुआ करता है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार कवि ने अपनी कविता के सम्बन्ध में लोगों द्वारा व्यक्त विचारों का उत्तर भी दिया है।

'अधूरी बीड़ियाँ सुलगा' पद कवि के व्यक्ति-जीवन की विवशता और असमर्थता का परिचायक है।

भाव-बिम्ब यहाँ अधिक सजीव हैं। उनमें दृश्यमयता और स्पृश्यता के तत्व भी निश्चय ही विद्यमान हैं। कवि ने सशक्त और प्रभावी अभिव्यक्ति के लिए उल्लेख और मानवीकरण जैसे अलंकारों का प्रयोग बड़ी कुशलता से किया है।
